निबन्ध-कला

संशोधित और परिवर्द्धित संस्करण

लेखक
श्री राजेन्द्रसिंह गौड़, एम० ए०

सम्पादक
श्री रामनाथ 'सुमन'

प्रकाशक
साधना-सदन
इलाहाबाद

साढ़े तीन रुपये

प्रकाशक : साधना-सदन, इलाहाबाद

छठाँ मुद्रण : सितम्बर १९५०

सेवा प्रेस, ९८, हिवेट रोड, प्रयाग

श्रद्धेय गुरुदेव

रायबहादुर श्री भैरवनाथ झा, बी० एड्०

को सादर समर्पित

—राजेन्द्र—

निवेदन

निबन्ध गद्य-साहित्य का मुख्य अंग है। अंग्रेजी-साहित्कारों ने साहित्य के इस अंग की प्रशंसनीय अभिवृद्धि की है। कारलाइल, मेकाले, हेज़लिट, स्टीवेनसन-इत्यादि के निबन्ध प्रत्येक देश में आदर और सम्मान की दृष्टि से पढ़े जाते हैं। इन निबन्धकारों ने साधारण-से-साधारण विषय पर बड़े रोचक निबन्ध लिखे हैं! इन निबन्धों की तुलना में हिन्दी का निबन्ध साहित्य अभी अधकचरा है। आचार्य पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी से लेकर अबतक जितने निबन्ध लिखे गये हैं उनमें केवल आलोचनात्मक निबन्धों की ही प्रधानता है। मनोवैज्ञानिक निबन्धों का तो एक प्रकार से अभाव ही है। ऐसी दशा में आवश्यकता है निबन्ध-साहित्य को उन्नत करने की और यह तभी हो सकता है जब निबन्ध कला-सम्बन्धी उत्तमोत्तम पुस्तकें सुलभ हों। प्रस्तुत पुस्तक इसी आवश्यकता की पूर्ति के विचार से लिखी गयी है।

इस पुस्तक में विद्यार्थियों की कठिनाइयों का ध्यान रखकर निबन्ध-सम्बन्धी प्रत्येक विषय को समझाने की चेष्टा की गयी है। एक निबन्धकार केलिए जिन-जिन बातों का जानना आवश्यक है उन सबका इसमें विस्तार-पूर्वक समावेश किया गया है। उपयोगिता की दृष्टि से समस्त पुस्तक दो भागों में विभाजित की गयी है। पहले भाग में भाषा, उसका उत्थान तथा पतन, संसार की भाषाओं में हिन्दी भाषा का स्थान, हिन्दी-साहित्य का विकास, शैली और उनके भेद, निबन्ध और उनके लिखने के ढंग की विवेचना की गयी है। दूसरे भाग में शब्द और वाक्यों के सम्बन्ध में विचार प्रकट किये गये हैं। व्याकरण-सम्बन्धी दोषों से बचने के उपाय भी बताये गये हैं और मुहाविरों तथा कहावतों के उचित प्रयोग पर भी प्रकाश डाला गया है। अन्त में चिह्नों की योजना पर विचार किया गया है। इस प्रकार आदि से अन्त तक पुस्तक को विद्यार्थियों के लिए उपयोगी और लाभदायक बनाने की पूरी चेष्टा की गयी है।

किसी विषय पर निबन्ध लिखना सरल काम नहीं है। यह अभ्यास

और साधना से आता है। इसलिए मैं यह दावा नहीं कर सकता कि पुस्तक का आदि से अन्त तक अध्ययन करने के पश्चात् विद्यार्थी निबन्धकार हो जायगा, परन्तु शिक्षक होने के नाते इतना मैं अवश्य कहूँगा कि इस पुस्तक के अध्ययन से विद्यार्थियों की बहुत-सी कठिनाइयाँ सुलझ जायँगी और उन्हें अपने निबन्ध की रूप-रेखा तथा अपने विचारों का क्रम निश्चित करने में सहायता मिलेगी।

अन्त में मैं उन लेखकों के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ जिनकी रचनाओं से सहायता लेकर मैं इस पुस्तक को यह रूप देने में समर्थ हो सका हूँ। व्याकरण-सम्बन्धी विषयों के प्रतिपादन में मैंने व्याकरणाचार्य पं० कामताप्रसाद गुरु की पुस्तक हिन्दी व्याकरण से पूरी सहायता ली है। शैली की रूप-रेखा निर्धारित करने में मैंने पं० करुणापति त्रिपाठी की पुस्तक 'शैली' से सहायता ली है। इसलिए मैं उक्त विद्वान हिन्दी लेखकों का हृदय से आभारी हूँ। मैं हिन्दी के सुप्रसिद्ध लेखक श्री रामनाथ सुमन का भी हृदय से कृतज्ञ हूँ जिनकी देख-रेख में इस पुस्तक को यह रूप मिल सका है। वास्तव में यह उन्हीं के स्नेह और प्रोत्साहन का फल है।

बसन्त पञ्चमी सं० २०००]

दूसरे संस्करण की भूमिका

आज निबन्ध-कला का दूसरा संस्करण हिन्दी पाठकों के सामने उपस्थित करते हुए मुझे बड़ा हर्ष हो रहा है। प्रस्तुत संस्करण में कुछ बातें बढ़ा दी गयी हैं। आशा है, विद्यार्थियों को उनसे अधिक सहायता मिलेगी। कुछ अनावश्यक विषय निकाल भी दिये गये हैं। इस प्रकार यह संस्करण पहले से अधिक उपयोगी बना दिया गया है। मुझे विश्वास है कि हिन्दी प्रेमी इसे अपनाकर मुझे पुनः सेवा का अवसर प्रदान करेंगे।

भगवत क्वाटर्स,
अलरगुइया, प्रयाग
बसन्त पंचमी सम्वत् २००२

—राजेन्द्रसिंह गौड़

विषयानुक्रम

प्रथम खण्ड

द्वितीय खण्ड : निबन्ध-रचना-विधान

निबन्ध-कला

प्रथम खण्ड

भाषा, साहित्य, शैली तथा निबन्ध का आलोचनात्मक विवेचन

अध्याय १

भाषा की उत्पत्ति, विकास और पतन

भाव प्रदर्शन प्रत्येक प्राणी का स्वाभाविक गुण है; परन्तु उसे अपना भाव प्रकट करके ही सन्तोष नहीं होता। वह दूसरों के भावों से भी परिचित होना चाहता है। इस प्रकार उसमें आत्म-प्रकाशन की जितनी इच्छा रहती है, उतनी ही दूसरों के भावों तथा विचारों से परिचय प्राप्त करने की जिज्ञासा भी रहती है। यदि उसमें यह जिज्ञासा न हो; यदि वह अपने भाव प्रदर्शन से ही सन्तुष्ट हो जाय; और दूसरों के मनोगत भावों और विचारों से किसी प्रकार का सम्बन्ध न रखे, तो उसका संसार में रहना दूभर हो जाय। इसलिए विचार-विनिमय भी, उसका दूसरा स्वाभाविक गुण है। पशु-पक्षी और मनुष्य में ये दोनों गुण समान रूप से पाये जाते हैं।

मनुष्य का स्वाभाविक गुण

अब सहज ही प्रश्न उठता है कि प्राणि-मात्र में विचारों का आदान-प्रदान किस प्रकार होता है। ऐसा कौन-सा साधन है जिसके द्वारा एक का भाव दूसरा समझ लेता है। वैज्ञानिकों का कहना है कि सृष्टि के प्रारम्भिक युग में, जब मनुष्य की दशा भी जानवरों की-सी थी, जब उनका जीवन भी क्षुधा-तृप्ति, विषय भोग और शरीर की कतिपय प्राकृतिक आवश्यकताओं तक परिमित था; जब मनुष्य बिलकुल अविकसित, अनपढ़ अवस्था में था, और विचार-शक्ति तथा भावना मन्द थी, तब विचार-विनिमय शरीर-सञ्चालन द्वारा होता था। मुख की भाव भङ्गियों, हाथों की चेष्टा, भ्रू-सञ्चालन, आँखों के हेर फेर तथा शरीर के अन्य अवयवों के परिचालन से एक का भाव दूसरा समझ लेता था। यह

विचार-विनिमय का साधन

बोलता था; परन्तु उसका बोलना एक प्रकार की शारीरिक क्रिया ही थी। एक गूँगा जैसे अपने भाव अथवा विचार दूसरों पर प्रकट करता है, बहुत कुछ वही हालत थी। पशु और मनुष्य की बोली में अन्तर तो था, पर अधिक नहीं; दोनों में ध्वनि मात्र थी। कहने का तात्पर्य यह कि असभ्यता के उस अन्धकार-युग में, भावों तथा विचारों के आदान-प्रदान में, शरीर-सञ्चालन अथवा संकेत का ही प्रमुख स्थान था। उनकी बोली भी संकेत अथवा इशारे का ही कार्य करती थी। समय बीतता गया, और समय के साथ मनुष्य तथा उसके जीवनक्रम में भी विकास होता गया। आज तो हम उसमें आश्चर्यजनक परिवर्तन पाते हैं, इतना कि आज का मनुष्य अपने सुदूरवर्त्ती गत पूर्वजों से बिलकुल भिन्न हो गया है।

मानव की श्रेष्ठता

इसमें सन्देह नहीं कि सृष्टि के शैशव काल में, पशु और मनुष्य के जीवन में, कोई उल्लेखनीय भेद नहीं था, फिर भी मनुष्य पशु से श्रेष्ठ था। उसमें पशु की अपेक्षा विचार-शक्ति अधिक विकसित थी। उसमें अपने विचारों को कार्यरूप में परिणत करने की क्षमता भी अधिक थी। पशुओं की अपेक्षा उसके कार्य-कलाप अधिक स्पष्ट और संयत होते थे। उसके संकेत भावपूर्ण थे और उनमें एक सीमा तक परिपक्वता थी। वह अपनी आवश्यकताएँ बढ़ा सकता था। अपनी इच्छाओं में वृद्धि कर सकता था और उन्हें पूरा करने के लिए साधन भी प्रस्तुत कर सकता था। भावों और विचारों में विकास की शक्ति निहित थी। इसलिए, थोड़े ही समय में, मनुष्य पशुओं का साथ छोड़ कर आगे बढ़ गया। धीरे-धीरे वह सभ्य हो चला। उसके कार्यों में संयम की शक्ति बढ़ती गयी, और भावों में अपेक्षाकृत स्पष्टता आती गयी। इस प्रकार, धीरे-धीरे विचार विनिमय में शरीर-सञ्चालन तथा संकेत के स्थान पर एक प्रकार की स्पष्टता और संयत बातों का—एक प्रकार की अविकसित भाषा का—प्राधान्य हो गया।

परन्तु भाषा कैसे बनी, यह एक विचारणीय विषय है। इस सम्बन्ध में भाषा-शास्त्रियों के भिन्न-भिन्न मत हैं। कोई भाषा को ईश्वरदत्त मानता है, कोई मनुष्य-कृत। किसी का कहना है कि भाषा विकास का परिणाम है। मनुष्य के साथ साथ भाषा उत्पन्न हुई है और उसके साथ ही उसका विकास हुआ है। अध्यापक मैक्समूलर का कथन है कि एक प्रकार की स्वाभाविक आन्तरिक प्रेरणा विचारों को भाषा का रूप देती है। दोनों में कुछ-न-कुछ-सत्य का अंश अवश्य है। ईश्वर-दत्त वह इसलिए है कि इस जगत् को समस्त वस्तुएँ ईश्वर की देन हैं। उसने मनुष्य को बुद्धि दी है और उसके साथ ही उसे बोलने की शक्ति से भी विभूषित किया है। बोलना प्रत्येक मानव का स्वाभाविक गुण है। परन्तु, केवल बोलने से भाषा का निर्माण नहीं होता। पशु-पक्षी बोलते हैं और मनुष्य भी; पर दोनों की बोलियों में महान अन्तर है। एक की बोली अव्यक्त होती है; दूसरे का स्पष्ट। एक अपने सूक्ष्मतम भावों को व्यक्त नहीं कर सकता और दूसरा उन्हें व्यक्त करने की क्षमता रखता है। यद्यपि भाषा के व्यापक अर्थ में दोनों की बोलियों को स्थान दिया जा सकता है, तथापि भाषा के जिस रूप को लेकर हम यहाँ उसकी उत्पत्ति की चर्चा कर रहे हैं, उसका सम्बन्ध केवल मनुष्यों की भाषा से है; उस भाषा से है जो विकसित हो चुकी है और जिसका स्वरूप निश्चित हो चुका है। इसलिए भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में, उसे केवल ईश्वर दत्त कह देने से काम नहीं चलेगा। हमें उसका पता लगाने के लिए अन्त से आदि की ओर जाना होगा। हमें यह देखना होगा कि हम अपने वाक्यों में जिन शब्दों का प्रयोग करते हैं वे हमें कैसे प्राप्त हुए। इस प्रकार भाषा की उत्पत्ति का कुछ ज्ञान शब्दों की उत्पत्ति पर विचार करने से हो सकता है। प्रसिद्ध वैयाकरण स्वीट ने भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अपना जो मत निर्धारित किया है उसमें सब बातों का सार आ जाता है। उनका

भाषा की उत्पत्ति

कहना है कि मनुष्य के आदिम शब्द तीन प्रकार के थे—१. अव्यक्तानुकरण-मूलक, २. मनोभावाभिव्यंजक और ३. प्रतीकात्मक। पहली श्रेणी में काक, कोकिल, तथा हिन्दी के भन-भन, हिन-हिनाना; दूसरी श्रेणी में हाय-हाय, अरे, ओह, दुरदुराना और तीसरी श्रेणी में झरझर, टप टप, सर-सर इत्यादि शब्द आते हैं। जिस समय भाषा बनी होगी उस समय ऐसे ही शब्दों का प्राधान्य रहा होगा और उन्हीं का आधार मानकर भाषा के विकास का क्रम निश्चित हुआ होगा।

हमने भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जो मत निश्चित किया है उसके साथ-साथ हमें यह भी याद रखना चाहिये कि भाषा का आरम्भ

वाक्य से भाषा का आरम्भ

वाक्यों से हुआ है। हम वाक्यों में ही सोचते हैं, वाक्यों में ही बोलते हैं। हमारे चिन्तन की चरम सीमा वाक्य ही है। इसलिए भाषा का आरम्भ शब्दों से न होकर वाक्यों से हुआ है। वाक्य छोटा भी हो सकता है और बड़ा भी। यह एक अक्षर का हो सकता है; जैसे आ; खा; हाँ और अनेक शब्दों से भी बन सकता है। बच्चे वाक्यों में ही बोलना सीखते हैं। इसी सिद्धान्त के आधार पर यह कहा जाता है कि प्रत्येक सार्थक स्वतंत्र शब्द का आरम्भ वाक्यों से हुआ है। हमें यह भी याद रखना चाहिये कि शब्दों की उत्पत्ति और उनके विकास एवं विस्तार में उपचारों अथवा रूपकों का भी हाथ रहा है। इसका साधारण अर्थ है ज्ञात से अज्ञात की व्याख्या करना। हिन्दी भाषा में इस प्रकार बने हुए कई शब्द मिलते हैं। रम् धातु का ऋग्वेद में जो अर्थ है वह आज मनोरम अथवा रमण शब्द से सिद्ध नहीं होता। यह उपचार ही का प्रसाद है।

भाषा और उसके भाण्डार की उत्पत्ति पर विचार करते हुए यह स्पष्ट कर दिया गया है कि मनुष्य अपने मनोगत भावों तथा विचारों

भाषा का प्रयोजन

को व्यक्त करने के लिए सार्थक भाषा से काम लेता है; परन्तु वह निरर्थक भाषा भी बोल सकता है। वह ऐसे शब्दों और वाक्यों को व्यवहार में ला

सकता है, जिनका अर्थ समझना दूसरों के लिए कठिन हो। ऐसी दशा में, भाषा का कोई महत्व नहीं रह जाता। उस समय तो वह मनुष्य मात्र की सम्पत्ति न होकर व्यक्ति विशेष की सम्पत्ति बन जाती है। भाषा, वक्ता और श्रोता, दोनों, के लिए है अतएव, भाव प्रकट करने के लिए यह आवश्यक है कि वक्ता ने जिस आशय से कोई बात कही है, वही आशय श्रोता भी ग्रहण करे। वास्तव में भाषा का यही प्रयोजन है। यदि कोई भाषा अपने इस प्रयोजन में सफल नहीं होती तो उसका होना न होने के समान है। ऐसी भाषा से न तो उस मनुष्य का कल्याण हो सकता है जो उसे बोलता है और न उस समाज का जिसमें वह बोली जाती है।

भाषा और समाज

मनुष्य सामाजिक प्राणी है। वह समाज में ही रह सकता है। समाज में रहने से उसकी आवश्यकताएँ पूरी होती हैं और उसका शारीरिक तथा मानसिक विकास होता है। वह खाता है इसलिए कि उसे समाज में रहना है; वह सोचता है इसलिये कि उसे समाज में रहकर अपने मस्तिष्क का विकास करना है; वह कार्यशील है इसलिए कि उसे समाज की शृङ्खला को आगे ले जाना है; वह बोलता है इसलिए कि उसे अपने भावों और विचारों को प्रकट करने के साथ-साथ दूसरों के भावों और विचारों से परिचय भी प्राप्त करना है। कहने का तात्पर्य यह है कि मनुष्य के लिए समाज और समाज के लिए मनुष्य का होना अनिवार्य है। परन्तु वह कौन सा बन्धन है जिसके द्वारा समाज का एक प्राणी दूसरे प्राणी से सम्बन्ध स्थापित करता है? विचार करने से ज्ञात होगा कि वह बन्धन भाषा ही है। इसलिए भाषा का समाज से घनिष्ट सम्बन्ध है। जिस प्रकार मनुष्य समाज में रहकर अपनी उन्नति करता है, उसी प्रकार भाषा भी समाज के व्यापारों की प्रमुख सञ्चालिका बनकर उन्नति करती है। जो समाज जितना उन्नत होता है, उसकी भाषा भी उतनी ही उन्नत होती है। इस दृष्टि से भाषा समाज का एक विशेष

गुण है, और उसके परख की एक कसौटी भी है। मनुष्य हो, समाज हो, और यदि भाषा न हो तो उस समाज का कोई कार्य हो ही नहीं सकता। समाज में विचारों का आदान-प्रदान होना आवश्यक है और यह तभी हो सकता है जब उसकी कोई भाषा हो।

इस सम्बन्ध में हमें यह भी स्मरण रखना चाहिये कि भाषा व्यक्ति-विशेष के मस्तिष्क की उपज नहीं है। यदि ऐसा होता तो एक ही समाज के भीतर प्रत्येक मनुष्य की एक अलग भाषा होती और एक की भाषा को समझने के लिए दूसरे व्यक्ति को कुछ काल तक परिश्रम करना पड़ता। परन्तु व्यवहार में यह बात नहीं पायी जाती। यह हो सकता है कि एक वर्ग-विशेष की भाषा ऐसी हो जिसे उस वर्ग के सदस्य तो समझते हों, परन्तु दूसरे वर्ग के लोग उससे अनभिज्ञ हों। इसी देश में एक ही समाज के भीतर जब एक व्यापारी दूसरे व्यापारी से किसी ग्राहक के सामने कोई रहस्यपूर्ण बात करना चाहता है तब वह अपने वर्ग की भाषा व्यवहार में लाता है। ग्राहक खड़ा-खड़ा मुँह ताकता है, और दोनों व्यापारी आपस में बातें करते हैं। ऐसी उस वर्ग-विशेष की भाषा हो सकती है। वह सर्व साधारण अथवा देश की भाषा नहीं बन सकती। भाषा व्यक्ति-विशेष अथवा वर्ग-विशेष की देन नहीं है। वह समाज की देन है, उस समाज की देन है जिस में हज़ारों व्यक्ति और हज़ारों वर्ग हैं और जो किसी देश के एक छोर से दूसरे छोर तक फैला हुआ है। आज जो भाषा हम बोल रहे हैं उसका वर्तमान रूप ऐसे ही समाज ने स्थिर किया है।

भाषा के सम्बन्ध में इतना विचार करने के पश्चात् अब हमें इस बात पर ध्यान [ ] कि भाषा शब्द से, वास्तव में हमारा तात्पर्य क्या है। यह तो हम पहले ही बता चुके हैं कि पशु-पक्षियों की बोली भी भाषा के ही अन्तर्गत आती है। हम यह भी अनुभव करते हैं कि मनुष्य अपने भावों तथा विचारों को स्पष्ट रूप से व्यक्त करने में केवल अपनी

भाषा की परिभाषा

वाणी का ही सहारा नहीं लेता, वह शरीर-सञ्चालन-द्वारा भी अपने मनोभाव दूसरों पर व्यक्त करता है। इसलिए शरीर-सञ्चालन को भी भाषा के अन्तर्गत स्थान दिया जा सकता है। इस प्रकार भाषा वह साधन है जिसके द्वारा हम अपने भाव और विचार दूसरों पर प्रकट करते हैं। उसमें संकेत और वाणी दोनों का एक ही स्थान है। भाषा की यह परिभाषा अत्यन्त व्यापक है, पर जिस अर्थ में हम लोग साधारणतः भाषा शब्द का व्यवहार करते हैं उसमें संकेत को वह स्थान प्राप्त नहीं है जो वाणी को है। इसलिए भाषा-विशेषज्ञों के शब्दों में "भाषा मनुष्य की उस चेष्टा या व्यापार को कहते हैं जिससे मनुष्य अपने उच्चारणोपयोगी शरीरावयवों से उच्चारण किये गये वर्णात्मक शब्दों द्वारा अपने विचारों को प्रकट करते हैं।" सामान्य रूप से भाषा शब्द का यही अर्थ होता है।

भाषा की इस परिभाषा के अनुसार जिन ध्वनि-चिह्नों द्वारा मनुष्य परस्पर विचार-विनिमय करता है उसे हम भाषा कहते हैं। यह भाषा का सामान्य अर्थ है। संकुचित अर्थ में भाषा शब्द से हमारा अभिप्राय केवल उस भाषा से होता है जो किसी बड़ी जाति अथवा देश में बोली और लिखी जाती है। इसी आशय से हम चीनी, फारसी, अरबी, तिब्बती, अँग्रेजी आदि भाषाओं को भाषा कहते हैं। परन्तु एक भाषा के सैकड़ों प्रान्तीय और स्थानीय भेद भी होते हैं। भाषा के ऐसे भेदों को विभाषा अथवा उप-भाषा कहते हैं। विभाषा भी लिखी और बोली जाती है, और उसमें साहित्य पाया जाता है। आज हिन्दी हमारे देश की भाषा है। उसमें भी अवान्तर भेद पाये जाते हैं। खड़ी बोली, व्रज, राजस्थानी अवधी, बिहारी आदि अनेक विभाषाएँ अथवा उप-भाषाएँ उसके अन्तर्गत आती हैं। इनमें से प्रत्येक में उच्च कोटि का साहित्य पाया जाता है। इन्हीं में से कभी-कभी कोई उप-भाषा अथवा विभाषा, भाषा का रूप भी धारण कर लेती है। उस समय वह अपनी भौगोलिक सीमा

बोली, विभाषा तथा भाषा

लाँघ कर समस्त जाति और राष्ट्र में प्रवेश कर जाती है। आज खड़ी बोली का प्राधान्य है और वही हमारी भाषा है। कभी ब्रज भाषा का बोल-बाला था। इस प्रकार समय के हेर-फेर से भाषा उपभाषा और उपभाषा भाषा बनती रहती है। दोनों में भेद केवल इतना ही रहता है कि विभाषा की सीमा बहुत कुछ भूगोल स्थिर करता है और भाषा की सीमा संस्कृति, सभ्यता तथा जातीय भाव स्थिर करते हैं। इस भेद के होते हुए भी दोनों में समानता रहता है। इसी समानता के कारण एक भाषा की भिन्न-भिन्न बोलियों को लोग सरलता से समझ लेते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि भाषा के प्रान्तीय भेद ही विभाषा को जन्म देते हैं और जातीय तथा सांस्कृतिक एकता का भाव ही किसी विभाषा को भाषा बनाता है।

विभाषा के अन्तगत बोलियां आती हैं। बोली से हमारा तात्पर्य उस भाषा से है जिसे हम अपने घरों में एक दूसरे से विचार विनिमय करते समय व्यवहार में लाते हैं। इस प्रकार बोली का क्षेत्र उप-भाषा के क्षेत्र से भी संकुचित होता है। उप-भाषा अपने रूप और साहित्य की रक्षा करती है। बोली का साहित्य नहीं होता और न वह किसी साहित्य में प्रयुक्त होती है।

अब तक हमने भाषा के सम्बन्ध में जो छान-बीन की है उसमे यह सिद्ध होता है कि उसका मानव-जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध है। जब से पृथ्वी पर मानव का जन्म हुआ तब से भाषा उस के साथ है। इस प्रकार एक का अस्तित्व दूसरे के अस्तित्व को सिद्ध करता है। जब भाषा और मानव जीवन में इतनी घनिष्ठता, इतना मेल-जोल है तो यह मानना ही पड़ेगा कि मानव-जीवन के विकास के साथ-साथ भाषा का भी विकास हुआ है। यहाँ हमें मानव-जीवन के विकास पर विचार नहीं करना है। हमें केवल यह देखना है कि भाषा का विकास किस प्रकार होता है। हम यह जानते हैं कि परिवर्तनवाद अथवा विकासवाद का मूलसूत्र

भाषा का विकास

है। इस मूल सूत्र के अनुसार मानव जीवन के बाह्य और अन्तर्जगत् में बराबर परिवर्तन होता रहता है। भाषा का सम्बन्ध मनुष्य के अन्तर्जगत् से है। इसलिए भाषा भी बदलती रहती है। उसका भी विकास होता रहता है। विवर्तनवाद का यह नियम है कि अवयवी—जीव या उद्भिद्—जिन अवस्थाओं से परिवेष्ठित रहता है, अपने को उन अवस्थाओं के अनुकूल बना लेता है। इस नियम के अनुसार मनुष्य भी अपने को उन अवस्थाओं के लिए उपयोगी कर लेता है जिनसे वह परिवेष्ठित रहता है। ऐसी दशा में उसकी भाषा अपना स्वरूप बदल कर उसके लिए उपयोगी हो जाती है। इसमें सन्देह नहीं कि मानव उस समय अपनी सहचरी—भाषा के नवीन व्यापारों के उद्भव एवं विकास का अनुभव नहीं कर पाता; वह नहीं जान पाता कि उसकी भाषा में क्या और कैसे परिवर्तन हो रहे हैं, फिर भी उसमें कुछ न कुछ नवीनता तो आ ही जाती है। इस प्रकार की नवीनता का आगमन भाषा में कई कारणों से होता है। उनमें से शारीरिक यन्त्रों—वाग्यन्त्र और श्रवणेन्द्रिय—की भिन्नता, मानसिक वृत्तियों की भिन्नता, परिवेष्ठनों की भिन्नता तथा प्रयत्न लाघव—कम से कम चेष्टाओं द्वारा अधिक से अधिक भाव प्रकट करना—मुख्य हैं।

भाषा अनुकरण से सीखी जाती है। शिशु सब से पहले अपनी माता की भाषा अनुकरण द्वारा ही सीखता है। यदि माता गूँगी नहीं है और ठीक तरह से बोलती है और शिशु उसके मुख से निकले हुए शब्दों को सुनकर ठीक-ठीक उच्चारण करता है, तब भाषा में विकास नहीं हो सकता। विकास तो तब होता है जब वक्ता के वाग्यन्त्र अथवा श्रोता की श्रवणेन्द्रिय में कोई विकार हो। इसी प्रकार मानसिक वृत्तियों की विभिन्नता से शब्दों तथा वाक्यों के अर्थ में परिवर्तन हो जाता है। कुछ विद्वानों का मत है कि परिवेष्ठन अथवा भौगोलिक विभिन्नता से भाषा में विभिन्नता आती है। पहाड़, जलवायु, मैदान और मरु-भूमि का भी हमारे जीवन पर प्रभाव पड़ता है। यही प्रभाव भाषा में रूपान्तर

का कारण हो जाता है। कभी-कभी इस प्रभाव-द्वारा भाषा में आया हुआ परिवर्तन इतना सूक्ष्म होता है कि मनुष्य के अनुभव में ही नहीं आता। अब रहा प्रयत्न-लाघव अथवा श्रम घटाने की चेष्टा। भाषा के विकास में इसका मुख्य स्थान है। इसके अनुसार शब्द संक्षिप्त हो जाते हैं। मनुष्य जिन अक्षरों का उच्चारण कठिन समझता है, उन्हें त्याग देता है और उनसे मिलते-जुलते सरल अक्षरों को अपना लेता है। यही भाषा की क्रियाशीलता है। इसके द्वारा भाषा के नूतन रूप की सृष्टि होती है और पुरातन रूप का लोप होता है। भाषा के विकास में **सादृश्य और औपम्य** अथवा उपचार का भी हाथ रहता है। हमारी भाषों में बहुत से शब्द इसी प्रकार बने हैं।

भाषा और व्याकरण

ऊपर की पंक्तियों में भाषा के विकास की जो रूप रेखा अंकित की गयी है उससे यह न समझना चाहिए कि उसका कोई नियम ही नहीं होता। भाषा-शास्त्रियों का कहना है कि भाषा के विकास में कोई न कोई नियम अवश्य काम करता है। यदि ऐसा न हो, तो भाषा का रूप ही विकृत हो जाय और एक मनुष्य की भाषा दूसरा मनुष्य समझ न सके। व्याकरण ऐसे ही नियमों का पता लगाता है। वैयाकरण किसी विशेष भाषा के अध्ययन से उन समस्त नियमों का पता लगाता है जो भाषा के विकास में अप्रत्यक्ष रूप से कार्य करते हैं। वह ऐसे नियमों का संकलन करता है और उन्हें प्रकाश में लाकर भाषा सीखनेवालों का मार्ग सरल कर देता है। इस प्रकार व्याकरण भाषा की गति विधि पर अनुशासन करने लगता है। इसमें सन्देह नहीं कि भाषा के पश्चात् उनका व्याकरण बनता है; परन्तु इससे उनका महत्त्व कम नहीं होता। व्याकरण राजा है, भाषा उसकी प्रजा है। भाषा एक प्रकार से व्याकरण के अधीन रहती है। व्याकरण महावत है, भाषा मस्त हाथी है। महावत न होने से मस्त हाथी की जो दशा होती है; सरकार न होने से प्रजा की जो दशा होती है वही दशा व्याकरण के अभाव से भाषा

की हो जाती है। व्याकरण का उद्देश्य भाषा को संयत करना है; परन्तु जैसे संसार के सभ्य देशों में शासन की समस्त शक्ति प्रजा के हाथ में चली गई है अथवा जा रही है, वैसे ही श्रेष्ठ साहित्यकारों के, अतः भाषाओं के, जीवन में भी व्याकरण का बन्धन दिन दिन शिथिल होता जा रहा है। वस्तुतः भाषाओं में पारस्परिक सम्बन्ध, आदान-प्रदान, युद्ध, तथा राजनीतिक कारणों से परिवर्तन इतनी तेज़ी से होते हैं कि व्याकरण इन परिवर्तन के साथ बहुत कम चल पाता है।

व्याकरण विज्ञान भी है और कला भी। एक ओर तो वह किसी भाषा-विशेष में प्रचलित नियमों का पता लगाता है और दूसरी ओर उन्हीं नियमों से उस भाषा पर अनुशासन करता है। किसी भाषा को सीखने के लिए जब हम उस भाषा के व्याकरण का अध्ययन करते हैं तब हमारा तात्पर्य व्याकरण के कला-पक्ष के अध्ययन से होता है। इस दृष्टि से व्याकरण से केवल उस कला का बोध होता है जो भाषा और उसके शब्दों की साधुता एवं असाधुता का विचार करती है। वह एक काल की किसी एक भाषा से सम्बन्ध रखता है और उसके सिद्ध रूप को सिखाता है। वह भाषा के सिद्ध और निष्पन्न रूपों को लेकर अपना काम तो करता ही है, उसकी शुद्धता और साधुता पर भी मैल नहीं आने देता। वह भाषा का संशोधन, परिमार्जन और परिष्करण करता है। वह विदेशी आक्रमणों से भाषा की रक्षा करता है और उसकी मौलिकता को नष्ट होने से बचाता है। इसमें सन्देह नहीं कि व्याकरण के नियमों से जकड़े जाने के कारण भाषा की स्वाभाविकता, मौलिकता तथा पाचन शक्ति नष्ट हो जाती है और अधिक काल तक अनुशासित होने पर दूसरी विभाषा उस भाषा का स्थान लेकर उसे मृतकों की सूची में सम्मिलित कर लेती है; फिर भी व्याकरण का महत्त्व किसी प्रकार कम नहीं किया जा सकता। जबतक भाषा रहेगी, उसका व्याकरण भी रहेगा। इस प्रकार दोनों का सम्बन्ध स्थायी है।

अब हमें इस बात पर विचार करना है कि भाषा और साहित्य का क्या सम्बन्ध है। हम यह तो जानते ही हैं कि भावों और विचारों की अभि-व्यक्ति का माध्यम भाषा है। भाषा संयत हो अथवा असंयत, उसमें हमारे मनोभाव अन्तर्निहित रहते हैं। अनन्त काल से हमारे ज्ञान की निधि भाषा में सञ्चित होती आ रही है। इसी संचित ज्ञान-राशि को हम **साहित्य** कहते हैं। साहित्य शब्द में सम्मिलन का भाव छिपा है। वस्तुतः साहित्य सम्मिलन ही का फल है और उसीमें संसार से मनुष्य का सम्मिलन होता है। वह ऐसा विराट सम्मिलन है जिसमें क्षुद्र-से-क्षुद्र मनुष्य सम्मिलित होता है और उसकी क्षुद्रातिक्षुद्र कृति आदर पाती है। वह ऐसी गंगा है जिसमें मज्जन करके संसार के सभी मनुष्य अपनी उद्वेलित आत्मा शान्त करते हैं। वह स्वामी है, भाषा उसकी सहचरी है। वह भाषा को अपने अनुकूल बनाता है। व्याकरण भाषा का परिमार्जन करता है; साहित्य भाषा में सौन्दर्य और सौष्ठव का विधान करता है। किसी भाषा का उत्कृष्ट रूप उसके साहित्य से ही जाना जाता है। भाषा मनुष्य के हृद्गत भावों और विचारों को स्पष्ट करनेवाले उन प्रतीकों का समुदाय होती है जिनसे प्रयोक्ता के अभिप्रेत अर्थ का श्रोता अथवा पाठक को समुचित रूप से बोध हो जाता है। साहित्यकार जब किसी विषय का किसी भाषा में बोध करना चाहता है तब वह तद्विषयक अपनी चिन्तन-धारा से दूसरों को परिचित कराने के लिए भाषा का भिन्न-भिन्न रूपों में प्रयोग करता है। कभी उसकी रचना में विचारों की प्रधानता रहती है, कभी भावों का ज़ोर रहता है और कभी कल्पना अथवा चमत्कार का एकछत्र राज्य। कभी ऐसा भी होता है कि साहित्यकार को विचारों की ओर मुख्य रूप से और रचना-कौशल की ओर गौण रूप से ध्यान देना पड़ता है। इसीलिए उसकी रचना विषयानुकूल कभी भाव-प्रधान और कभी विचार-प्रधान होती है। एक साहित्यकार के लिए अपनी रचना में सफलता प्राप्त करना तभी

भाषा और साहित्य

सम्भव है जब भाषा उसकी सहचरी बन कर रहे। साहित्य का सम्बन्ध मनुष्य के अन्तर्जगत् से है। उसका उद्देश्य है सत्य को प्राप्त करना, रचना-शैली द्वारा भावों को जाग्रत करना और मनोरञ्जन करना। भाषा साहित्य के इस लक्ष्य की पूर्ति में सहायक होती है। वह प्राप्तव्य सत्य को दूसरों तक पहुँचाती है, मनुष्य के हृदय में भावों को जगाती है और मानव-समाज का मनोरञ्जन करती है। व्याकरण द्वारा परिमार्जित भाषा में साहित्य का ऐसा सुन्दर सामञ्जस्य हो जाता है तब वह भाषा साहित्यिक हो जाता है। उस समय उसकी परिवर्तन-शीलता नष्ट हो जाती है और स्वाभाविकता का अन्त हो जाता है। इस प्रकार भाषा कुछ काल के लिए स्थायी रूप धारण कर लेती है और तब वह सर्वसाधारण की सम्पत्ति न होकर एक विशेष वर्ग अथवा समुदाय के हाथ का खिलौना बन जाती है।

साहित्यिक भाषा के गुण

इसमें सन्देह नहीं कि व्याकरण के अनुशासन से भाषा की स्वाभाविकता नष्ट हो जाती है और उसके विकास का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है, फिर भी किसी भाषा को साहित्यिक रूप प्रदान करने के लिए उसका होना आवश्यक है। आज संसार में जितनी साहित्यिक भाषाएँ अपना अस्तित्व बनाये हुए हैं, उनमें कोई-न-कोई नियम है, उनका एक व्याकरण है। इसलिए किसी भाषा का प्रथम गुण उसका नियमबद्ध होना है।

साहित्यिक भाषा का दूसरा गुण है उसकी सरलता। जो भाषा सीखने में जितनी सरल होती है, उतनी ही वह लोक-प्रिय होती है। इसमें सन्देह नहीं कि प्रत्येक देश के लोग अपनी मातृभाषा को दूसरे देशों की भाषा से अच्छा समझते हैं, और ऐसा होना ही चाहिए; परन्तु किसी भाषा के गुण-दोष की परख राष्ट्रीय दृष्टि-विन्दु से नहीं होती। इसके लिए तो हमें वैज्ञानिक दृष्टिकोण से विचार करना पड़ता है। हमें यह देखना पड़ता है कि कौन भाषा अधिक वैज्ञानिक है।

जो भाषा अधिक वैज्ञानिक होगी, वही सरल होगी। इस प्रकार के कथन से हमारा तात्पर्य यह है कि जिस भाषा के लिखित और उच्चरित रूपों में समता होती है वही भाषा सरल और वैज्ञानिक होती है।

भाषा का **तीसरा गुण** है ग्रहणशीलता। जो भाषा नये वातावरण में पड़कर उसके अनुकूल हो जाती है; जिसमें नये भावों और विचारों को व्यक्त करने के लिए शब्द मिल जाते हैं, और फिर उनका समावेश साहित्य में हो जाता है; जिसमें विदेशी शब्दों को अपने अनुकूल बनाने की इतनी शक्ति होती है कि उनका विदेशीपन जाता रहता है और जिसमें इस प्रकार के नवागत शब्दों की खपत सरलता से हो जाती है वह भाषा ग्रहणशील कही जाती है। भाषा का ग्रहणशील होना उसके जीवन और विकास का चिह्न है। इसी गुण द्वारा उसके स्वास्थ्य की माप होती है। जो भाषा ग्रहणशील नहीं होती, उसकी गति-विधि मन्द पड़ जाती है, विकास रुक जाता है और अन्त में वह निर्जीव हो जाती है।

भाषा में साधारण भावों तथा विचारों को व्यक्त करने की क्षमता तो होती ही है; परन्तु जब उसमें सूक्ष्मतम भावों तथा विचारों के लिए उपयुक्त शब्द मिल जाते हैं, तब वह उत्कृष्ट समझी जाने लगती है। इसलिए भाषा का **चौथा गुण** यह है कि उसमें सूक्ष्मतम भावों को व्यक्त करने की क्षमता हो। उसका शब्द-भाण्डार इतना बृहत् हो कि लेखक अथवा वक्ता को अपने भावों को प्रकट करने के लिए किसी अन्य भाषा की शरण न लेनी पड़े। भाषा में भावों के अनुकूल शब्द मिलना आवश्यक है।

अन्त में, किसी भाषा में, पर्यायवाची शब्द, नानार्थक शब्द, विपरीतार्थक शब्द, पारिभाषिक शब्द तथा ऐसे समस्त शब्दों का मिलना आवश्यक है जो वैज्ञानिक विषयों के स्पष्टीकरण में वास्तविक सहायता प्रदान करते हैं।

किसी भाषा के सर्वगुण-सम्पन्न होने पर भी उसका पतन होता ही है और इसका पहला कारण है उसकी पराधीनता। पराधीन देश का साहित्य पराधीन होता है और साहित्य की पराधीनता से भाषा पराधीन हो जाती है। जब कोई शक्तिशाली जाति किसी देश को दासता के बन्धन में जकड़ लेती है तब वह उस देश के राजनीतिक स्वत्वों का तो अपहरण करती ही है, साथ ही वह उस देश की भाषा की स्वतन्त्रता का भी अपहरण कर लेती है। फलतः पराधीन जाति की भाषा अपना महत्व खो देती है, और विजेता की भाषा का प्राधान्य हो जाता है। एक समय था जब भारतीय समाज पर संस्कृत भाषा का आधिपत्य था; परन्तु हिन्दू साम्राज्य का अन्त होने पर उसकी प्रधानता नष्ट हो गई और मुसलमानों के शासन-काल में फारसी का विशेष प्रचार हुआ। अँग्रेजों का प्रभुत्व होने पर अँग्रेजी भाषा ने भारतीय समाज पर छापा मारा और आगे चलकर उसने अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। हम अपनी भाषा और साहित्य की श्री-वृद्धि के लिए प्रयत्नशील हैं, परन्तु पग-पग पर हम कठिनाइयों का अनुभव कर रहे हैं और लाख सचेष्ट होने पर भी हम अपने उद्देश्य में असफल ही रहे हैं। यह भाषा के पराधीन होने का ही फल है।

भाषा की अवनति के कारण

भाषा के ह्रास का दूसरा कारण है उसकी नियमबद्धता। जो भाषा व्याकरण के नियमों से अधिक जकड़ी रहती है, वह अपनी स्वाभाविकता तो खो ही बैठती है, साथ ही उसका क्षेत्र भी संकीर्ण एवं संकुचित हो जाता है और वह थोड़े ही लोगों की सम्पत्ति हो जाती है। संस्कृत भाषा का पतन इसीलिए हुआ। वह इस समय भी व्याकरण के बोझ से इतनी दबी हुई है कि सर्वसाधारण की सम्पत्ति न होकर वह एक वर्ग विशेष से अपना सम्बन्ध बनाये हुए है।

भाषा के पतन का तीसरा कारण है शब्दों का अभाव। जब कोई भाषा देश की समस्त भावनाओं को स्पष्ट करने में असमर्थ हो जाती है,

जब उसमें सूक्ष्मतम भावों को अभिव्यक्त करने के लिए उपयुक्त शब्द नहीं मिलते और जब वह नवीन विचारों का सृजन नहीं कर पाती तब वह मृत समझी जाने लगती है। ऐसी दशा में कोई विदेशी भाषा अपना स्थान बना लेती है। रोम ने ग्रीस पर विजय प्राप्त की; परन्तु वह उसकी भाषा पर अपना आधिपत्य न जमा सका। ग्रीस के साहित्य ने अपने ऐश्वर्य से रोम के साहित्य को पराभूत कर दिया। यह है भाषा की शक्ति और उसके ऐश्वर्य का प्रभाव।

भाषा की अवनति किसी धर्म-विशेष के प्रादुर्भाव के कारण भी होती है। पृथ्वी पर जब-जब किसी नवीन धर्म का प्रचार हुआ है तब तब उस धर्म के साथ किसी भाषा-विशेष की उन्नति और तत्कालीन प्रचलित भाषा का पतन हुआ है। बौद्ध-धर्म ने पाली को प्रोत्साहन दिया। जैन-धर्म ने मागधी को आगे बढ़ाया। युरोप में पोप के अभ्युदय से लेटिन भाषा देव-भाषा हो गई; परन्तु मार्टिन लूथर ने उसके विरोध में आन्दोलन करने के लिए जर्मन भाषा को आगे बढ़ाया। इस प्रकार किसी धर्म-विशेष का पतन होने पर उससे सम्बन्ध रखनेवाली भाषा का भी पतन हो जाता है।

भाषा के पतन का पाँचवाँ कारण है उसका केवल विद्वानों की सम्पत्ति हो जाना। हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि भाषा केवल विद्वानों की सम्पत्ति नहीं है; उस पर जन-साधारण का भी अधिकार है। जबतक जन-साधारण से उसका सम्पर्क बना रहता है, तबतक वह जीवित रहती है; जब वह केवल विद्वत्समाज की सम्पत्ति बन जाती है तब वह मृत हो जाती है। इससे सिद्ध होता है कि भाषा जनता का अनुसरण करती है और विद्वान भाषा का अनुसरण करते हैं। आज संस्कृत केवल विद्वानों की भाषा है। वह मृत समझी जाती है। जनता से उसका कोई उल्लेखनीय सम्बन्ध नहीं है। इसके विपरीत हिन्दी जीवित भाषा समझी जाती है। उसका जन-साधारण से विशेष सम्बन्ध है। इसमें सन्देह नहीं कि इनमें अधिकांश लोग अशिक्षित

और विद्या से शून्य हैं; फिर भी उसमें उच्चकोटि का साहित्य है और वह हमारी राष्ट्र-भाषा समझी जाती है। कुछ विद्वान उसे अपनी निजी सम्पत्ति बनाना चाहते हैं। यह उनका भ्रम है। ऐसा करने में वह उसके पतन का कारण उपस्थित कर रहे हैं।

भाषा का महत्त्व

अबतक भाषा के सम्बन्ध में जो विचार प्रकट किये गये हैं, उनसे यह भली-भाँति स्पष्ट हो जाता है कि भाषा, भावों तथा विचारों को प्रकट करने का एक साधन है। इंगित (इशारों), मुख-विकृति, स्वर-विकार, स्वर और बल उसके सहायक अङ्ग हैं। इन सहायक अङ्गों का सभ्य समाज की भाषा में कम स्थान रहता है। समाज और भाषा की उन्नति के साथ-साथ इन गौण अङ्गों की मात्रा कम होती है, और अन्त में उसे स्वर और बल तक की अपेक्षा नहीं करनी पड़ती। इतना त्याग करने पर, वह राष्ट्र की सम्पत्ति बन जाती है। इस प्रकार उसके विकास के अध्ययन से हम तत्सम्बन्धी समाज का इतिहास जान सकते हैं। भाषा का इतिहास विचारों का इतिहास है और उसके द्वारा किसी जाति की सभ्यता का इतिहास मिलता है। इस दृष्टि से भाषा प्राचीन और अर्वाचीन के बीच सम्बन्ध स्थापित करती है। भाषा-विज्ञान के विशेषज्ञ उसी की सहायता से भाषा का इतिहास लिखते हैं। उसी ने हमारे पूर्वजों के मतों और विचारों को सुरक्षित रखा है। उसी ने मनुष्य जाति को अन्य प्राणियों से ऊँचा स्थान दिया है। उसी के द्वारा मनुष्य ने मनुष्य का सहयोग प्राप्त किया है और मानव-समाज ने उन्नति की है। उसी के बल पर समाज का संघटन होता है। वह बन्धन है; हमारे मानसिक व्यापारों की द्योतक है; हमारे हृदय-कमल का सौरभ है; हमारी सभ्यता तथा संस्कृति की जननी है; वही नीर-क्षीर का विवेक करती है। हम क्या थे, क्या हैं, कैसे हैं और क्या होंगे, इन प्रश्न का उत्तर हमारी भाषा ही देती है।

भाषा केवल विचार-विनिमय का साधन नहीं है, वह नये विचारों

की जननी भी है। किसी विषय में विचार करते समय हम एक प्रकार का मानसिक संभाषण करते हैं, जिससे हमारे विचार भाषा के रूप में प्रकट होते हैं। बिना भाषा के विचार उत्पन्न हो ही नहीं सकते। इस प्रकार वह हमारे विचारों का सृजन और वहन दोनों करती है। लेखक और कवि उसी का सहारा पाकर अपनी कृतियों में जादू भरते हैं। वही उनके मानसिक संस्कारों को पुष्ट करती है; वही उनके भावों और विचारों को अनुप्राणित करती है; वही उनका सन्देश—उनके भाव और विचार—सर्व-साधारण तक पहुँचाती है; वही उनकी लेखनी को अमरत्व प्रदान करती है और वही तत्कालीन समाज का दर्पण है।

भाषा की स्वर-लहरी में विश्व का संगीत गूँजता रहता है। उसमें मानव का हृदय रहता है, जीवन की मिठास और कटुता रहती है; समाज की उन्नति और अवनति का चित्र अंकित रहता है। वह मानव का अर्जित सम्पत्ति है। उसका विकास स्वतन्त्र वातावरण में होता है। मनुष्य की तरह वह भी स्वराज्य चाहती है। बन्धन में रहना उसे पसन्द नहीं। पराधीनता में वह निष्प्राण हो जाती है और अपना स्वत्व खो बैठती है। वह किसी एक वर्ग से सम्बन्ध नहीं रखना चाहती। वह सब की है, सब उसके हैं। सङ्कीर्णता उसे अप्रिय है। वह लोक-हित चाहती है। कृत्रिमता से उसे घृणा है। वह स्वाभाविकता चाहती है। उसका प्रवाह अनन्त है, वह गिरकर फिर उठती है; परतन्त्र होकर फिर स्वतन्त्रता प्राप्त करती है; असभ्य होकर फिर सभ्य बनती है। ऐसी दशा में उसे तीन परिस्थितियों से गुज़रना पड़ता है। पहली अवस्था में वह किसी मृत भाषा का प्रभाव दूर करती है, दूसरी अवस्था में उसे अपने विदेशीपन को दूर करना पड़ता है, तीसरी अवस्था में वह अपनी ही कृत्रिमता को दूर करके स्वाभाविक रूप धारण करती है।

अध्याय २

भाषाओं के वर्गीकरण में हिन्दी का स्थान

स्थित और गति प्रकृति के दो नियम हैं। भाषा अपने विकास में इन्हीं दोनों प्राकृतिक नियमों का अनुसरण करती है। वह गतिशील होती है और कालान्तर में स्थायित्व प्राप्त करती है। इसके कई कारण हैं। देश, काल, व्यक्तिगत स्वतंत्रता, विदेशी जातियों का सम्मिश्रण इत्यादि कई बातों से भाषा के स्वरूप और उसके गठन में परिवर्तन होता रहता है। यह परिवर्तन दो प्रकार का होता है—बाह्य और आन्तरिक। परन्तु भाषा के परिवर्तन की गति सर्वत्र और सदा एक-सी नहीं रहती। यही कारण है कि आज संसार में बहुत-सी भाषाएँ मिलती हैं। इन भाषाओं में बहुत सी तो ऐसी हैं जिनमें रचना और अर्थ-तत्वों की दृष्टि से साम्य है; परन्तु शेष ऐसी हैं जो एक दूसरे से बिलकुल भिन्न हैं। भाषा-विज्ञान के आचार्यों ने अपने अपने मतानुसार उनका वर्गीकरण किया है।

भाषा की परिवर्तनशीलता

भाषाओं का वर्गीकरण दो प्रकार से किया जाता है। एक तो उनकी रचना अथवा गठन की दृष्टि से और दूसरे उनकी उत्पत्ति अथवा परिवार के विचार से। पहले प्रकार के विभाजन को आकृतिमूलक वर्गीकरण और दूसरे प्रकार के विभाजन को पारिवारिक वर्गीकरण कहते हैं।

भाषाओं का वर्गीकरण

आकृतिमूलक वर्गीकरण के अनुसार भाषाओं के इतिहास आदि की ओर ध्यान न देकर उनके शब्दों के रूप, आकृति अथवा सामान्य रचना को देखकर भाषाओं का विभाजन किया जाता है। भाषा-शास्त्रियों का कहना है कि मनुष्य ने आदि काल में वाक्यों में ही बोलना सीखा था। असभ्य और आदिम भाषाओं के अध्ययन से उन्होंने यह निष्कर्ष

आकृतिमूलक वर्गीकरण

निकाला है कि भाषा अपने शिशु-जीवन में संयुक्त तथा जटिल रहती है। तत्पश्चात् धीरे-धीरे उसका विकास होता है। इस दृष्टि से भाषाओं के तीन वर्ग किये गये हैं :—

१. अयोगात्मक भाषाएँ—इस वर्ग के अन्तर्गत वे भाषाएँ आती हैं जिनमें प्रत्येक शब्द स्वतन्त्र रीति से अलग-अलग प्रयुक्त होते हैं। इसीलिए उन्हें एकाक्षरात्मक भाषाएँ भी कहते हैं। उन भाषाओं में प्रत्यय नहीं होते। लहजा उनका आवश्यक अङ्ग होता है। इसीसे शब्दों के अर्थ का निर्णय होता है। चीनी भाषा में 'ताव' (Tao) शब्द लहजे के अनुसार पहुँचाना, ढाँपना, झंडा, धान्य, रास्ता इत्यादि अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है। तिब्बत, बर्मा, श्याम आदि देशों की भाषाएँ भी ऐसी ही हैं।

२. योगात्मक भाषाएँ—इस वर्ग के अन्तर्गत वे भाषाएँ आती हैं जिनके शब्द एक से अधिक अंशों के मेल से बनते हैं। इन अंशों में से एक अंश का अर्थ प्रधानतया स्थिर रहता है। ऐसे अंश को हम प्रकृति कहते हैं। प्रकृत्यंश से जुड़े हुए अंशों से थोड़ा परिवर्तन हो जाता है, परन्तु यह परिवर्तन इतना अधिक नहीं होता कि उन अंशों का वास्तविक स्वरूप ही मिट जाय। टर्की, हँगरी, फिनलैण्ड आदि देशों की भाषाएँ इसी प्रकार की हैं।

३. विभक्तियुक्त भाषाएँ—इन वर्ग के अन्तर्गत वे भाषाएँ आती हैं जिनके शब्द प्रकृति-प्रत्यय के योग से बनते हैं। इस प्रकार बने हुए शब्दों में दोनों का भेद स्पष्ट नहीं होता। संस्कृत, फारसी, ग्रीक, लैटिन आदि भाषाएँ इसी वर्ग में समझी जाती हैं।

भाषा के इस प्रकार के वर्गीकरण के अनुसार उसकी उन्नति का पथ अयोगात्मक-योगात्मक-विभक्तियुक्त रहा है, अर्थात् आरम्भ में अयोगात्मक, फिर योगात्मक, फिर विभक्तियुक्त, परन्तु यह सिद्धान्त सर्वमान्य नहीं है।

भाषाओं का, दूसरे प्रकार का, वर्गीकरण पारिवारिक वर्गीकरण है। यह वर्गीकरण इस अनुमान पर अवलम्बित है कि सृष्टि के आदि काल में एक नहीं, वरन् अनेक भाषाएँ थीं। इस दृष्टि से उन समस्त भाषाओं की गणना एक कुल अथवा परिवार में की जाती है जिनके सम्बन्ध में भाषा-तत्त्वविदों ने शब्दों की समता, रचना की समता, तथा ऐतिहासिक प्रमाण के आधार पर यह निश्चय कर दिया है कि वे एक ही मूल भाषा से उत्पन्न हुई हैं। अबतक की खोजों के आधार पर कुल भाषाएँ निम्नलिखित १२ कुलों में विभाजित की गई हैं:—

पारिवारिक वर्गीकरण

१. **सेमिटिक कुल**—प्राचीन काल में इस कुल की भाषाएँ फोनेशिया, आरमीनिया तथा असीरिया में प्रचलित थीं। अब इनके नमूने केवल शिला-लेखों में मिलते हैं। आज-कल की अरबी तथा हबशी भाषाएँ इसी कुल की उत्तराधिकारिणी हैं।

२. **हैमिटिक कुल**—इस कुल की भाषाएँ उत्तर अफ्रीका में बोली जाती हैं। मिश्र देश की प्राचीन भाषा कॉप्टिक, समुद्र तट के कुछ भाग में प्रचलित लिबियन, पूर्व भाग के कुछ अंशों में बोली जानेवाली एथियोपियन तथा सहारा मरुभूमि में बोली जानेवाली ग्रीमा भाषाएँ इसी कुल के अन्तर्गत हैं।

३. **बण्टू कुल**—इस कुल की भाषाएं दक्षिण अफ्रीका के निवासी बोलते हैं।

४. **मध्य अफ्रीका-कुल**—इस कुल की भाषाएँ मध्य अफ्रीका में बोली जाती हैं। ब्रिटिश सूडान की भाषा इसी कुल की है।

५. **तिब्बत-चीनी-कुल**—इस कुल की भाषाएँ सम्पूर्ण दक्षिण-पूर्व एशिया में प्रचलित हैं। चीन, जापान, कोरिया, तिब्बत, बर्मा, श्याम, तथा हिमालय के अन्दर के प्रदेश इसी कुल की भाषाएँ बोलते हैं।

६. **यूरल-अलटाइक कुल**—इस कुल की भाषाएँ चीन के उत्तर

में मंगोलिया, मंचूरिया, रूस के पूर्वी भाग तथा साइबेरिया में बोली जाती हैं। तुर्की भाषा भी इसी कुल की है।

७. द्राविड़-कुल—इस कुल की भाषाएँ दक्षिण भारत में बोली जाती हैं। तामिल, तेलगू, मलयालम तथा कनारा भाषाएँ इसी कुल की हैं।

८. मैलेपालीनीशियन कुल—इस कुल की भाषाएँ मलाका प्रायद्वीप, सुमात्रा, जावा, बोर्नियो तथा मेडागास्कर द्वीप-समूहों में बोली जाती हैं। भारत में संथालों की कोल भाषाएँ भी इसी कुल की हैं।

९. अमेरिकन भाषा-कुल—इस कुल की भाषाएँ उत्तर तथा दक्षिण अमेरिका में बोली जाती हैं। इन भाषाओं में बहुत भेद है।

१०. आस्ट्रेलिया तथा प्रशान्त महासागर की भाषाओं का कुल—इस कुल की भाषाएँ आस्ट्रेलिया तथा टस्मेनिया में बोली जाती हैं।

११. भारत-युरोपीय कुल—भाषा के पारिवारिक वर्गीकरण में इस कुल की भाषाओं का स्थान सर्वप्रथम है। उत्तर भारत, अफगानिस्तान, ईरान तथा सम्पूर्ण यूरोप में बोली जानेवाली भाषाएँ इस कुल में सम्मिलित की जाती हैं। प्राचीन काल में संस्कृत, पाली, ज़ेंद, पुरानी फारसी, ग्रीक, लैटिन इत्यादि भाषाएँ इसी कुल की थीं। आजकल इस कुल में हिन्दी, अँगरेज़ी, जर्मन, फ्रांसीसी, नई फारसी, ईरानी, पश्तो, मराठी, गुजराती तथा बंगाली भाषाएँ समझी जाती हैं।

१२. शेष भाषाएँ—ऐसी भाषाएँ जिनका वर्गीकरण अभी सन्दिग्ध है, अलग रखी गई हैं।

संसार की भाषाओं में भारत-युरोपीय कुल की भाषाएँ मुख्य हैं भारत-यूरोपीय और इसी कुल से हमारा विशेष सम्बन्ध है। भाषा विज्ञान के आचार्यों द्वारा यह कुल की भाषाएँ कुल आठ भागों में विभाजित किया गया है :—

१. **आरमेनियन उप-कुल**—यह आर्य उप-कुल के पश्चिम में है। इसमें ईरानी भाषा के शब्द अधिक पाये जाते हैं।

२. **बाल्टो स्लैवोनिक उप-कुल**—इस-कुल की भाषाएँ काले समुद्र के उत्तर में बोली जाती हैं। बाल्टिक शाखा के अन्तर्गत लिथूए-नियन, लेटिश और प्राचीन प्रशियन भाषाएँ हैं। स्लैवोनिक शाखा में बलगेरिया की प्राचीन भाषा, रूस की भाषाएँ, सर्वियन, पोलैण्ड की भाषा, जेक तथा सर्व शामिल हैं।

३. **अलबेनियन उप-कुल**—इस उप-कुल पर निकटवर्ती भाषाओं का प्रभाव अधिक पड़ा है।

४. **ग्रीक उप-कुल**—यह उप-कुल सब से प्राचीन है। होमर के इलियड तथा ओडेसी महाकाव्य इसी भाषा में पाये जाते हैं। सुकरात तथा अरस्तू के ग्रन्थ भी इसी भाषा में हैं।

५. **लैटिन उप-कुल**—यूरोप की भाषाओं पर इस उपकुल का विशेष प्रभाव पड़ा है। इटली, फ्रांस, स्पेन, रूमानिया तथा पुर्तगाल की भाषाएँ इसी भाषा से निकली हैं।

६. **केल्टिक उप-कुल**—इस उप-कुल के दो मुख्य भेद हैं। एक का वर्तमान रूप आयरलैण्ड में मिलता है और दूसरे का स्काटलैण्ड, वेल्स तथा कार्नवाल में पाया जाता है।

७. **ट्यूटानिक उप-कुल**—इस उप-कुल की भाषाओं का प्राचीन रूप गाथिक और नार्स भाषाओं में मिलता है। नार्स भाषा से स्वीडेन, नार्वे, डेनमार्क तथा आइसलैण्ड की भाषाएँ निकली हैं। जर्मन, डच, फ्लेमिश तथा अँगरेजी भाषाएँ इसी उप-कुल के अन्तर्गत हैं।

८. **आर्य उप-कुल**—इस उप-कुल को भारत-ईरानी उपकुल भी कहते हैं। इसकी तीन प्रमुख शाखाएँ हैं। प्रथम में भारतीय आर्य-भाषाएँ, दूसरी में ईरानी भाषाएँ, और तीसरी में दरद भाषाएँ हैं। इसी उपकुल से हमारा सम्बन्ध है। इसलिए यहाँ इसका उल्लेख किया जाता है।

यह कुल कई कारणों से महत्त्वपूर्ण है। इसी में आर्य जाति का प्राचीन साहित्य मिलता है। इसी के अध्ययन में भाषा-विज्ञान की जटिल बातें सरल हुई हैं। इसकी तीन शाखाएँ मानी जाती हैं:—

आर्य उप-कुल की भाषाएँ

१. **ईरानी शाखा**—इस शाखा के तीन भेद मिलते हैं। **पुरानी फारसी** के प्राचीनतम नमूने पारसियों के धर्मग्रन्थ अवस्ता में मिलते हैं। **माध्यमिक फारसी** का मुख्य रूप पहलवी है। सासान वंशी बादशाहों के समय में इसने बहुत उन्नति की। **नई फारसी** (या ईरानी) का प्राचीनतम रूप फिरदौसी के 'शाहनामा' में मिलता है। आज-कल साहित्यिक फारसी में अरबी शब्दों का बाहुल्य है। रूसी तुर्किस्तान की ताजीकी, अफगानिस्तान की पश्तो तथा बलूचिस्तान की बलूची भाषाएँ नई फारसी के अन्तर्गत हैं। नई फारसी का भारत में भी प्रचार है।

२. **पैशाची या दरद-शाखा**—इस शाखा का क्षेत्र पामीर तथा पश्चिमोत्तर पंजाब के मध्य में है। लगभग तीस-चालीस वर्ष के भीतर ही इस शाखा की खोज हुई है।

३. **भारतीय आर्य-शाखा**—इसी शाखा से हमारा विशेष सम्बन्ध है। हमारा प्राचीन साहित्य इसी शाखा की भाषा में पाया जाता है। अतः यहाँ विशेष रूप से इसका उल्लेख किया जाता है।

यह शाखा भारतीय विद्यार्थियों के अध्ययन की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसमें वैदिक, बौद्ध तथा जैन धर्मों का साहित्य मिलता है। सुविधा की दृष्टि से यह शाखा तीन कालों में विभाजित की जाती है:—

भारतीय आर्य शाखा की भाषाएँ

१. **प्राचीन काल**—इस काल की भाषा का साहित्यिक रूप वेद, ब्राह्मण ग्रन्थों, सूत्रों तथा शिला-लेखों आदि में संस्कृत द्वारा सुरक्षित है। प्रारम्भ में यह साहित्यिक भाषा बोल-चाल की भाषा से मिलती-जुलती रही होगी; परन्तु धीरे-धीरे, कालान्तर में, इन दोनों में बड़ा भेद पड़ गया। इस समय इसका संस्कृत के अतिरिक्त और कोई चिह्न

शेष नहीं है। इसका समय प्रागैतिहासिक काल के ५०० ई० पू० तक कहा जाता है।

२. मध्य काल—इस काल की भाषा के बहुत उदाहरण मिलते हैं। पाली, अशोक की धर्म-लिपियों की भाषा, साहित्यिक प्राकृत, तथा अपभ्रंश भाषाएँ इस काल के अन्तर्गत आती हैं। भाषा के अवान्तर भेदों के कारण इस काल की भाषा भी तीन भागों में विभाजित की जाती है। इन भागों को हम **प्राचीन प्राकृत** (पाली), **मध्य प्राकृत** और **अन्त्य प्राकृत** (अपभ्रंश) कह सकते हैं। शिलालेखों तथा पुस्तकों की भाषा प्रथम दो प्रकार की है। पालि को सिंहलद्वीपी मागधी भी कहते हैं। इस में बौद्ध-धर्म के मूल ग्रन्थ, टीकाएँ, कथा-साहित्य, काव्य, कोष, व्याकरण आदि हैं। जैन-प्राकृतों में मागधी, अर्ध-मागधी, महाराष्ट्री, पैशाची तथा शौरसेनी भाषाएँ मिलती हैं। इनका समय ५०० ई० पू० से १००० ई० तक माना जाता है।

वर्तमान काल—इस काल का आरम्भ प्रायः १००० ई० से माना जाता है। मध्य युग की भाषाओं में ध्वनियाँ प्रचलित थीं, वही न्यूनाधिक इस समय की भाषा में पाई जाती हैं। पहले तीन लिंग थे; परन्तु अब केवल दो ही लिंग मिलते हैं। नपुंसक लिंग का ह्रास हो गया है; इसी प्रकार आठ विभक्तियों के स्थान पर अब केवल दो ही विभक्तियाँ—विकारी तथा अविकारी—पाई जाती हैं। क्रिया में कर्मवाच्य के रूप लुप्त हो गये हैं। अब 'जाना' सहायक क्रिया से उसका काम निकाला जाता है। क्रिया के अर्थों की बारीकी भी संयुक्त क्रियाओं द्वारा व्यक्त की जाती है। इस प्रकार प्राचीन युग की भाषा-सम्बन्धी जटिलता वर्तमान युग में घटती जा रही है। बोल-चाल की दृष्टि से इसके क्षेत्र में निम्नलिखित भाषाएँ हैं:-

१. लहन्दी—यह पंजाब के पश्चिमी भाग तथा पश्चिमोत्तर प्रदेश के पूर्वी भाग की भाषा है। इसमें साहित्य नहीं पाया जाता।

२. सिन्धी—यह सिन्ध देश की भाषा है। इसमें नाम मात्र का साहित्य पाया जाता है।

३. मराठी—यह महाराष्ट्र प्रान्त की भाषा है। इसमें अच्छा साहित्य पाया जाता है। इसमें टवर्ग की ध्वनियों का बाहुल्य है।

४. गुजराती—यह गुजरात, काठियावाड़ तथा कच्छ की भाषा है। गठन से यह राजस्थानी और पश्चिमी हिन्दी से बहुत कुछ मिलती जुलती है।

५. उड़िया—उड़ीसा प्रान्त की भाषा है। इसका साहित्य चार सौ साल पुराना है।

६. बिहारी—यह बिहार प्रान्त की भाषा है। इसमें मैथिली मगही तथा भोजपुरी, तीन बोलियाँ सम्मिलित हैं। भोजपुरी गोरखपुर तथा बनारस कमिश्नरी में भी बोली जाती है।

७. आसामी—यह आसाम प्रान्त की भाषा है। इसमें पुरान साहित्य पाया जाता है।

८. बंगाली—यह बंगाल प्रान्त की भाषा है। इसमें संस्कृत के शब्दों की प्रचुरता है और इसका सुन्दर साहित्य भी है।

९. राजस्थानी—यह राजस्थान की भाषा है। इसमें कई बोलियाँ हैं जिनमें मारवाड़ी और मेवाड़ी प्रमुख हैं।

१०. पञ्जाबी—यह पंजाब की भाषा है। इसका साहित्य पुराना नहीं है।

११. भीली—भीलों की भाषा है। राजपूताना, मध्य भारत, खानदेश आदि में यह भाषा बोली जाती है। इसे गुरुमुखी भी कहते हैं।

१२. पहाड़ी—हिमालय के निचले भाग में बोली जाती है। इसमें मध्य, पूर्वी, और पश्चिमी तीन बोलियाँ हैं। पश्चिमी बोली शिमला की ओर बोली जाती है। मध्य में गढ़वाली और कुमायूँनी का प्रचार है। पूर्वी बोली नेपाली है। इनमें भी परस्पर बड़ा अन्तर है।

१३. हब्शी—यह पश्चिम की ओर से आई हुई पुरानी जातियों की बोली है।

१४. सिंहली—यह सिंहल द्वीप, विशेषकर दक्खिनी भाग, की भाषा है।

१५. हिन्दी—यह बिहार, उत्तर प्रदेश, मध्य भारत, हिमालय के पहाड़ी प्रान्त तथा पंजाब की साहित्यिक भाषा है। इसका सविस्तार वर्णन अगले अध्याय में किया जायगा।

हिन्दी का स्थान

भाषाओं के वर्गीकरण से अब तो यह स्पष्ट हो गया होगा कि संसार की भाषाओं में हिन्दी का क्या स्थान है। हम यह तो जानते ही हैं कि जो भाषा आज हम बोल रहे हैं वह शताब्दियों के विकास का परिणाम है। उसके विकास और गठन से यह अनुमान लगाना सरल है कि वह आकृतिमूलक वर्गीकरण के अनुसार बहिर्मुखी विभक्ति-प्रधान भाषा है। इस समय वह इतनी व्यवहृत हो गई है कि उसमें व्यास और संयोग के पर्याप्त उदाहरण मिलते हैं। पारिवारिक वर्गीकरण के अनुसार वह भारत-यूरोपीय कुल के भारत-ईरानी उपकुल में भारतीय आर्य शाखा की आधुनिक भाषाओं में से एक मुख्य भाषा होती है। इस समय अँगरेजी तथा चीनी भाषा के बाद इसी भाषा के बोलने वाले अधिक हैं।

अध्याय ३

हिन्दी भाषा का विकास

भारतवर्ष में एक छोर से दूसरे छोर तक कई भाषाएँ बोली जाती हैं। स्थान तथा काल-भेद से उन भाषाओं में इतनी विभिन्नता पायी जाती है कि उन्हें एक परिवार की भाषा कहना कठिन हो जाता है। उत्तर और दक्षिण-भारत की भाषाओं में तो इतना अन्तर है कि दोनों एक देश की भाषा होने पर भी एक कुल की नहीं हैं। दक्षिण भारत में बोली जाने वाली भाषाएँ—तमिल, तेलगू, मलयालम तथा कनारी—द्रविड़-कुल से सम्बन्ध रखती हैं। उत्तर भारत की भाषाओं का सम्बन्ध भारत-यूरोपीय कुल से है। दोनों कुलों में शब्द, अर्थ तथा रचना की दृष्टि से महान अन्तर है। फिर भी हिन्दी एक ऐसी भाषा है जिसे भारत के अधिकांश निवासी बोलते और समझते हैं।

हमारी भाषा के लिए हिन्दी शब्द कब से प्रयुक्त हो रहा है, यह कहना कठिन है। संस्कृत, प्राकृत, अथवा आधुनिक भारतीय भाषाओं के किसी भी प्राचीन ग्रन्थ में इस शब्द का उल्लेख नहीं मिलता। भाषा-शास्त्रियों का कहना है कि यह फारसी भाषा से आया हुआ शब्द है। संस्कृत की 'स' ध्वनि फारसी में 'ह' के रूप में परिणत हो जाती है। अतः संस्कृत के सिन्धु, सिन्ध और सिन्धी शब्द फारसी में हिन्दू, हिन्द और हिन्दी हो जाते हैं। सिन्धु एक नदी को, सिन्ध एक देश को और सिन्धी उस देश के निवासी को कहते हैं; परन्तु हिन्दू से एक जाति, हिन्द से भारतवर्ष और हिन्दी से एक भाषा का बोध होता है।

हिन्दी शब्द का इतिहास

ऊपर की पंक्तियों से यह तो स्पष्ट है कि हिन्दी शब्द फारसी भाषा

का है और इसका अर्थ 'हिन्द का' होना है। इस दृष्टि से फारसी ग्रन्थों में यह शब्द, हिन्द देश के निवासी और हिन्द-देश की भाषा, दोनों अर्थों में आता है। यह हिन्दी शब्द का व्यापक अर्थ है। व्यावहारिक दृष्टि से हिन्दी उस

हिन्दी शब्द के भिन्न-भिन्न अर्थ

बड़े भू-भाग की भाषा मानी जाती है जिसकी सीमा पश्चिम में जैसलमेर, उत्तर-पश्चिम में अम्बाला, उत्तर में शिमला नेपाल के पूर्वी छोर तक के पहाड़ी प्रदेश, पूर्व में भागलपुर, दक्षिण पूर्व में रायपुर तथा दक्षिण-पश्चिम में खँडवा तक पहुँचती है। इस भू भाग में हिन्दुओं के पत्र-व्यवहार, आधुनिक साहित्य, पत्र-पत्रिकाओं, शिष्ट बोल चाल तथा स्कूली शिक्षा की भाषा एक मात्र खड़ी बोली हिन्दी है। इसके अतिरिक्त मारवाड़ी, ब्रज, छत्तीसगढ़ी, भोजपुरी, मगही, मैथिली, अवधी पहाड़ी आदि सभी हिन्दी के अन्तर्गत आती हैं और उसकी विभाषाएँ तथा बोलियाँ मानी जाती हैं। शास्त्रीय दृष्टि से यह अर्थ सर्वमान्य नहीं है। भाषातत्त्ववेत्ताओं का कहना है कि हिन्दी केवल उस खंड की भाषा है जिसे प्राचीन काल में मध्य देश अथवा अन्तर्वेद कहते थे। इस प्रकार हिन्दी केवल उस भू-खण्ड में बोली जाती है जिससे उत्तर में हिमालय की तराई, दक्षिण में नर्मदा की घाटी, पूर्व में कानपुर और पश्चिम में दिल्ली तथा उसके निकट के प्रान्त हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से हिन्दी दो भागों में विभाजित की गई है। एक पश्चिमी हिन्दी और दूसरी पूर्वी हिन्दी। पश्चिमी हिन्दी शौरसेनी की वंशज है और पूर्वी हिन्दी अर्ध-मागधी की। ग्रियर्सन तथा चटरजी आदि ने हिन्दी को पश्चिमी हिन्दी के अर्थ में व्यवहार किया है। इसके अन्तर्गत ब्रज, कन्नौजी, बुन्देली, बाँगरू और खड़ी बोली आदि विभाषाएँ आती हैं।

हिन्दी भाषा के अध्ययन से यह तो स्पष्ट है कि अन्य आधुनिक आर्य भाषाओं के समान हिन्दी भाषा का जन्म भी आर्यों की प्राचीन भाषा से हुआ है। भारतीय आर्यों की तत्कालीन भाषा धीरे-धीरे हिन्दी के रूप

हिन्दी भाषा की उत्पत्ति

में कैसे परिवर्तित हो गई, इस सम्बन्ध में दो मत प्रकट किये जाते हैं। एक मत के अनुसार हिन्दी का जन्म संस्कृत से, और दूसरे मत के अनुसार उसका जन्म प्राकृत से हुआ है। अधिकतर लोगों का विचार द्वितीय मत पर जमता है। यह मत इस अनुमान पर अवलम्बित है कि भारत मे आर्यों का आगमन एक टोली में नहीं वरन् सम्भवतः दो टोलियों में हुआ। एक टोली काबुल की घाटी के मार्ग से आई, और दूसरी गिलगित तथा चितराल होते हुए दक्षिण की ओर चली गयी। भाषा तथा सभ्यता के विचार से दूसरी टोली पहली टोली से श्रेष्ठ थी और उस भू-भाग में निवास करती थी जो उत्तर में हिमालय से विन्ध्याचल तक और सरस्वती नदी के लुप्त होने के स्थान से प्रयाग तक फैला हुआ है। इस भू-भाग के चारों ओर पूर्वागत आर्यों की बस्ती थी। वेदों की भाषा के अध्ययन से यह अनुमान लगाया जाता है कि उनका सम्पादन भी इसी भू भाग के पश्चिम अर्थात् पूर्वी भाग और गङ्गा के उत्तरी भाग में हुआ था। ऋग्वेद का रचना-काल ईसा से एक सहस्र वर्ष से भी अधिक पहले का माना जाता है। इसकी भाषा पुरानी संस्कृत है। इससे भिन्न आदिम निवासियों की भाषा पहली प्राकृत के नाम से प्रसिद्ध थी। आर्य श्रेष्ठ थे। इसलिए उन्होंने अपनी संस्कृत को आदिम निवासियों के सम्पर्क में आने से बचाने के अभिप्राय से अपने समाज को तो नियमबद्ध किया ही, साथ ही भाषा का भी संस्कार किया। ३०० ई० पू० पाणिनि ने उसको इतना नियमबद्ध किया कि उसमें परिवर्तन होना ही बन्द हो गया। आर्यों की भाषा का यह साहित्यिक रूप संस्कृत के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस प्रकार वर्तमान संस्कृत साहित्य का जन्म हुआ। यह भाषा पुरानी वेदवाली संस्कृत से कुछ-कुछ भिन्न है।

आर्यों ने अपनी भाषा का संस्कार तो कर लिया, परन्तु उसका स्वाभाविक प्रवाह रोकना उनकी शक्ति के बाहर की बात थी। उन्होंने पुरानी प्राकृत को संस्कृत में नहीं घुसने दिया, परन्तु समय पाकर

आर्यों तथा अनार्यों के सम्पर्क की विशेष वृद्धि से स्वयं संस्कृत पुरानी प्राकृत में घुसने लगी और इस प्रकार पुरनी प्राकृत बढ़ते-बढ़ते मध्यवर्त्तिनी प्राकृत अर्थात् पाली भाषा हो गई। इस भाषा में बुद्ध भगवान् ने उपदेश देकर इसका इतना प्रचार किया कि यह जन-साधारण की भाषा हो गयी। संस्कृत कठिन होने के कारण सर्वसाधरण की भाषा न रह सकी और स्वयं आर्य लोग भी प्राकृत या पाली बोलने लगे। इस प्रकार संस्कृत केवल पुस्तकों की भाषा रह गयी। पाली का जनता में प्रचार हो गया।

जन- समुदाय जितना ही संगठित होता है, भाषा उतनी ही गठी हुई, सुश्लिष्ट हो जाती है। इसके विरुद्ध समाज की श्रृङ्खला जितनी ही ढीली होती है, भाषा के अंगों में उतनी ही शिथिलता आ जाती है। बौद्ध काल में समाज का संगठन होने पर पाली भाषा का जो स्वरूप स्थिर हुआ, वह समाज के शिथिल होने पर स्थायी न रह सका। व्यक्तिगत स्वतंत्रता तथा सामाजिक प्रभाव के कारण उसमें भी परिवर्तन होने लगा और समय पाकर उसके मागधी, शौरसेनी, महाराष्ट्री आदि कई रूप हो गये। इन्हीं भाषाओं को अब प्राकृत कहते हैं, परन्तु वास्तव में यह प्राकृत का तृतीय रूप है। पाली प्राचीन प्राकृत का द्वितीय रूप था। अब हमें इन प्राकृतों के साहित्यिक रूपों के नमूने बौद्ध, जैन तथा अन्य प्राकृत-ग्रंथों में मिलते हैं।

वैयाकरण भाषा के स्वाभाविक प्रवाह के अवरोधक होते हैं। राजनीतिक प्रभुता, साहित्यिक श्रेष्ठता, जनगण के प्रभाव तथा उसकी शक्ति के कारण जब एक बोली किसी साहित्यिक भाषा को दबाकर आगे बढ़ने लगती है तब वैयाकरण उसे अपने नियमों में जकड़कर उसकी धारा रोक देते हैं। इस प्रकार एक साहित्यिक भाषा का आविर्भाव होता है; परन्तु केवल शिष्ट समाज से सम्बन्ध रखने के कारण उसका लगाव जन-साधारण से नहीं रहता। इसलिए जिन बोलियों के आधार पर कोई साहित्यिक भाषा बनती है उनका स्वाभाविक रूप से विकास

होता है। यही कारण था कि कालान्तर में प्राकृतों का क्षेत्र भी संकुचित होता गया और उस समय की बोलियाँ अपभ्रंश के नाम से प्रसिद्ध हो गयीं।

प्राकृतों के मृत होने पर अपभ्रंशों का भाग्योदय हुआ और उन्होंने साहित्यिक रूप ग्रहण करना आरम्भ किया। साहित्यिक अपभ्रंशों के लेखक प्राकृतों को अपभ्रंश का आधार मानते थे और तत्कालीन बोली के आधार पर आवश्यक परिवर्तन करके साहित्यिक प्राकृतों को ही अपभ्रंश बना लेते थे। अपभ्रंश-साहित्यिक की रचना जनता की बोलचाल में नहीं होती थी। इस प्रकार, प्रत्येक प्राकृत का एक अपभ्रंश हो गया, जैसे शौरसेनी-प्राकृत का शौरसेनी-अपभ्रंश, मागधी-प्राकृत का मागधी अपभ्रंश, और महाराष्ट्री प्राकृत का महाराष्ट्री अपभ्रंश। इनके नाम नागर ब्राचड़ तथा उपनागर थे। इनमें नागर अपभ्रंश मुख्य था। वह गुजरात के नागर ब्राह्मणों की भाषा थी। कदाचित् उन्हीं के प्रभाव से अक्षरों का नाम नागरी पड़ गया।

पहले बताया जा चुका है कि भाषा की गति सर्वत्र और सदा एक-सी नहीं रहती। स्थान तथा कालभेद से उसमें परिवर्तन होते रहते हैं। संस्कृत और प्राकृत विभक्तियुक्त संश्लेषणात्मक भाषाएँ थीं। उनमें एक शब्द से एक संकीर्ण अर्थ प्रकट किया जाता था। अपभ्रंशों में संस्कृत और दोनों प्राकृतों से यह भेद हो गया कि अपभ्रंश विश्लेषात्मक भाषा हो गयी। उसमें एक अर्थ में प्रकट करने के लिए अनेक शब्दों के प्रयोग किये जाने लगे। कारकों का अर्थ प्रकट करने के लिए शब्दों में विभक्तियों के स्थान पर अन्य शब्द आ गये और क्रिया के रूपों से सर्वनामों का बोध होना मिट गया। इस प्रकार भाषा समास से व्यास प्रधान हो गयी। हमारी भाषा हिन्दी का जन्म इन्हीं अपभ्रंशों से हुआ। इस समय उसके दो रूप पाये जाते हैं। एक पश्चिमी हिन्दी और दूसरी पूर्वी हिन्दी। शौरसेनी अपभ्रंश से पश्चिमी हिन्दी और मागधी अपभ्रंश से पूर्वी हिन्दी का विकास हुआ है। अवधी भाषा शौरसेनी और मागधी के

मिश्रण से बनी है। हिन्दी की उत्पत्ति का यही संक्षिप्त इतिहास है।

हिन्दी भाषा ने कब जन्म लिया, यह निर्णय करना कठिन ही नहीं वरन असम्भव है; परन्तु इसमें तो सन्देह ही नहीं कि हिन्दी का विकास क्रमशः प्राकृत और अपभ्रंश के अनन्तर हुआ है। अपभ्रंशों का समय आठवीं शताब्दी से लेकर बारहवीं शताब्दी तक माना जाता है। भाषा-शास्त्रियों का कहना है कि इसी समय में हिन्दी भाषा का अंकुर जन्मा है। इतना जान लेने पर भी हम हिन्दी और अपभ्रंश के बीच कोई विभाजक रेखा नहीं खींच सकते। सन्धि-काल की भाषा का हमारे पास कोई प्रमाण नहीं है। बारहवीं शताब्दी के अन्तिम अर्द्ध भाग में हेमचन्द्र का प्राकृत व्याकरण मिलता है। चन्द बरदाई भी लगभग इसी समय हुआ है। उसके ग्रंथ पृथ्वीराज रासो की रचना से यह ज्ञात होता है कि उसकी भाषा हेमचन्द की भाषा से नवीन है। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि हेमचन्द के समय पूर्वी हिन्दी का विकास होने लगा था और चन्द के समय तक उसका कुछ-कुछ रूप स्थिर हो चुका था। ऐसी दशा में हिन्दी का आदि काल सम्वत् ११०० के लगभग माना जा सकता है। अपनी सुविधा की दृष्टि से हम उस समय से अब तक का समय तीन कालों में विभक्त कर सकते हैं:—

हिन्दी भाषा का विकास

१. आदि काल—हिन्दी भाषा के विकास का यह काल सम्वत् ११०० से सम्वत् १३०० तक माना जाता है। इन दो सौ वर्षों में हिन्दी भाषा ने जो उन्नति की है उसके अध्ययन से पता चलता है कि चन्द का पृथ्वीराज रासो हिन्दी भाषा का आदि ग्रंथ है। यद्यपि उसके पूर्व कई हिन्दी कवियों के नाम मिलते हैं तथापि उनमें से किसी की रचना का कोई उदाहरण नहीं मिलता। ऐसी दशा में उन्हें हिन्दी भाषा का आदि कवि मानना उचित नहीं है। यही कारण है कि हिन्दी भाषा के विकास का क्रम पृथ्वीराज रासो के आधार पर निश्चित किया जाता

है। इसमें सन्देह नहीं कि रासो में प्रक्षिप्त अंश बहुत हैं, पर साथ ही उसमें प्राचीनता के चिह्न कम नहीं है। इसके अध्ययन से हिन्दी भाषा के प्रारम्भिक स्वरूप का पता चलता है। बुन्देलखंड के प्रतापी राजा परमाल के दरबारी कवि जगनिक ने आल्हा की रचना की। यह ग्रंथ अब उपलब्ध नहीं है, परन्तु उत्तरप्रदेश और बुन्देलखंड में यह बराबर गाया जाता है। लिखित प्रति के अभाव में इसका रूप सर्वथा आल्हा गानेवालों की स्मृति पर निर्भर होने के कारण इसमें बहुत-कुछ प्रक्षिप्त अंश भी मिल गये हैं। इन दोनों ग्रंथों के विषय से यह ज्ञात होता है कि हिन्दी का जन्म भारत में उस समय हुआ जब मुसलमानों के आक्रमणों से तत्कालीन राजनीतिक परिस्थिति में बहुत उलट-फेर हो रहा था। उस समय भारतीयों का जान-माल की रक्षा की ओर ध्यान था। उनकी भाषा किस ओर जा रही है, इसकी उन्हें चिन्ता नहीं थी। वास्तव में उन्हें उस समय ऐसे कवियों की आवश्यकता थी जिनकी रचनाओं में जादू हो और जो उन्हें अपने देश और धर्म पर मर मिटने का सन्देश दें। इतना ही नहीं, उनमें इतनी शक्ति भी हो जो रण-भूमि में उनके साथ अपने हाथ का जौहर भी दिखा सकें। चन्द और जगनिक इसी कोटि के कवि थे। उन्होंने जनता की तत्कालीन भाषा में जो साहित्य तैयार किया उसमें जनता को स्फूर्ति तो मिली ही, साथ ही हिन्दी भाषा का स्वरूप भी स्थिर हो गया। हिन्दी साहित्य में यही काल वीरगाथा काल के नाम से प्रसिद्ध है।

२. **मध्य काल**—यह काल सम्वत् १३०० से आरम्भ होता है और सम्वत् १८०० तक चलता है। भाषा के विचार से इस काल को हम दो भागों में विभाजित कर सकते हैं। एक सम्वत् १३०० से १५०० तक और दूसरा सम्वत् १५०० से १८०० तक।

[**अ**] सम्वत् १३०० से १५०० तक के समय से हिन्द की पुरानी बोलियाँ क्रमशः ब्रज भाषा, अवधी तथा खड़ी बोली का रूप धारण करती हैं।

[ग] सम्वत् १५०० से १८०० तक के समय में ब्रज भाषा तथा अवधी साहित्यिक रूप धारण करती हैं और उनमें प्रौढ़ता आती है। इस काल में सूर और तुलसी ने ब्रजभाषा और अवधी को जो गौरव प्रदान किया, वह अकथनीय है। सूरसागर और रामचरित मानस का महत्त्व क्या कभी घटाया जा सकता है? कबीर तथा अन्य सन्त कवियों ने अपनी वाणी-द्वारा भाषा को जो आशीर्वाद दिया क्या वह कभी असत्य सिद्ध हो सकता है? सूफी कवियों की दार्शनिकता की मिठास क्या कभी फीकी पड़ सकती है? देव, बिहारी, मतिराम, पद्माकर, घनानन्द आदि शृंगारी कवियों ने भाषा को जो सरसता प्रदान की, क्या वह कभी मानव-हृदय में रस का सञ्चार करने से बाज आ सकती है? भूषण की ओजस्विनी वाणी क्या कभी मन्द हो सकती है? कहने का तात्पर्य यह है कि इस काल में हिन्दीभाषा ने जो भी उन्नति की वह प्रत्येक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। यह तो रही पद्य की बात। गद्य का तेरहवीं-शताब्दी से पहले कोई पता नहीं चलता। मारवाड़ की कुछ सनदों में वहाँ के नमूने मिलते हैं। पन्द्रहवीं शताब्दी में बाबा गोरखनाथ ने ब्रजभाषा में गद्य लिखा है। सत्रहवीं शताब्दी में गोस्वामी विट्ठलनाथ, गङ्गाभाट, गोकुलनाथ, महात्मा नाभादास तथा जटमल की गद्य रचनाएँ मिलती हैं। इनमें कुछ ऐसी रचनाएँ हैं जिनमें खड़ी बोली का पुट दिया गया है। अठारवीं शताब्दी में देव, दास, सूरत मिश्र, ललितकिशोरी आदि ने ब्रजभाषा गद्य ही में रचना की। इस प्रकार इस काल में जो गद्य-साहित्य हिन्दी भाषा में निर्माण किया गया वह केवल ब्रजभाषा में था और उसमें संस्कृत के तद्भव शब्दों का ही बाहुल्य था।

३. वर्तमान काल—हिन्दी भाषा के विकास में अठारहवीं शताब्दी से वर्तमान काल का प्रदुर्भाव होता है। इस काल के प्रथम चरण में मुसलमानों के शासन का अन्त और अंग्रेजी सत्ता का आरम्भ होता है। इसलिए राजनीतिक परिवर्तन के साथ-साथ भाषा भी अपना रूप बदलती है। मध्यकाल में ब्रजभाषा की प्रधानता थी

वर्तमान काल में खड़ी बोली ने उसका स्थान ले लिया। यह मेरठ के आस-पास की बोली थी। और लगभग तेरहवीं शताब्दी ही से उत्तर भारत की प्रधान भाषा बनने के लिए उत्सुक हो रही थी। अठारहवीं शताब्दी आरम्भ होते ही इसने ब्रजभाषा और अवधी को पछाड़ कर अपना कदम आगे बढ़ाया। पहले-पहल लल्लूलाल ने अपने ग्रन्थ प्रेमसागर में इसे स्थान दिया। प्रेमसागर में खड़ी बोली का शुद्ध रूप नहीं है। इसके अध्ययन से पता चलता है कि उस समय खड़ी बोली का रूप स्थिर हो रहा था। सदल मिश्र तथा इंशाअल्ला खाँ की रचनाओं से भी यही बात सिद्ध होती है। राजा शिवप्रसाद के समय में खड़ी बोली अपने विशुद्ध रूप में आता है। उनकी भाषा में अरबी तथा फारसी शब्दों की भरमार है। इसके विपरीत उनके समकालीन राजा लक्ष्मणसिंह की भाषा में संस्कृत के तत्सम शब्दों की प्रधानता है। भारतेन्दु के समय में हम भाषा में दोनों रूपों का सम्मिलन पाते हैं। इस दृष्टि से वही आधुनिक-हिन्दी भाषा के पथ प्रदर्शक हैं। उन्होंने हिन्दी भाषा की तत्कालीन खड़ी बोली का रूप स्थिर करने के लिए लल्लूलाल के ब्रजभाषापन, मुन्शी सदासुखलाल के पंडिताऊपन, सदल मिश्र के पूर्वीपन, इंशाअल्ला खाँ के चुलबुलेपन, राजा शिवप्रसाद के उर्दूपन तथा राजा लक्ष्मणसिंह के संस्कृतपन को हटाकर अपना मध्य मार्ग निकाला; परन्तु उसमें भी अव्यावहारिकता, अशुद्धता और शिथिलता थी। पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी ने भाषा की इन समस्त त्रुटियों को दूर करके उसे परिष्कृत किया। आज के लेखक और कवि उन्हीं की शैली का अनुसरण कर रहे हैं।

ऊपर जो कुछ लिखा गया है, उसका सम्बन्ध हमारी साहित्यिक भाषा से है। बोल-चाल में अबतक अवधी, ब्रजभाषा और खड़ी बोली, अनेक स्थानीय भेदों तथा उपभेदों के साथ प्रचलित हैं; परन्तु शिक्षित वर्ग में बोल-चाल की भाषा खड़ी बोली ही है।

इसी खड़ी बोली को स्वतंत्र भारत ने राष्ट्रभाषा घोषित किया

है। इसमें तो सन्देह ही नहीं किया जा सकता कि यदि कोई भाषा भारत की राष्ट्रभाषा हो सकती है तो वह हिन्दी ही है। इसका कारण है उसकी व्यापकता। भारत के अधिकांश भाग में जो बोलियाँ बोली जाती हैं उन सबके वह निकट है। भाषा-शास्त्रियों के विचार से हिन्दी के दो मुख्य भाग किये गये हैं। एक भाग को पूर्वी हिन्दी और दूसरे भाग को पश्चिमी हिन्दी कहते हैं। यद्यपि इन दोनों भागों में शब्द, रचना और इतिहास की दृष्टि से न्यूनाधिक विभिन्नता पाया जाती है, तथापि राष्ट्रीयताकी दृष्टि से उनमें एकता है। खड़ी बोली, बाँगरू, ब्रज, कन्नौजी तथा बुँदेली बोलियाँ पश्चिमी हिन्दी के अन्तर्गत आती हैं। अवधी, बघेली, तथा छत्तीसगढ़ी का सम्बन्ध पूर्वी हिन्दी से स्थापित किया जाता है। खड़ी बोली रियासत रामपुर, मुरादाबाद, बिजनौर, मेरठ मुजफ्फरनगर, सहारनपुर, देहरादून के मैदानी भाग, अम्बाला, कलसिया तथा पटियाला रियासत के पूर्वी भाग में बोली जाती है। बाँगरू दिल्ली, करनाल, रोहतक हिसार, पटियाला, नाभा और भींद में बोली जाती है। एक प्रकार से यह पंजाबी और राजस्थानी खड़ी बोली है। ब्रजभाषा मथुरा, आगरा, अलीगढ़ तथा धौलपुर में अपने विशुद्ध रूप में बोला जाती है। गुड़गाँव, भरतपुर, करौली तथा ग्वालियर के पश्चिमी भाग में, इसमें राजस्थानी और बुन्देली की कुछ-कुछ झलक आने लगती है। बुलन्दशहर, बदायूँ तथा नैनीताल की तराई में खड़ी बोली का प्रभाव शुरू हो जाता है, एटा, मैनपुरी और बरेली जिलों में कुछ कनौजीपन आ जाता है। कन्नौजी का क्षेत्र ब्रजभाषा और अवधी के मध्य में है। यह फर्रुखाबाद, हरदोई, शाहजहाँपुर, पीलीभीत, इटावा तथा कानपुर के पश्चिमी भाग में बोली जाती है। बुंदेली झाँसी, जालौन, हमीरपुर, ग्वालियर, भूपाल, ओड़छा, सागर, नृसिंहपुर, सिउनी तथा हुशंगाबाद में बोली जाती है। दतिया, पन्ना, चरखारी, दमोह, बालाघाट तथा छिन्दवाड़ा में यह मिश्रित रूप में बोली जाती है। अवधी लखनऊ, रायबरेली

उन्नाव, सीतापुर, खीरी, फैजाबाद, गोंडा, बहराइच, सुलतानपुर, प्रतापगढ़, बाराबंकी, इलाहाबाद, फतेहपुर, कानपुर, मिर्जापुर तथा जौनपुर के कुछ भागों में बोली जाती है। **बघेली** रीवाँ राज्य, दमोह, जबलपुर, मंडला तथा बालाघाट के जिलों तक बोली जाती है। **छत्तीसगढ़ी** मध्यप्रान्त में रायपुर, बिलासपुर, काँकेर, नन्दगाँवा, खैरगढ़, रायगढ़, कोरिया, सरगुजा, उदयपुर तथा जयपुर में बोली जाती है। **भोजपुरी** बनारस, गाजीपुर, आजमगढ़, मिर्जापुर, जौनपुर गोरखपुर, बस्ती, शाहाबाद, चम्पारन, सारन तथा छोटानागपुर तक बोली जाती है। **बंगाली** उसी मागधी के अपभ्रंश की प्रतिछाया है जिससे बिहारी हिन्दी की कुछ उप-भाषाएँ निकली हैं। विद्यापति की रचनाएँ हिन्दी और बँगला का अच्छा सम्बन्ध दिखाती हैं। **पुरानी गुजराती** तो पुरानी हिन्दी से बहुत कुछ मिलती-जुलती है। गुजराती की पुरानी कविता ब्रजभाषा की कविता से टक्कर लेती है। **मराठी** और हिन्दी में बहुत कम भेद है। इस प्रकार ये समस्त प्रान्तिक भाषाएँ सामान्य रूप से हिन्दी से सम्बन्ध रखती हैं। उर्दू उसी का रूपान्तर है। अतएव उसकी व्यापकता में किसी को सन्देह नहीं हो सकता।

हिन्दी भाषा के आधुनिक साहित्यिक रूप

इस समय भारत में हिन्दी भाषा के तीन साहित्यिक रूप प्रचलित हैं जिन्हें **हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी** कहते हैं। हिन्दी का सविस्तार विवरण इसी अध्याय में अन्यत्र दिया जा चुका है। अतएव यहाँ उसके केवल दो अन्य साहित्यिक रूपों की संक्षेप में चर्चा की जाती है।

उर्दू—यह आधुनिक साहित्यिक हिन्दी का दूसरा साहित्यिक रूप है। इसका व्यवहार उत्तर भारत के समस्त पढ़े-लिखे मुसलमानों, उनसे अधिक सम्पर्क में आनेवाले पंजाबी देसी काश्मीरी तथा पुराने कायस्थों आदि में पाया जाता है। व्याकरण की दृष्टि से दोनों में कोई अन्तर नहीं है, परन्तु साहित्यिक वातावरण, शब्द-समूह तथा लिपि की दृष्टि से दोनों में महान अन्तर है। हिन्दी शब्दावली पर संस्कृत का प्रभाव है और

उर्दू की शब्दावली पर फारसी तथा अरबी का। क्रिया और सर्वनाम की दृष्टि से दोनों एक ही हैं। वास्तव में हिन्दी उस समय उर्दू हो जाती है जब वह फारसी तथा अरबी के तत्सम तथा अर्ध-तत्सम शब्दों को इतना अपना लेती है कि कभी-कभी उसकी वाक्य-रचना पर विदेशी रंग चढ़ जाता है। तुर्की भाषा में उर्दू शब्द का अर्थ बाजार है। इसलिए आरम्भ में उर्दू बाजारू भाषा थी। वह शाही फौजी बाजारों में बोली जाती थी। मुसलमान उस समय फारसी और अरबी जानते थे। हिन्दुओं की भाषा से वे परिचित नहीं थे। इसलिए पग-पग पर उन्हें कठिनाई होती थी ऐसी दशा में एक ऐसी भाषा की आवश्यकता थी जो भाषा के विचार से दोनों में मेल-जोल स्थापित करा सके। खड़ी बोली के सहारे शाही फौजी बाजारू भाषा—उर्दू—ने अपने पैरों पर खड़े होकर यह आवश्यकता पूरी कर दी और इस प्रकार वह मुसलमानों की भाषा बन गयी।

उर्दू का साहित्य में प्रयोग दक्षिण के मुसलमानी दरबारों में हुआ। उस समय तक दिल्ली आगरा के दरबार में साहित्यिक भाषा का स्थान फारसी को प्राप्त था। इसलिए उर्दू हेय समझी जाती थी, परन्तु दक्षिण में जनता की भाषाएँ द्रविड़ वंश की थीं। इसलिए उर्दू का वहाँ विशेष आदर हुआ। कालान्तर में वह दिल्ली और लखनऊ पहुँची। इन दोनों स्थानों में उसका रूप निखर आया और वह मुसलमानों की साहित्यिक भाषा बन गयी। आज साम्प्रदायिक कारणों से उर्दू हिन्दी से टक्कर ले रही है। कहा नहीं जा सकता कि इसका भविष्य क्या होगा।

हिन्दुस्तानी—यह आधुनिक हिन्दी का तीसरा रूप है। इस रूप का नाम, हिन्दुस्तानी, युरोप-निवासियों का दिया हुआ है। यह विशाल हिन्दी प्रान्त के लोगों की परिमार्जित बोली है। इसमें तत्सम शब्दों का व्यवहार कम होता है, परन्तु नित्य व्यवहार के शब्द, देशी तथा विदेशी सभी, काम आते हैं। इसका मूलाधार भी खड़ी बोली है। एक विद्वान् का कहना है कि पुरानी हिन्दी, उर्दू तथा अँगरेजी के मिश्रण से जो एक नयी भाषा आप से-आप बन गयी वह हिन्दुस्तानी है। यह भाषा

केवल बोल-चाल की बोली है। इसमें कोई साहित्य नहीं है। आजकल कुछ लोग, राष्ट्रीयता के विचार से, इसे साहित्यिक रूप देना चाहते हैं।

इस अध्याय में हिन्दी भाषा के विकास की रूप-रेखा अङ्कित करते हुए खड़ी बोली का कई बार उल्लेख किया गया है। इसलिए यहाँ उसका संक्षिप्त परिचय देना अनुचित न होगा। हिन्दी भाषा सम्बन्धी अबतक के विवरण से यह तो भली-भाँति स्पष्ट हो गया होगा कि खड़ी बोली हिन्दी की एक विभाषा है, परन्तु आज वही राष्ट्र की भाषा है। उसके सामने ब्रजभाषा तथा अवधी प्राचीन साहित्यिक भाषाएं समझी जाती हैं।

खड़ी बोली का संक्षिप्त परिचय

यह एक विचित्र बात है कि जहाँ अन्य भाषाएँ भिन्न-भिन्न प्रदेशों में बोली जाने के कारण उस प्रदेश के नाम से प्रसिद्ध हुईं, वहाँ खड़ी बोली का नाम सबसे भिन्न जान पड़ता है। इसका नामकरण किसी प्रदेश के नाम पर नहीं हुआ है। हिन्दी साहित्य में यह नाम पहले-पहल लल्लूलाल ने प्रेमसागर की भूमिका में दिया है। मुसलमानों ने जब इसे अपनाया तब इसका नाम रेख़ता पड़ गया। रेख़ता का अर्थ गिरता या पड़ता है। उस समय यह भी गिरी या पड़ी हुई भाषा थी। सम्भव है कि रेख़ता नाम के विरोधियों ने उस भाषा को गौरव प्रदान करने के विचार से खड़ी बोली कहना उचित समझा हो। कुछ लोगों का कहना है कि खड़ी शब्द 'खरी' (टकसाली) का बिगड़ा रूप है। जो भी हो, नामकरण का कोई प्रामाणिक कारण अब तक उपलब्ध नहीं हुआ है। सामान्य अर्थ में ब्रजभाषा, अवधी आदि साहित्यिक भाषाओं से भेद दिखाने के लिए आधुनिक साहित्यिक हिन्दी को खड़ी बोली कहते हैं। मूल अर्थ में खड़ी बोली से तात्पर्य उस बोली से है जो मेरठ तथा दिल्ली के आस-पास के प्रदेशों में बोली जाती है। उसकी उत्पत्ति के विषय में यह माना जाता है कि इसका विकास शौरसेनी अपभ्रंश से हुआ है।

अब हमें यह देखना है कि हिन्दी भाषा पर विदेशी भाषाओं का

क्या प्रभाव पड़ा है। हिन्दी भाषा के विकास-क्रम पर दृष्टिपात करने से यह भली-भाँति स्पष्ट हो जाता है कि वह फ़ारसी अरबी तथा अङ्गरेजी भाषा से अधिक प्रभावित हुई है। इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं कर सकता कि विजेता चाहे जिस जाति का क्यों न हो, वह विजित जातियों पर अपना आतङ्क स्थापित करने के लिए अपनी भाषा और अपनी संस्कृति का प्रचार आवश्य करता है। इस प्रकार के प्रचार के फलस्वरूप तत्कालीन जीवित भाषा एवं संस्कृति में क्रमशः परिवर्तन होने लगते हैं। कभी-कभी तो यह परिवर्तन इतना भयंकर होता है कि विजितों की भाषा का स्वरूप, ही बदल जाता है और वह नये रूप में बड़े सजधज के साथ विदेशी अलंकारो में जनता के सामने आती है। ऐसी दशा में, भाषा में, शब्दों ही का मेल-जाल नहीं होता; शब्दों के साथ-साथ भाषा की गठन, उसकी शैली तथा उसके साहित्य पर भी प्रभाव पड़ता है। इस प्रकार के प्रभाव का निर्णय करना किसी विद्वान के बस की बात नहीं है। भाषा में कभी किसी की आज्ञा से परिवर्तन नहीं होता। वस्तुतः उस पर किसी की नादिरशाही का प्रभाव पड़ ही नहीं सकता। वह तो स्वाभाविक गति से चलती है। उसके क्षेत्र में विशुद्ध प्रजातंत्र है। वह साधारण जनता की सम्पत्ति है। साधारण जनता ही विजातीय शब्दों में परिवर्तन आदि करती है। जिस विजातीय शब्द को जिस रूप में ग्रहण करना जनता आवश्यक समझती है उसी रूप में वह उसे ग्रहण करके शिष्ट एवं साहित्यिक भाषा में प्रयोग करने योग्य बना देती है। शब्दों के आगमन तथा संस्कार की यही पद्धति है, परन्तु कुछ लोग इसकी उपेक्षा भी कर बैठते हैं। ऐसा वह यह समझकर करते हैं कि भाषा में उनकी नादिरशाही चल सकती है। वे यह भूल जाते हैं कि भाषा पर उनका नहीं, जनता का—शिक्षित और अशिक्षित, दोनों का—समान रूप से अधिकार है। जनता जिन विदेशी शब्दों में संस्कार की आवश्यकता समझती है, उनमें वह स्वयं संस्कार कर देती है। इसके लिए

हिन्दी भाषा पर विदेशी प्रभाव

वह किसी से पूछने नहीं जाती, कोई गोष्ठी नहीं बनाती। इनमें व्यक्तिगत नहीं जनता की सामूहिक शक्ति काम करती है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि विजातीय शब्द तत्सम रूप ही में ले लिये जाते हैं। ऐसा तब होता है जब उनमें परिवर्तन की कोई आवश्यकता नहीं समझी जाती।

ऊपर की पंक्तियों में किसी देश की भाषा पर विजातीय भाषा के प्रभाव की जो विवेचना की गयी है उसके प्रकाश में हिन्दी भाषा पर विदेशी भाषाओं का प्रभाव समझने में सरलता होती है। यह तो पहले ही बताया जा चुका है कि हिन्दी भाषा पर अरबी, फारसी तथा यूरोपीय भाषाओं का अधिक प्रभाव पड़ा है। शब्द-समूह के विचार से प्रत्येक भाषा एक प्रकार से खिचड़ी होती है। किसी भी भाषा के सम्बन्ध में यह निश्चय रूप से नहीं कहा जा सकता कि वह अपने विशुद्ध रूप में आज तक चली आती है। भाषा का मिश्रित होना उसका स्वभाव है। उसमें अपने वंश के शब्द तो रहते ही हैं, बाहर से भी आकर बहुत से शब्द उसमें घुल-मिल जाते हैं। ऐसे विदेशी शब्द प्रायः दो प्रकार के होते हैं। पहले प्रकार में उन शब्दों का समावेश होता है जो विदेशी संस्थाओं से आते हैं। इन संस्थाओं से कचहरी, सेना, स्कूल तथा धर्म आदि का सम्बन्ध रहता है। दूसरे प्रकार के शब्द नयी वस्तुओं के नाम होते हैं। इस प्रकार हिन्दी शब्द-समूह में फारसी, अरबी, तुर्की, पश्तो, अँग्रेजी, पुर्तगाली, फ्रांसीसी तथा डच भाषा के शब्द पाये जाते हैं। हिन्दी के लेखक और कवि अपनी रचनाओं में इन भाषाओं के शब्दों को स्वतन्त्रतापूर्वक प्रयुक्त करते हैं। सूर, तुलसी, कबीर आदि मुसलमानों के शासन-काल में हुए थे। इसलिए उनकी रचनाओं में फारसी के तद्भव शब्द बहुत पाये जाते हैं। इतना ही नहीं, उस समय के लेखकों ने विदेशी भाषा की बहुत सी कहावतें तथा मुहावरे भी अपना लिये हैं। इसी प्रकार हिन्दी भाषा के वाक्य-विन्यास तथा उसकी शैली पर भी विदेशी प्रभाव पड़ा है।

अध्याय ४

हिन्दी साहित्य का विकास

साहित्य का अर्थ

पहले अध्याय में भाषा और साहित्य का सम्बन्ध स्थापित करते हुए यह बताया जा चुका है कि ज्ञान-राशि के सञ्चित कोश का ही नाम साहित्य है। यह साहित्य का व्यापक अर्थ है। इस अर्थ के अनुसार दर्शन, इतिहास, कथा-कहानी, गणित, भूगोल, विज्ञान, काव्य तथा इसी प्रकार के मानव जीवन से सम्बन्ध रखने वाले अन्य विषय साहित्य के अन्तर्गत आते हैं। साहित्य में सहित का—सम्मिलन का—भाव रहता है। उसमें संसार के समस्त प्राणियों का, शिक्षित-अशिक्षित का, ऊँच-नीच का, यहाँ तक कि तीनों कालों का सुन्दर सम्मिलन होता है। परन्तु संस्कृत के प्राचीन आचार्यों के मतानुसार साहित्य का इतना व्यापक अर्थ नहीं लिया जाता। उनके अनुसार साहित्य से तात्पर्य केवल उस रचना से है जो छन्दोबद्ध हो। इस प्रकार, साहित्य और काव्य एक ही अर्थ में प्रयुक्त किये जाते हैं। यह साहित्य का संकुचित अर्थ है। इस अर्थ के अनुसार साहित्य के अन्तर्गत केवल काव्य को ही स्थान मिल सकता है। इतिहास, भूगोल, दर्शन, गणित इत्यादि अन्य लोकोपयोगी विषय साहित्य की परिधि में नहीं आ सकते, क्योंकि इन विषयों का छन्दों से कोई सम्बन्ध नहीं है। उनका सम्बन्ध तो ज्ञान से है। वह आनन्दजनक, अनुरंजनकारी भाव, जो किसी साहित्यिक रचना से उत्पन्न होता है, उनसे प्राप्त नहीं हो सकता। इसमें सन्देह नहीं कि भाव के साथ ज्ञान रहता है; परन्तु ज्ञान के साथ भाव का रहना अनिवार्य नहीं है। ज्ञान भाव से भिन्न वस्तु है। ज्ञान मस्तिष्क का विषय है और भाव हृदय से सम्बन्ध रखता है। ऐसी दशा में

यदि इतिहास, दर्शन आदि विषयों को साहित्य के अन्तर्गत न रखा जाय तो उसकी परिभाषा में कोई बाधा नहीं पड़ती। इसका कारण केवल यह है कि ये रचनाएँ ज्ञान से सम्बन्ध रखती हैं; साहित्य भाव और कल्पना-प्रधान होता है। रामायण और पद्मावत हिन्दी साहित्य के दो महाकाव्य हैं। उनका आधार ऐतिहासिक है। इतिहास ज्ञान-सम्बन्धी विषय है किन्तु भाव और कल्पना के साम्राज्य में आने के कारण वह दोनों महाकाव्यों में साहित्य का विषय बन गया है। इस दृष्टि से साहित्य अपने वास्तविक एवं व्यापक अर्थ में उन समस्त रचनाओं से सम्बन्ध रखता है जिनमें ज्ञान और भाव का सुन्दर सम्मिश्रण हो, जिनमें मानव-हृदय की सुषुप्त भावनाओं को जाग्रत करने की क्षमता हो और जिनसे पाठकों का, समाज का, लोक का हित और मनोरञ्जन हो सके।

साहित्य के अंग

ऊपर की पंक्तियों में साहित्य शब्द की जो विवेचना की गयी है उसके अनुसार प्रधान रूप से श्रव्यकाव्य, दृश्य काव्य, कथात्मक गद्य काव्य तथा काव्यात्मक गद्य साहित्य के अङ्ग माने जा सकते हैं।

१. **श्रव्य काव्य**—श्रवणेन्द्रिय का विषय है। काव्यानुभूति कराने वाली कवियों की सभी रचनाएँ श्रव्य काव्य के अन्तर्गत आती हैं। सूर, तुलसी, जायसी, केशव, देव, विहारी तथा अन्य प्राचीन एवं अर्वाचीन कवियों की कृतियाँ श्रव्य काव्य हैं। श्रव्य काव्य दो प्रकार के होते हैं एक महाकाव्य, दूसरे खण्डकाव्य। महाकाव्य का नायक ऐतिहासिक व्यक्ति होता है और उसमें उसके सम्पूर्ण जीवन का भावात्मक चित्रण रहता है। खण्ड काव्य में जीवन के एक अंग को प्रधानता रहती है।

२. **दृश्य काव्य**—नेत्रेन्द्रिय का विषय है और उसके अन्तर्गत रूपक के सभी भेद आते हैं। वह देखने की चीज़ है। नेत्रों के सहारे वह हृदय में रस की वर्षा करता है। इसके साथ ही पात्रों के पारस्परिक संलाप से कानों को भी पर्याप्त आनन्द मिलता है। इस प्रकार दृश्य

काव्य आँख और कान दोनों का विषय है। यह जीवन की विशद व्याख्या करता है और कल्पना एवं ऐतिहासिक आधार पर अवलम्बित रहता है। इसके मुख्यतः दो रूप होते हैं। नाटक में किसी नायक के सम्पूर्ण जीवन या उसके एक अङ्ग का चित्रण इस प्रकार किया जाता है कि दर्शक उसके चरित्र के विषय मे पूरी जानकारी प्राप्त कर लेता है। इसलिए उसे कई अंकों में विभाजित करने की आवश्यकता पड़ती है। एकाकी नाटक में किसी नायक के जीवन से सम्बन्ध रखने वाली केवल मुख्य घटना की व्याख्या की जाती है और उसमें केवल एक भाव की, एक चरित्र की प्रधानता रहती है।

३. गद्य काव्य—में उपन्यास, कहानी, गद्य, जीवनचरित्र, रेखा-चित्र, शब्दचित्र, संस्मरण आदि का समावेश होता है। उपन्यास में किसी नायक अथवा नायिका के जीवन की विशद व्याख्या की जाती है। उसमें नायक के जीवन से सम्बन्ध रखनेवाली घटनाओं का ऐसे उचित ढग से सुन्दर शब्दो में वर्णन किया जाता है कि पाठक के हृदय पर उसका तुरन्त प्रभाव पड़ता है। कहानी उपन्यास से छोटी होती है। उसमें मानव जीवन के एक मुख्य अंग की व्याख्या रहती है। भाषा एवं शैली की दृष्टि से कहानी अधिक रोचक होती है और थोड़े समय में समाप्त की जा सकती है। जीवनचरित्र, रेखा-चित्र शब्दचित्र तथा संस्मरण में जीवन की घटनाओं का विवरण भिन्न भिन्न शैलियों में दिया जाता है।

४. काव्यात्मक गद्य—इस प्रकार का गद्य है जिसमें भाव तथा कल्पना का प्राधान्य रहता है और अनुरञ्जन करनेवाली शैली का ग्रहण काव्य के ढग पर किया जाता है। हिन्दी-साहित्य में इसका विकास-काल अत्यन्त नवीन है।

५. निबन्ध—भी साहित्य का एक मुख्य अंग है। इसमें विचारों की प्रधानता रहती है। अङ्गरेजी साहित्य तो इससे भरा पड़ा है, किन्तु हिन्दी-साहित्य में अभी इसका बहुत कम विकास हुआ है।

साहित्य के विभिन्न अंगों का स्पष्टीकरण करते हुए यह तो बताया ही जा चुका है कि साहित्य मानव के बौद्धिक तथा मानसिक विकास के मेल का प्रतिफल है। इसलिए उसका महत्व मानव के लिए ही हो सकता है। वस्तुतः उसका आविर्भाव मानव के कल्याण के लिए हुआ है। वह अनेकता में एकता स्थापित करता है; विषमता मे समता के स्वर भरता है; मानव का संस्कार और उसका पथ-प्रदर्शन करता है। वह उसकी अन्तरात्मा की अमर कृति, उसके हृदय के रसात्मक भावों की स्वर-लहरी, और उसके दीर्घकालीन मानसिक श्रम का सुन्दर फल है। उसने मानव को सभ्य बनाया है, उसका संस्कार किया है। उसमें मानव जीवन की अभिव्यक्ति और मानव-मस्तिष्क का चरम विकास है। उसमें मानव-समाज का खोया चिर-परिचित हृदय मिलता है, राष्ट्र के उत्थान-पतन की रूप-रेखा मिलती है। वह समाज और राष्ट्र की नाड़ी है। उससे समाज और राष्ट्र की विभिन्न परिस्थितियों का पता लग जाता है। उससे यह ज्ञात हो जाता है कि उस समाज अथवा राष्ट्र की जीवनी शक्ति कितनी या कैसी है, भूतकाल में कितनी या कैसी थी; भविष्य में कितनी या कैसी रहेगी। इस प्रकार वह समाज के भूत, वर्तमान और भविष्य का विचित्र आदर्श है। अनादि काल से मनुष्य ने जितना सोचा है, जितना मनन किया है, जितना विचार किया है साहित्य उसका अमर भाण्डार है। वह एक मञ्जूषा है जिसमें मानव जगत् के अमूल्य विचार रत्नों की तरह सजाकर,सँवार कर अनन्त काल से रखे गये हैं। साहित्यिक जौहरी इस मञ्जूषा का, इस अमूल्य निधि का उपभोग करके अपनी आत्मा का, अपने हृदय का, अपने मस्तिष्क का, अपने जीवन का, अपने समाज और अपने राष्ट्र के जीवन का परिष्कार करते हैं। समाज मिट जाता है; साहित्य अमर रहता है। साहित्य समाज की आत्मा है, राष्ट्र का प्राण है।

साहित्य का महत्त्व

अच्छी खाद और जल पाकर जिस प्रकार सूखे खेत लहलहा उठते हैं; अच्छा साहित्य पाकर उसी प्रकार अवनति के गर्त में गिरी हुई जातियाँ और पददलित राष्ट्र-अँगड़ाई लेकर उठ बैठते हैं। साहित्य में मुर्दों को ज़िन्दा करने की सञ्जीवनी शक्ति होती है। वह ब्रह्म है। पदाक्रान्त इटली का मस्तक उसी ने ऊँचा किया है; फ्रांस में प्रजा की सत्ता का उत्पादन और उन्नयन उसी ने किया है। वह शिव है, विष्णु है। वह हानिकारक धार्मिक, राजनीतिक तथा सामाजिक रूढ़ियों का संहार करता है और व्यक्तिगत स्वतंत्र भावों का पालन-पोषण करता है। उसकी शक्ति असीम है। तोप, तलवार, और बम के गोली की प्रलयंकरी शक्ति उसकी शक्ति के सामने झुक जाती है।

साहित्य मानव-मस्तिष्क का, मानव हृदय का खाद्य है। साहित्य को पृथक कर दीजिये; मानव को उससे वञ्चित कर दीजिये, समाज और राष्ट्र का मस्तिष्क निष्क्रिय हो जायगा, उसका विकास रुक जायगा, उसकी गति अवरुद्ध हो जायगी, वह शुष्क हो जायगा। साहित्य में सरसता है, स्निग्धता है, अभिसिञ्चन शक्ति है। उसमें उषा-सुन्दरी की मन्द मुस्कान है, इन्द्रधनुष की रंग-बिरंगी आभा है, प्रकृति का अट्टहास है, नीलगगन की तारिकाओं की लुका-छिपी है; मानव हृदय का सौन्दर्य है, प्रलय का वेग है, निर्झर का प्रवाह है, जीवन की आँधी है। वह पतितों को उठाता है, उठे हुए लोगों को आगे बढ़ाता है, निराश्रय को आश्रय देता है, असहायों की सहायता करता है। नैराश्य की आभा में वह चाँद बन कर आता है और आशा की स्निग्ध छटा से जीवन का कोना-कोना आलोकित कर देता है। जीवन की विषमताओं से ऊबा हुआ, संसार की कंटकाकीर्ण यात्रा से थका हुआ मनुष्य उसकी अमराई में जीवन का सुख सञ्चित पाता है। जिसे इस अमराई से प्रेम नहीं, जिसे इसकी सुखद शीतल छाया में बैठने की लालसा नहीं वह मानव-शरीधारी पशु है। भर्तृहरि कहते हैं:—

साहित्य संगीत कलाविहीनः
साक्षात्पशुः पुच्छ-विषाण-हीनः

इसी प्रकार वह देश, वह राष्ट्र, जिसका अपना साहित्य नहीं है, मुर्दा है, निर्जीव है। कविवर मैथिलीशरण गुप्त कहते हैं :—

मुर्दा है वह देश जहाँ साहित्य नहीं है।

साहित्य रस का अविरल स्रोत है। वह ऐसी मंदाकिनी है जो मानव के कोविद हृदय से प्रवाहित होकर कल्पना के सुरम्य कुञ्जों में विहार करती हुई मानव-समाज को अनिर्वचनीय आनन्द से उल्लसित कर देती है। जो व्यक्ति इस पुनीत सरिता में मज्जन नहीं करता, जो समाज इस गंगा की स्निग्ध धारा के साथ अपने जीवन की धारा नहीं मिलाता, जो राष्ट्र इस मंदाकिनी के शीतल जल से अपने हृदय की प्यास नहीं बुझाता, उसे किसी वस्तु में मिठास नहीं मिल सकती। उसके लिए जीवन नीरस है। वह प्रकृति की गोद में रहते हुए उसके सौन्दर्य से वञ्चित है। उसके लिए उषा की मन्द मुस्कान में कोई आकर्षण नहीं, मधुपों की सुरीली गुनगुनाहट में कोई संगीत नहीं, सुरभित सुमनों के विकास में कोई मनमोहकता नहीं। शरत्-पूर्णिमा की धुली ज्योत्स्ना में कोई सौन्दर्य नहीं। मानव में जो कुछ सुन्दर है, विशाल है, आदरणीय है, कल्याणमय है, साहित्य उसी की मूर्ति है।

साहित्य में भगवान् की प्रतिष्ठा है। उसी ने मानव के मनमन्दिर में देवताओं को स्थान दिया है और परमात्मा को प्रतिष्ठापित किया है। परमात्मा ने साहित्य को जन्म दिया है और साहित्य ने परमात्मा को हमारे हृदय में उतारा है। यदि साहित्य न होता, तो परमात्मा को मानता ही कौन ? उसकी विशदता का, उसके गौरव का, उसके कार्य का बखान ही कैसे होता और कौन करता ? साहित्य में दो हृदयों को मिलाने की अनिर्वचनीय शक्ति होती है। उसके द्वारा

हम मर्यादा-पुरुषोत्तम राम और कर्मयोगी कृष्ण से बात कर सकते हैं, माता सीता के वात्सल्य रस का अनुपान कर सकते हैं, महात्मा बुद्ध के प्रवचनों का आनन्द ले सकते हैं।

साहित्य किसी व्यक्ति अथवा जाति-विशेष की सम्पत्ति नहीं है। वह समस्त मानव समाज की सम्पत्ति है। वह एक का नहीं, सब का है, सब काल में है। वह अजर है, अमर है, शाश्वत है। उसकी रचना मनुष्य नहीं करता। उसकी रचना होती है उस अदृश्य शक्ति-द्वारा जो मनुष्य में निहित रहती है। मानव उसी शक्ति से अनुप्राणित होकर उसे प्रकाश में लाता है। इसलिए ईश्वर के बाद दूसरा स्थान साहित्य का है। वह मानव का इस भौतिक जगत् में पथ-प्रदर्शन करता है। ईश्वर हमें जन्म देता है, साहित्य हमारा संस्कार करके, हमारी वासनाओं को शुद्ध करके हमें उस मार्ग की ओर उत्प्रेरित करता है जहाँ नित्य वसन्त का राज्य रहता है।

साहित्य विशाल समुद्र है, भावनाएँ उसकी तरंगें हैं। साहित्य में संसार के प्राणियों की चिन्ताधारा का समावेश होता है। और उसकी एक-एक बूँद में विश्व की आत्मा के दर्शन मिलते हैं। उसकी एक लहर, एक तरंग मानव के शुष्क हृदय-प्रदेश को सींचकर, उर्वरा करके उस समाज का, उस राष्ट्र का कल्याण करती है जिसका वह एक अंग रहता है। इसलिए यदि किसी राष्ट्र को जीवित रहना है, यदि उसे अपने समाज को, अपने देश-वासियों को, पतित होने से बचाना है, यदि उसे उन्नति और सभ्यता की दौड़ में अन्य राष्ट्रों की बराबरी करना है, तो उसे उत्साह से, श्रम से, जी जान से सत्साहित्य का सृजन करना होगा। उसे ऐसे साहित्य का निर्माण करना होगा जो विकल आत्माओं को अनुप्राणित करदे, जो दासता की लौह-शृंखलाओं में जकड़े हुए राष्ट्र को मुक्त कर दे और जो यह सिखा दे कि पतित राष्ट्र के लिए हँस-हँसकर जीवन उत्सर्ग करने में ही जीवन का सार है। जब किसी राष्ट्र के साहित्य में ऐसी भावनाएँ भरी जायँगी, तभी वह साहित्य उस राष्ट्र

के लिए सौभाग्य का चिह्न होगा, पतित समाज की आन्तरिक दशा का दर्पण होगा, भावी सन्तान के लिए कल्याणकारी पथ-निर्देशक होगा और जीवन और जगत् के संघर्ष में अपना वास्तविक महत्व स्थापित करने में सफल होगा।

ऊपर की पंक्तियों में साहित्य के महत्व के सम्बन्ध में जिन बातों की ओर संकेत किया गया है उससे यह स्पष्ट है कि साहित्य का उद्देश्य मानव का संस्कार करना है। मानव प्रवृत्ति दोष-गुण से सम्पन्न है। उसमें पशुत्व, मनुष्यत्व और देवत्व तीनों ही विद्यमान हैं। आहार, निद्रा, रोग, शोक, काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि के साथ रहने के कारण मनुष्य पशु-तुल्य है। बुद्धि, विद्या, विचारादि से मनुष्य में मनुष्यत्व है, और दया, दाक्षिण्य, भक्ति आदि गुणों से मनुष्य में देवत्व है। इन्हीं तीनों गुणों को क्रमशः तम, रज और सत्व की संज्ञा दी जाती है और इन्हीं से मानव प्रकृति का संगठन होता है। सत्साहित्य मानव प्रकृति में सत्व की स्थापना करता है और उसे देव-तुल्य बनाता है। इसलिए प्राचीन भारतीय साहित्याचार्यों ने मानव के लिए धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि ही साहित्य का उद्देश्य निर्धारित किया है। इस प्रकार भारतीय आदर्श के अनुसार साहित्य न केवल लौकिक कल्याण—धर्म, अर्थ और काम की सिद्धि—के लिए है, अपितु वह मुक्ति के लिए भी है। मुक्ति ही ब्रह्मानन्द है और आत्मा ब्रह्म में लीन होकर अपने चरम लक्ष्य को प्राप्त करता है।

साहित्य का उद्देश्य

परन्तु आत्मा को अपने चरम लक्ष्य की प्राप्ति किस प्रकार होती है, जन-समाज में सत्व गुण का समावेश किस प्रकार होता है, इसका निर्णय करना, इसका उपाय बताना साहित्यकार का काम है। वह इसी नाते जगत् का गुरु कहलाता है। उसी के अनुरूप उसका समाज होता है। वह अपने समाज का स्रष्टा और अपने समाज का शिक्षक है। वह अपने

साहित्य का प्राच्य और पाश्चात्य आदर्श

धर्मानुकूल अपने समाज की सृष्टि करता है और उसे उसी के अनुसार चरम लक्ष्य की प्राप्ति का उपाय बताता है। धर्म से साहित्य का अविच्छेद्य सम्बन्ध है। डाक्टर बाचर का कहना है कि प्रत्येक साहित्य का एक धर्म होता है। साहित्य उसी धर्म से अनुप्राणित होता है। साहित्य की इसी धर्म-भावना के कारण, चरम लक्ष्य की समानता होने पर भी उसकी प्राप्ति के उपायों में अन्तर आजाता है। प्राच्य और पाश्चात्य देशों के साहित्यकारों में इसीलिए मतभेद है। पाश्चात्य साहित्यकारों ने साहित्य में जैसी सृष्टि करके शिक्षा दी है, प्राच्य साहित्यकारों ने वैसा नहीं किया है। प्राच्य साहित्यकार दूसरे ही संसार के विधाता हैं। उन्होंने साहित्य में धर्म की ही जय-घोषणा की है। व्यास ने विशाल महाभारत की रचना करके पति-प्राणा गान्धारी के मुख से कहलाया है—'यतो धर्मस्ततो जयः'—जहाँ धर्म है, वहीं जय है। महाभारत की प्रत्येक पंक्ति में उसी धर्म-पक्ष की, उसी देव-पक्ष की प्रबलता दृष्टिगोचर होती है। उसमें मनुष्य का पाप-चित्र भी अंकित है, परन्तु धर्मपक्ष की समुज्वल प्रभा के सामने वह कलुषित रूप फीका पड़ गया है। धर्म की जय से पाप का—मनुष्य के पशुत्व का—सत्यानाश हो गया है। महाकवि बाल्मीकि की साहित्यिक सृष्टि में भी यही बात देखी जाती है। उनके महाकाव्य में भक्ति का जैसा सुन्दर स्वरूप अंकित किया गया है वह अन्यत्र दुर्लभ है। उसमें धर्म की भावना इतनी प्रबल है, मानव का देव-पक्ष इतना ऊँचा उठा हुआ है कि राक्षस-कुल का कलुषित चित्र सामने आने ही नहीं पाता। अयोध्या से लंका तक धर्म की विजय-पताका ही फहराती हुई दिखाई देती है। कालिदास, भवभूति, माघ, भारवि, श्री हर्ष आदि महा साहित्यकारों की कृतियों में भी यही दृश्य वर्तमान है। सूर, तुलसी, कबीर, मीरा में धर्म की वही स्निग्ध धारा प्रवाहित हुई है। अपने इसी गुण के कारण प्राच्य साहित्य पवित्र है, दिव्य है। उसमें स्वर्ग का सौन्दर्य है, पुण्य की नैसर्गिक आभा है, सात्विक संसार के सुख की ज्योति है,

है । यही उसकी विशेषता है । उसके अध्ययन से, उसके पारायण से हृदय की कालिमा धुल जाती है, कलुषित कामना भंग हो जाती है और धर्मानुराग से रोम-रोम पुलकित हो जाता है । प्राच्य साहित्य का आदर्श ऐसा ही सुन्दर, ऐसा ही विशाल, ऐसा ही उत्कृष्ट, ऐसा ही आकर्षक, ऐसा ही शान्तिपूर्ण और ऐसा ही विशुद्ध है ।

परन्तु पाश्चात्य साहित्य का आदर्श ऐसा नहीं है । ईसाई धर्मानुसार मनुष्य में पापांश ही अधिक है और इसका कारण यह है कि जन-समाज के अधिक व्यक्ति राजसिक और तमोगुणी हैं । इसी धार्मिक भावना के आधार पर पाश्चात्य साहित्यकारों ने अपने साहित्य की सृष्टि की है । उन्होंने नरक की दुःख लीलाओं का यथार्थ चित्रण करके जन-समाज को पाप से मुक्त करने की चेष्टा की है । उनका कहना है कि जैसा समाज है, उसी के अनुरूप साहित्य में उसका चित्र अंकित करना चाहिए । ऐसा न करने से मानव-प्रकृति और जन-समाज का सत्य चित्र हो ही नहीं सकता । यही यथार्थवाद है और इसी यथार्थवाद का सहारा लेकर वहाँ के साहित्यकारों ने लेखनी उठाई है । यूरोपीय जन समाज में जिस प्रकार तमोगुण और रजोगुण, पशुत्व और मनुष्यत्व का विकास हुआ है उसी के प्रकृत एवं यथार्थ चित्र वहाँ के साहित्यकारों ने अपनी कृतियों में अंकित किये हैं । ऐसी दशा में उनके साहित्य में मानव-प्रकृति के दोष-गुण उसी मात्रा में मिलेंगे जिस मात्रा में वे उसमें विद्यमान हैं । उनमें न तो न्यूनता हो सकती है और न अधिकता । साहित्य में इसी सिद्धान्त को लेकर वहाँ के साहित्यकारों ने मानवता के पुनीत रंगमञ्च पर रक्तपात का आयोजन किया है और उच्चादर्शों के साथ होली खेली है । उन्होंने मानव-प्रकृति का नग्न चित्रण करके जन-समाज में देवत्व के स्थान पर आसुरी वृत्ति को, पशुत्व को प्रतिष्ठापित किया है । पाप और पुण्य के चित्रण में, पशुत्व और देवत्व के अंकन में उन्होंने प्रथम का इतना विशद, इतना विशाल रूप स्थापित किया

है कि उसके सामने दूसरे का चित्र धूमिल और मन्द पड़ जाता है। सघन वन के एकान्त निर्जन प्रदेश में एक कुसुमित मालती जिस प्रकार अपना सौन्दर्य बिखेर कर विलीन हो जाती है, बालुकामय प्रदेश में जिस प्रकार किसी सरिता की स्निग्ध धारा आकर अपना अस्तित्व खो बैठती है, हिंसक पशुओं के प्रलयकारी स्वर में जिस प्रकार कोयल की कुहू-कुहू डूब जाती है उसी प्रकार पाश्चात्य साहित्य-कारों की नारकीय यातनाओं के रौरव में धर्म की अमृतवाणी का लोप हो जाता है। उसमें पाप का चित्र इतना विशाल होता है कि उसके धर्म का चित्र दब जाता है।

प्राच्य साहित्य में धर्म का, देवत्व का चित्र विशाल है। उसके सामने मानव की आसुरी वृत्ति का, उसके पशुत्व का चित्र धूमिल और अप्रतिभ है। पाश्चात्य साहित्य में पाप का चित्र विशाल है और धर्म का धूमिल। एक ने प्रकृति की मूर्ति को अलंकृत किया है, दूसरे ने उसे नग्न रूप में देखा है। एक में देवत्व को प्रमुख और पशुत्व को गौण स्थान दिया गया है, दूसरे में पशुत्व को प्रमुख और देवत्व को गौण स्थान प्राप्त है। एक में आत्म की प्रधानता है, दूसरे में अनात्म की। एक में स्वर्ग का सौन्दर्य है, दूसरे में नरक की भीषण यातनाएँ। एक में देव भावों की इतनी प्रबलता है, इतनी उत्कृष्टता है कि ऐन्द्रिक प्रवृत्तियों को उभारने का अवकाश ही नहीं मिलता। दूसरे में आसुरी प्रवृत्तियों की इतनी तेज आँधी है, इतना भीषण झंझावात है कि उसके सामने देव भाव टिकने नहीं पाता। एक आदर्शवादी है, दूसरा यथार्थवादी। इसीलिए पाश्चात्य में राम की कमी है, कृष्ण का अभाव है, सीता का लोप है। बाल्मीकि और तुलसी ने अपने महाकाव्यों में आसुरी शक्ति का प्रतिनिधित्व करने वाले रावण की जिस रूप में कल्पना की है, वह देवत्व का प्रतिनिधित्व करने वाले राम के सौम्य रूप के सामने अप्रतिभ है, शून्य है। परन्तु मिल्टन के महाकाव्य 'पैराडाइज् लास्ट' का शैतान, रावण के अनुरूप होते हुए भी, स्वतंत्र है। समस्त महा-

काव्य में उसी की प्रधानता है। उसके अध्ययन से पाप का ही नग्न चित्र सामने आता है। उसमें धर्म की विजय और अधर्म की पराजय दिखाने के लिए किसी देव-तुल्य पात्र की कल्पना तक नहीं की गयी है। प्राच्य साहित्य में रामत्व और रावणत्व, देवत्व और पशुत्व की एक साथ कल्पना और उनका भीषण द्वन्द्व है। इस द्वन्द्व में, इस संघर्ष में आत्मा की विजय और अनात्म की पराजय है। विजय में शक्ति है, आकर्षण है, उल्लास है। प्राच्य साहित्य विजय का साहित्य है। उसमें पापमय चरित्र का कुफल नहीं है, उसमें पुण्य कर्मों का प्रसाद है। यही प्रसाद मनुष्य अपनी जीवन-यात्रा का संबल बनाता है।

पाश्चात्य साहित्य में मानव-प्रकृति का सजीव चित्रण है और तन्मयता भी है, परन्तु उस सजीव चित्रण में भौतिक सौन्दर्य है, आध्यात्मिक सौन्दर्य नहीं है; उस तन्मयता में इन्द्रियों को शान्त करने की क्षमता है, हृदय को शान्त करने की शक्ति नहीं है। यही कारण है कि उस साहित्य में भौतिकवाद की प्रधानता है। जीवन और जगत् के बीच जैसा सत्सम्बन्ध होना चाहिए उससे पाश्चात्य साहित्य शून्य है। वह बहिर्मुखी है। उसमें जीवन की विभिन्न आवश्यकताओं पर बाह्य दृष्टि से विचार किया गया है। उसमें बाहरी टीमटाम है, भड़कीलापन है और उसी के अनुरूप उसका जन-समाज है। प्राच्य साहित्य इसके विपरीत है। उसमें आन्तरिक सौन्दर्य है। वह अन्तर्मुखी है। उसमें जीवन की आवश्यकताओं को आध्यात्मिक स्वरूप दिया गया है। उसमें भौतिक विजय नहीं, मानसिक विजय है। उसमें स्थायित्व है, शान्ति है, सन्तोष है। उसका आदर्श ऊँचा और अनुकरणीय है।

यह तो हुई हमारे साहित्य के महत्त्व की बात, अब यहाँ हिन्दी साहित्य के विकास के सम्बन्ध में कुछ चर्चा की जाती है। भाषा के विकास के सम्बन्ध में यह बताया जा चुका है कि आधुनिक खोजों के आधार पर हिन्दी का आदि कवि चन्द बरदाई माना जाता है। उसने दिल्ली-नरेश,

हिन्दी साहित्य के विकास का वर्गीकरण

पृथ्वीराज, की प्रशंसा में 'पृथ्वीराज रासो' की रचना की है। पृथ्वीराज का समय ग्यारहवीं शताब्दी है। इसलिए हिन्दी साहित्य का विकास काल भी ग्यारहवीं शताब्दी से आरम्भ होता है। स्वर्गीय पं० रामचन्द्र शुक्ल ने उस समय से अब तक के समय को निम्नलिखित चार भागों में विभाजित किया है :—

१—आदि काल—सम्वत् १०५० से १३७५ तक।

२—पूर्व मध्यकाल—सम्वत् १३७५ से १७०० तक।

३—उत्तर मध्यकाल—सम्वत् १७०० से १६०० तक।

४—आधुनिक काल—सम्वत् १६०० से अब तक।

हिन्दी साहित्य के विकास से इस वर्गीकरण के सम्बन्ध में हमें सब से पहले यह याद रखना चाहिए कि साहित्य का इतिहास भाषा का इतिहास नहीं है। साहित्य विचारों और भावों का कोष है और भाषा उनके प्रकाशन का साधन-मात्र है। इसलिए साहित्य की रूप-रेखा अङ्कित करते समय हमें उस विचार-धारा पर ध्यान देना होगा जिसने भिन्न-भिन्न समयों में परिस्थितियों की अनुकूलता अथवा प्रतिकूलता के कारण भिन्न-भिन्न रूपों में परिणित होकर हिन्दी साहित्य की गति में उलटफेर किया है। इसके साथ ही हमें यह भी देखना होगा कि समय-समय पर हिन्दी साहित्य में जो परिवर्तन हुए हैं वे किन-किन कारणों से हुए हैं और उनका तत्कालीन समाज पर क्या प्रभाव पड़ा है।

दूसरी बात इस वर्गीकरण के सम्बन्ध में याद रखने की यह है कि साहित्य के विकास-काल का वर्गीकरण किसी देश के ऐतिहासिक काल के समान नहीं होता। जिस काल में लोक-प्रवृत्ति जिस प्रकार के काव्य की ओर रहती है उसी के अनुकूल उसका नामकरण होता है। इससे यह न समझना चाहिए कि किसी एक काल में लोक-प्रवृत्ति का समान रूप ही रहता है। हिन्दी साहित्य के अध्ययन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि रीतिकाल में जिस देव, बिहारी आदि शृङ्गारी

कवि कविता-कामिनी के साथ विहार कर रहे थे उस समय भूषण रणक्षेत्र में रणचंडी की प्रशंसा कर रहे थे।

यह काल हिन्दी साहित्य में वीरगाथा काल के नाम से प्रसिद्ध है। इसका आरम्भ संवत् १०५० से और अन्त संवत् १३७५ में होता है। इतने वर्षों के बीच जो साहित्य तैयार हुआ उसमें केवल वीर रस की प्रधानता रही। वस्तुतः वह समय इसी रस के लिए उपयुक्त था। मुसलमानों के आक्रमण हो रहे थे। प्रजा में असन्तोष की मात्रा बढ़ रही थी और उसे सदैव आत्मरक्षा की चिन्ता बनी रहती थी। इसलिए ऐसी दशा में केवल उन्हीं कवियों का आदर हो सकता था जिनकी रचनाओं में देशाभिमान के भावों की प्रधानता हो और जो समय पड़ने पर हाथ में तलवार लेकर रणक्षेत्र में कूद पड़ने का साहस रखते हों। चन्द बरदाई इस काल का ऐसा ही कवि था। उसने दिल्ली-नरेश पृथ्वीराज की प्रशंसा में 'पृथ्वीराज रासो' की रचना की। यह महाकाव्य वीर रस-प्रधान है। इस ग्रन्थ के सम्बन्ध में बड़ा मतभेद है। कुछ लोग इसे बिलकुल जाली या अप्रामाणिक मानते हैं और कुछ लोगों का कहना है कि इसका उत्तरार्द्ध चन्द के पुत्र जल्हन का लिखा हुआ है। जो भी हो, इसमें तो सन्देह ही नहीं किया जा सकता कि विषय, भाषा और साहित्य की दृष्टि से इस ग्रन्थ का बहुत महत्त्व है।

आदिकाल सं० १०५०-१३७५

चन्द के अतिरिक्त जगनिक का भी इस काल में उल्लेख मिलता है। लोगों का कहना है कि यह चन्द का समकालीन था। उसका लिखा हुआ आल्हखंड नाम का ग्रन्थ अब उपलब्ध नहीं है। इस काल का एक प्रसिद्ध ग्रन्थ बीसलदेव रासो है जिसमें गीतात्मक वीर-काव्य की प्रधानता है। खड़ी बोली में अमीर खुसरो की पहेलियाँ, मुकरियाँ, दोसखुने आदि इसी काल की रचनाएँ हैं।

यह हिन्दी साहित्य के विकास के मध्य युग का प्रथम चरण है।

इसका आरम्भ संवत् १३७५ से और अन्त संवत् १७०० से होता है।

पूर्व मध्यकाल
सं० १३६५-१७००

इतने वर्षों के बीच जो साहित्य निर्माण हुआ उसमें शान्त रस की प्रधानता रही। इसलिए इस काल को भक्तियुग कहते हैं। इस युग में दो प्रकार की भक्ति का विवरण मिलता है : निर्गुण और सगुण उपासना।

[अ] निर्गुण उपासना—भारतीय इतिहास के पढ़नेवाले यह अच्छी तरह जानते हैं कि हिन्दी साहित्य के विकास का यह युग भारतीय प्रजा के लिए असन्तोष, नैराश्य तथा अत्याचारों का युग था। इस युग में हिन्दुओं की सम्पत्ति छीनी जा रही थी, उनकी बहू-बेटियों का अपहरण हो रहा था, उनकी धार्मिक भावनाएँ कुचली जा रही थीं। सच पूछिए तो उनका अस्तित्व ही खतरे में था। हिन्दू मुसलमानों के आये दिन झगड़ों के कारण समाज की नींव हिल गयी थी। ऐसी दशा में आवश्यकता थी ऐसे व्यक्तियों की जो दोनों विरोधी समाजों में एकता स्थापित करा सकें। समाज की इस आवश्यकता को, देश की इस माँग को नानक, कबीर तथा दादू आदि सन्तों ने पूरा किया। इन महात्माओं ने अपने मधुर उपदेशों से मुसलमान तथा हिन्दू जनता को ईश्वर की उपासना की ओर उन्मुख किया। उन्होंने तत्कालीन सामाजिक कुप्रथाओं तथा धार्मिक आडम्बरों की ओर दोनों सम्प्रदायों का ध्यान आकृष्ट किया और उन्हें एकता के सूत्र में बाँधने की प्राणपण से चेष्टा की। इसमें सन्देह नहीं कि उनके दार्शनिक विचारों का, उनके अमर उपदेशों का भारतीय जनता पर गहरा प्रभाव पड़ा, किन्तु जितना सन्तोष एक पीड़ित समाज को इन महात्माओं के सुन्दर उपदेशों से मिलना चाहिए था उतना न मिल सका। बात यह थी कि इन सन्तों के उपदेशों में वेदान्त के दार्शनिक विचारों की गम्भीरता थी। उनकी वाणियों में जो दिव्य सन्देश था, जो सत्य की खोज थी उसमें इतनी गहराई थी कि मानसिक दृष्टि से पराजित जनता उसे पूर्णतः ग्रहण करने में असमर्थ थी। विधर्मियों के अत्याचारों से पीड़ित जनता जीवन की मिठास,

जीवन का माधुर्य चाहती थी। उसकी प्रवृत्ति ऐसी उपासना की ओर थी जिसमें हृदय की कोमलता हो। वह ऐसे ईश्वर की खोज में थी, जो उसकी करुण पुकार सुन सके, जो उसका दुःख बँटा सके और जो उसके प्रति समवेदना प्रकट कर सके। ऐसी दशा में वेदान्त के शुष्क एवं नीरस दार्शनिक विचारों को अपनाने के लिए, उन्हें अपने जीवन में स्थान देने के लिए साधारण जनता तैयार न थी। परिणाम यह हुआ कि उन सन्तों का स्थान सूफी कवियों ने ले लिया।

[ब] प्रेममार्गी निगु‍ण उपासना—सूफी कवियों ने तत्कालीन विदग्ध समाज को आख्यान काव्य लिखकर लौकिक प्रेम द्वारा परमात्मा के प्रेम का दिग्दर्शन कराने की चेष्टा की। उन्होंने अपनी परम्परा के अनुसार अपने को प्रेमी और परमात्मा को प्रियतम समझ कर हिन्दी साहित्य के काव्य-जगत् में प्रेम की जो गंगा बहाई उसने किञ्चित् अंशों में ही प्रजा की माँग को पूरा किया। इसका एक कारण तो यह था कि उनकी रचनाओं में जो विचार-धारा थी वह प्रजा की पीड़िता-वस्था के प्रति सहानुभूति दिखाने के स्थान पर उन्हें सांसारिक भोग से विरक्त होने का पाठ पढ़ा रही थी। दूसरे उनके आख्यान के नायक ऐसे व्यक्ति थे जिनके कर्म, गुण और स्वभाव से वह अच्छी तरह परिचित थी। इसलिए ऐसे नायक अथवा नायिकाओं का उन पर नाम-मात्र प्रभाव पड़ा। इस सम्बन्ध में हमें यह याद रखना चाहिए कि इस सम्प्रदाय के प्रायः सभी कवि मुसलमान थे। इन मुसलमान कवियों में मलिक मुहम्मद जायसी का स्थान सबसे ऊँचा है। उन्होंने पद्मिनी और अलाउद्दीन खिलजी के आख्यान के आधार पर पद्मावत की रचना की है। पद्मावत भाषा तथा साहित्य की दृष्टि से उच्च कोटि का महा-काव्य है। इसमें वियोग का चित्र बड़ी सुन्दरता से अंकित किया गया है और भौतिक प्रेम द्वारा यह बताया गया है कि परमात्मा के प्रेम में जीवात्मा की क्या दशा होती है। जबतक मनुष्य उस दशा का अनु-भव नहीं करता तबतक उसकी मुक्ति नहीं हो सकती। इस प्रकार ज्ञात

जगत् से अज्ञात जगत् की ओर से जाना सूफी कवियों का लक्ष्य था; किन्तु उनमें संसार से उदासीनता होने के कारण सन्त कवियों की भाँति उन्हें भी अपना लक्ष्य स्थापित करने में कम सफलता मिली।

यह तो हुई निगुंण उपासना की बात। अब हमें यह देखना है कि सगुण उपासना का हिन्दू जनता पर क्या प्रभाव पड़ा। यह तो बताया ही जा चुका है निर्गुण उपासना जनता के प्रति सहानुभूति प्रकट करने में असफल हुई। उसने वह काम नहीं किया जिससे हिन्दू जनता का विदग्ध हृदय शान्त होता और उसे सान्त्वना मिलती। बात यह है कि सन्तों की वाणी और सूफियों के उपदेशों में व्यक्तिगत जीवन पर जोर दिया जा रहा था। उनमें लोकसंग्रह की शक्ति न थी। यह लोकसंग्रह शक्ति सगुण उपासना में प्रस्फुटित हुई। तुलसी और सूर ने राम तथा कृष्ण में विष्णु का शक्ति का आरोप करके हिन्दू जन समूह के सामने जो आदर्श उपस्थित किया उसने तत्कालीन समाज का भौतिक कल्याण ही नहीं किया, अपितु उसे अध्यात्मवाद का पाठ भी पढ़ाया। इस दृष्टि से दोनों कवि अपने उद्देश्य में सफल हुए। यहाँ हम दोनों की पृथक पृथक विवेचना करना उचित समझते हैं।

[अ] राम शाखा की सगुणोपासना—इस प्रकार की उपासना के प्रवर्तक महाकवि तुलसीदास थे। उन्होंने तत्कालीन हिन्दू समाज की रुचि के अध्ययन के आधार पर सगुणोपासना का जो भव्य प्रासाद निर्माण किया उसमें सबको स्थान मिला। उन्होंने राम के रूप में परमात्मा की आराधना का जो आदर्श जनता के सामने उपस्थित किया उसमें शक्ति, शील और सौन्दर्य का अपूर्व सामञ्जस्य था। अधिकांश लोग ईश्वर को इसी रूप में, इसी वेश में देखने के लिए लालायित हो रहे थे। इस मर्यादा-पुरुषोत्तम राम को उन्होंने शीघ्र ही अपना लिया। राम का जीवन भी आदर्श जीवन था। उन्होंने अपने जीवन-काल में अत्याचारियों का दमन किया था, उठने योग्य आदमियों का सिर ऊँचा उठाया था, पापियों को मुक्त किया था, पीड़ितों की सहायता

की थी, दुष्टों का वध किया था, प्रजा के हित के लिए अपना सर्वस्व त्याग किया था, पारिवारिक स्वत्वों की रक्षा की थी, अन्याय का गला घोंटा था, विदेशी शत्रु से भारत की रक्षा की थी और गार्हस्थ्य जीवन की मर्यादा स्थापित की थी। क्रिया-शक्तिहीन जनता के लिए ऐसा ही आदर्श उपयुक्त था। इसलिए तुलसी के रामचरित मानस ने वह काम किया जो सन्तों की वाणी न कर सकी।

[ब] **कृष्ण-शाखा की सगुणोपासना**—इस प्रकार की सगुणोपासना के प्रवर्तक महाकवि सूरदास थे। उन्होंने कर्मयोगी कृष्ण के जीवन का आदर्श जनता के सामने रखकर उसकी माँग की पूर्ति की। कृष्ण राम की अपेक्षा, बाह्य दृष्टि से, अधिक संसारी थे। उनका बाल्य-काल साधारण लोगों की श्रेणी में व्यतीत हुआ था। बाल क्रीड़ा में गोप उनके सखा और गोपिकाएँ उनकी सखियाँ थीं। बचपन से कृष्ण का उनके प्रति प्रेम था। उनकी बाल-लीलाएँ भी विचित्र थीं। गौ और ब्राह्मण की रक्षा के लिए ही उनका अवतार हुआ था। इसलिए सूरदास ने उन्हीं के जीवन को अपनाया और ब्रज की बोली में उन्होंने हिन्दी-साहित्य को जो दान दिया वह अमर हो गया।

सूर उच्च कोटि के वैष्णव कवि थे। उन्होंने अपने अमर ग्रन्थ सूर-सागर में कृष्ण के बाल जीवन की लीलाओं का जो मार्मिक चित्रण किया है वह संसार के साहित्य में अद्वितीय है। मातृ-हृदय का मर्म उन्होंने खूब समझा था। इसलिए उसे अङ्कित करने में वह पूर्ण रूप से सफल हुए। इसके अतिरिक्त कृष्ण और राधिका की बाल-केलि को भी उन्होंने सूर सागर में स्थान दिया। उनकी इस बाल-केलि में, इस प्रेम-व्यापार में, वही चुहल, वही चपलता, वही सादगी, वही लापर-वाही, वही मस्ती और वही मौज है जो बालक और बालिकाओं के प्रेम-व्यापार में मिलती है। प्रेम में कोई पारिवारिक रस-बोध नहीं; कोई आयुष्मिक सम्बन्ध नहीं। सारी लीला, बाल-जीवन की सारी क्रीड़ा साफ-सुथरी, सीधी-सादी और सहज है।

सूर-सागर उच्चकोटि का काव्य है। इसमें कृष्ण की बाल-लीला के साथ ही दार्शनिक विचारों का सुन्दर सम्मिलन भी हुआ है। सूर के भ्रमर-गीत तथा दृष्टिकूटों में सगुणोपासना की पुष्टि दार्शनिक विचारों द्वारा जिस ढंग से की गयी है उससे सूर की प्रतिभा और उनके गम्भीर अध्ययन का पता चलता है।

सूर महाप्रभु वल्लभाचार्य के शिष्य थे। वल्लभाचार्य के उपदेशों से हिन्दी साहित्य का उद्‌भव हुआ। वैष्णव धर्म की विशेषता थी—मनुष्य में भगवान के स्वरूप को उपलब्ध करना और उसके विराट् तथा अचिन्त्य रूप को दूर रखना। इस प्रकार वैष्णव कवियों ने हिन्दी साहित्य में उस पुनीत विचार धारा को स्थान दिया जिस पर हिन्दू समाज आज अपना सर्वस्व न्योछावर करने के लिए तैयार है।

सूर और तुलसी दोनों वैष्णव कवि थे; परन्तु दोनों के आदर्शों में, दोनों की विचार-धारा में, दोनों की साधना में महान् अन्तर था। एक ने कृष्ण की सखा-भाव से तो दूसरे ने राम की दास-भाव से सेवा की। एक ने कृष्ण के बाल्यकाल को अपनाया तो दूसरे ने राम के सम्पूर्ण जीवन को अपने काव्य का विषय बनाया। एक ने खंड काव्य, पदों तथा गीतों में लिखा तो दूसरे ने दोहा-चौपाई में महाकाव्य की रचना की। एक ने ब्रज की बोली को अपने भाव सजाने के लिए उपयुक्त समझा तो दूसरे ने अवध की बोली में अपने नायक का चरित्र चित्रण किया। साहित्यिक दृष्टि से इतनी विभिन्नता होने पर भी दोनों का एक उद्देश्य, एक लक्ष्य, एक ध्येय था और वह था हिन्दू समाज की बिखरी हुई शक्तियों को एकत्र करना और उनकी शुष्क नसों में सञ्जीवनी शक्ति का सञ्चार करना। दोनों कवि अपने इस उद्देश्य में पूर्ण रूप से सफल हुए।

पूर्व मध्य काल में सूर ने कृष्ण और राधिका की उपासना का जो

स्वरूप स्थिर किया। उसमें कृष्ण का स्थान प्रमुख और राधिका का गौण था, परन्तु कालान्तर में वल्लभ सम्प्रदाय ने राधिका की उपासना पर जोर दिया। इसलिए कृष्ण की उपासना गौण हो गयी और राधिका की उपासना को प्रधानता मिल गयी। इस प्रकार साहित्य-सरिता की इस धारा से अलंकारी कवियों की धारा ने मिलकर एक अनिष्टकारी स्थिति उत्पन्न कर दी। इसमें सन्देह नहीं कि सूर, मीरा, विद्यापति, आदि कवियों ने राधा-कृष्ण के प्रेम-वर्णन से गद्गद् होकर शृङ्गार-रस की अवतारणा की, किन्तु उन्होंने अपनी वाणी को संयत और निर्मल रखा। इससे बाद भी हिन्दी साहित्य की बराबर अभिवृद्धि हुई, परन्तु आगे काव्य का लक्ष्य परिवर्तित हो गया। वह धर्म की ओर न जाकर शृङ्गार रस की ओर अधिक प्रवृत्त हुआ। उस समय हिन्दी में केवल शृङ्गार रस की कविता होने लगी। इस रस के आचार्य थे केशवदास। उनकी रसिकप्रिया रसिकों का और कवि-प्रिया कवियों का मनोरञ्जन करने लगी। सेनापति, बिहारी, देव, दास, पद्माकर आदि जितने कवि हुए सभी शृङ्गार के आचार्य थे।

उत्तर मध्यकाल सं० १७००-१९००

इतिहास-लेखकों का कहना है कि मुगलों का शासन-काल भारत का स्वर्ण-युग था। इसमें सन्देह नहीं कि मुगल बादशाहों ने हिन्दी साहित्य के प्रति जो अनुराग प्रदर्शित किया उससे हिन्दी साहित्य की अच्छी वृद्धि हुई। उन्होंने कवियों को आश्रय दिया और उनकी कविताएँ सुनीं। भारत के अन्य राजाओं ने उनका अनुकरण किया इसलिए उस समय जितने कवि हुए सब किसी न किसी राजा या मुगल बादशाह के दरबार में आश्रय पाने लगे और उन्हें प्रसन्न करने के लिए कविता करने लगे। इस प्रकार कविता-कामिनी, जिसका दामन अब तक अछूता था, सन्तों और महात्माओं के हाथ से निकलकर राज दरबारों में विलास का साधन बन गयी। ऐसी दशा में कवियों का प्रश्न उत्कालीन समाज की समस्याओं की ओर से हटकर राज-दरबारों

की ओर आकृष्ट हो गया और वे जनता का प्रतिनिधित्व न कर सके। उनकी कृतियाँ विद्वानों के मनोरञ्जन और विलास की सामग्री तो बन गयीं, परन्तु वे सर्व-साधारण की सम्पत्ति और पूजापात्र न हो सकीं। हिन्दी साहित्य में ऐसे समस्त कवियों की गणना रीतिकाल के अन्तर्गत की जाती है, परन्तु यह देखकर आश्चर्य होता है कि विलासिता के इस युग में भूषण का जन्म हुआ। बात यह थी कि उन्होंने वीर शासकों का आश्रय लिया था। वह वीर शिवाजी और छत्रसाल की तलवार का बल समझते थे। उन्हें इस बात का ज्ञान था कि देश और समाज की क्या आवश्यकता है। इसलिए उन्होंने तत्कालीन शैली का परित्याग करके अपनी रचनाओं में वीर रस को स्थान दिया। यह हिन्दी साहित्य के लिए कम गौरव की बात नहीं थी। मुग़ल साम्राज्य के धुँधले प्रकाश में जब हिन्दी के शृंगारी कवि कविता-कामिनी को विविध अलङ्कारों से सजाकर उत्तरी भारत के राज-दरबारों में नचा रहे थे तब दक्षिण भारत में शिवा जी के आश्रित कवि भूषण की ओजस्वी वाणी सम्पूर्ण भारत को यवनों की दासता से मुक्त करने का आह्वान कर रही थी। यह थी मध्यकाल के अन्तिम चरण में हिन्दी-साहित्य की स्थिति। इसके पश्चात् मुग़ल साम्राज्य का पतन हुआ और अँगरेज़ी शासन का आविर्भाव।

आधुनिक काल

औरंगज़ेब की मृत्यु के पश्चात् भारत का राजनीतिक वातावरण इतना दूषित हो गया कि लोगों को जान के लाले पड़ गये। ऐसी दशा में साहित्य की ओर किसी का ध्यान आकृष्ट न हो सका। सन् १८५७ ई० के विद्रोह के पश्चात्, जब अँगरेज़ों के शासन का सूत्रपात हुआ तब, उनका ध्यान भारतीयों की शिक्षा की ओर गया। उस समय कचहरियों तथा सभ्य समाजों में फ़ारसी का आदर था; हिन्दी भाषा का थोड़ा-बहुत ज्ञान केवल उन व्यक्तियों को था जिन्हें रामायण अथवा सूर-सागर के पठन-पाठन से प्रेम था। इस प्रकार भारत के एक विशेष वर्ग की जनता अपनी

मातृभाषा के ज्ञान से वञ्चित थी। अँगरेज़ विद्या-प्रेमी थे। भारतीय भाषाओं तथा उपभाषाओं के अध्ययन का उन्हें शौक़ था। इसलिए उन्होंने तत्कालीन भाषा में गद्य-साहित्य तैयार कराने का आयोजन किया। इस प्रकार इस काल का श्रीगणेश गद्य साहित्य से हुआ। इसलिए इस युग को गद्य साहित्य का युग कहते हैं।

हिन्दी भाषा के विकास के सम्बन्ध में विचार प्रकट करते हुए हम यह भी बता चुके हैं कि तेरहवीं शताब्दी से पूर्व गद्य-साहित्य का पता नहीं चलता। मारवाड़ की कुछ सनदों में स्थानीय भाषा के नमूने मिलते हैं। इसके अतिरिक्त पन्द्रहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में बाबा गोरखनाथ जी की ब्रजभाषा रचना, सत्रहवीं शताब्दी में वल्लभाचार्य के पुत्र गोस्वामी विट्ठलनाथ की चौरासी वैष्णवों की वार्त्ता और दो सौ बावन वैष्णवों की वार्त्ता का तथा जटमल, गंग भाट, महात्मा नाभादास इत्यादि की रचनाएँ और अठारहवीं शताब्दी में देव, सूरति मिश्र, दास, ललित किशोरी आदि की कृतियाँ मिलती हैं। इन रचनाओं में ब्रजभाषा का प्राधान्य है। उन्नीसवीं शताब्दी से खड़ी बोली का युग आरम्भ होता है। इस युग में सबसे पहले मु० सदासुखलाल की रचनाएँ मिलती हैं। इसके बाद पं० लल्लूलाल का प्रेमसागर मिलता है। लल्लूलाल ब्रज की गोद में पले थे, इसलिए उनकी रचनाओं पर ब्रज भाषा की छाप अधिक है। सदलमिश्र के नासिकेतोपाख्यान में यह बात नहीं पायी जाती। प्रेमसागर में ब्रजभाषा की लटक के साथ-साथ सानुप्रास पद्यमय गद्य है। नासिकेतोपाख्यान में व्यावहारिक खड़ी बोली के साथ-साथ मुहाविरे और उर्दू के कुछ पद भी आ गये हैं। कहीं-कहीं ब्रज-भाषा और अवधी भी मिलती है। इंशाअल्लाखाँ की 'रानी केतकी की कहानी' भी इसी काल का गद्य-ग्रन्थ है। इसकी भाषा खड़ी बोली है और उस पर फ़ारसी तथा अरबी का प्रभाव पड़ा है। वस्तुतः खड़ी बोली का हिन्दी गद्य-साहित्य में प्रचार उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से हुआ है। और इसका श्रेय राजा शिवप्रसाद सितारे-हिन्द, राजा

लक्ष्मणसिंह, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तथा स्वामी दयानन्द को प्राप्त है। इसमें से भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ही आधुनिक गद्य के निर्माता कहे जाते हैं। इसका कारण यह है कि उन्होंने राजा शिवप्रसाद की फारसी शब्द-प्रधान शैली और राजा लक्ष्मणसिंह की संस्कृत शब्द,प्रधान शैली के बीच का मार्ग ग्रहण किया है। उन्होंने अपनी विविध पुस्तकों में इसी शैली को स्थान दिया है। इस प्रकार साधारण रूप से काल क्रम के अनुसार हम आधुनिक गद्य साहित्य को तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं। पहला भारतेन्दु युग, दूसरा द्विवेदी युग और तीसरा वर्तमानयुग।

[१] **भारतेन्दु युग**—खड़ी बोली में हिन्दी गद्य-साहित्य का यह उत्पत्ति-काल है। इस काल का गद्य प्रायः व्याकरण-सम्बन्धी अशुद्धियों से पूर्ण, वाक्य-विन्यास में दोषयुक्त और भाषा में रूपहीन है। फिर भी विविध विषयों पर निबन्ध लिखे गये हैं और नाटकों तथा उपन्यासों की रचना हुई है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', अम्बिकादत्त व्यास आदि इस काल के प्रसिद्ध लेखक हैं। इनकी रचनाओं का हिन्दी साहित्य में बड़ा सम्मान है।

[२] **द्विवेदी युग**—यह भाषा का परिमार्जन काल है। इस काल में भाषा की सभी त्रुटियों का संस्कार हो जाता है और भाषा अपने शुद्ध रूप में निखर आती है। मुद्रण-कला के प्रचार से मासिक पत्र तथा पत्रिकाओं द्वारा हिन्दी-गद्य का पूर्ण रूप से विकास होता है और खड़ी बोली में कविता के युग का आरम्भ होता है। नाटक, निबन्ध, कहानी, उपन्यास, आलोचना तथा इसी प्रकार के अन्य साहित्यिक विषयों पर पुस्तकें मिलने लगती हैं। गोविन्दनारायण मिश्र, बालमुकुन्द गुप्त, महावीरप्रसाद द्विवेदी, माधवप्रसाद मिश्र आदि इस काल के मुख्य लेखक हैं।

[३] **नवीन युग**—अथवा वर्तमान युग में भाषा का स्वरूप स्थिर हो जाता है और उसका विभिन्न शैलियों में विकास होता है। अँग्रेजी

साहित्य के प्रभाव में आने के कारण इस युग में हिन्दी साहित्य का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत हो जाता है और उसमें हृदय-पक्ष तथा कला-पक्ष का पूर्ण रूप से समावेश होता है। यह द्विवेदी जी के परिश्रम का फल है। इस युग में साहित्य के सभी अंगों का विस्तार होता है। पं० पद्मसिंह, बाबू श्यामसुन्दर दास, पं० रामचन्द्र शुक्ल, बाबू जयशंकर प्रसाद, बाबू प्रेमचन्द, श्री वियोगीहरि, श्री गुलाब राय, श्री जैनेन्द्र कुमार, श्री रामनाथ 'सुमन', प्रो० नगेन्द्र, प्रो० रामदास गौड़, श्री प्रभाकर माचवे, श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी, श्री धीरेन्द्र वर्मा, श्री रामकुमार वर्मा, राय कृष्णदास, श्री सूर्यकांत त्रिपाठी निराला, श्रीमती महादेवी वर्मा, श्री नलिनी मोहन सान्याल, श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान, श्री सुमित्रा-नन्दन पन्त, प० भगवतीप्रसाद वाजपेयी, श्री भगवतीचरण वर्मा, श्री उग्र आदि की लेखनी ने हिन्दी गद्य-साहित्य को जो दान दिया है वह प्रत्येक दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

यह तो हुई गद्य-साहित्य की बात। इस युग में हिन्दी कविता के विकास पर ध्यान देने से पता चलता है कि द्विवेदी-काल के पूर्व ब्रज भाषा में ही कविता होती थी और राम तथा कृष्ण के अलौकिक चरित ही कवियों के काव्य के विषय थे। द्विवेदी युग का आरम्भ होने पर खड़ी बोली को काव्य में स्थान मिला, परन्तु ब्रजभाषा का प्रभाव फिर भी बना रहा। ब्रजभाषा के कवियों में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, श्रीधर पाठक, जगन्नाथदास रत्नाकर, रामचन्द्र शुक्ल, वियोगी हरि, नाथूराम वर्मा, अयोध्यासिंह उपाध्याय इत्यादि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। खड़ी बोली के कवियों में महावीरप्रसाद द्विवेदी, अयोध्यासिंह उपा-ध्याय, मैथिलीशरण गुप्त, माखनलाल चतुर्वेदी, सियारामशरण गुप्त जयशंकर प्रसाद, सुमित्रानन्दन पन्त, भगवतीचरण वर्मा, सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला', रामनरेश त्रिपाठी, गोपालशरण सिंह, महादेवी वर्मा, रामकुमार वर्मा, सुभद्राकुमारी चौहान, नवीन, रामेश्वर शुक्ल 'अंचल', 'दिनकर' आदि की गणना की जाती है। इस सम्बन्ध में हमें

यह याद रखना चाहिए कि इन कवियों ने अँग्रेज़ी साहित्य के प्रभाव में आकर विविध विषयों पर नये-नये छन्दों में रचना की है। इस प्रकार इन कवियों ने हिन्दी काव्य मे नवीन विचारों, नवीन छन्दों, नवीन विषयों और नवीन शैलियों को जन्म दिया है। कुछ कवियों ने वादों के चक्कर में पड़कर रहस्यवाद तथा छायावाद का प्रवेश हिन्दी साहित्य में किया है। कहने का तात्पर्य यह है कि हिन्दी-साहित्य के लिए यह एक नया युग है। इस युग की समस्याएँ नयी हैं, विषय नये हैं, भाव नये हैं, शैली नयी है। यह नयापन हिन्दी साहित्य को किस ओर ले जायेगा, कहा नहीं जा सकता।

अध्याय ५

निबन्ध और उसके भेद

हिन्दी का आधुनिक काल गद्यकाल कहा जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि पिछले बीस वर्षों में हिन्दी गद्य की यथेष्ट उन्नति हुई है, परन्तु भाषा की व्यञ्जना शैली का जब तक पूर्ण विकास नहीं हो जाता, सभी प्रकार के भावों को अभिलिखित तथा प्रभावोत्पादक रूप में व्यक्त करने की शक्ति एवं क्षमता जब तक उसमें नहीं आ जाती तब तक गद्य के इतिहास का अध्ययन करनेवालों के लिए स्थायी निधि प्राप्त नहीं हो सकती। हिन्दी साहित्यिकों ने गद्य की जो उन्नति की है वह ललित साहित्य के कतिपय भेदों-उपभेदों तक ही सीमित है। नाटक, उपन्यास, कहानी और गद्य-काव्य का बाहुल्य ही हमें इस समय अधिक दीख पड़ता है। रचना-शैली और तत्वों की प्रधानता पर आधारित इन्हीं विषयों के विभिन्न प्रकारों की रचना में हमारे गद्य-लेखकों ने अपनी समस्त शक्ति और बुद्धि लगा दी है। ललित साहित्य के निबन्ध और आलोचना तथा परिचय साहित्य के जीवनचरित, इतिहास, भाषा-विज्ञान जैसे एक दो विषयों पर भी इने-गिने ग्रन्थ लिखे गये हैं; परन्तु इनका भाण्डार अभी सन्तोषजनक नहीं है। इनके पहले जो लेख और छोटे-छोटे ग्रन्थ तैयार हुए, उनमें से अधिकांश स्वतंत्र अथवा आधारित अनुवाद मात्र थे। उनसे तथा कुछ छोटे एवं मौलिक ग्रन्थों की रचना के पश्चात् गद्य शैली में जो प्रौढ़ता आयी वस्तुतः उसी पर भावी गद्य साहित्य का भवन निर्माण होना आरंभ हुआ।

हमारा गद्य-साहित्य

हिन्दी गद्य साहित्य की वर्तमान रूप-रेखा पर इतना विचार करने के

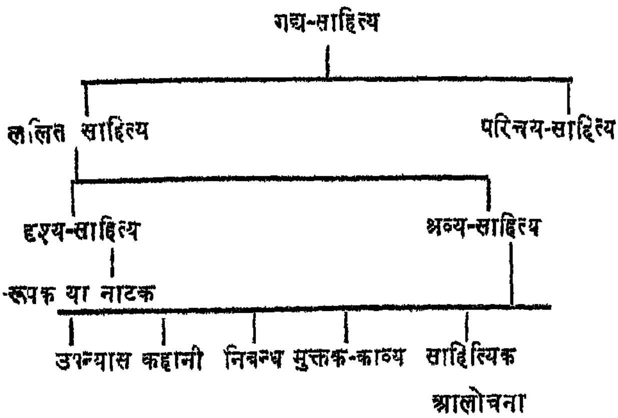
पश्चात् अब हम केवल निबन्ध साहित्य के विकास पर विचार करेंगे;

गद्य साहित्य में निबन्ध का स्थान

परन्तु इससे पहले हमें गद्य-साहित्य के विभाजन पर विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है। इस प्रकार के विस्तार से हमें गद्य-साहित्य में निबन्ध का स्थान समझने में आसानी होगी।

गद्य साहित्य का विभाजन

गद्य-साहित्य का विभाजन प्रायः दो भागों में किया जाता है—१. ललित-साहित्य २. परिचय-साहित्य। ललित-साहित्य के दो भेद हैं—क. दृश्य साहित्य, ख. श्रव्य-साहित्य। रूपक अथवा नाटक और उसके भेदोपभेद दृश्य-साहित्य के अन्तर्गत हैं। श्रव्य-साहित्य के मुख्य पाँच भेद हैं—१. उपन्यास, २. कहानी, ३. निबन्ध, ४. मुक्तक काव्य, ५. साहित्यिक आलोचना। ललित-साहित्य-गद्य से के अंग-उपांग इस तालिका से स्पष्ट हो सकते हैं :—



परिचय-साहित्य के अन्तर्गत जितने विषय आते हैं, उनमें मुख्य ये हैं—जीवनचरित, विज्ञान, धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, राजनीति,

इतिहास, ज्योतिष, यात्रा, चित्रकला, वास्तु-कला, मूर्ति-कला, शिल्प-कला, दर्शन, वेदान्त, तर्कशास्त्र, व्यवसाय-शास्त्र, भाषा विज्ञान, न्याय-विज्ञान, कृषि शास्त्र, मानव-शरीर-विज्ञान, मनोविज्ञान, रसायन-शास्त्र जनन-विज्ञान, वनस्पति शास्त्र, चिकित्सा शास्त्र, जर्राही, मानव-जाति-शास्त्र, जंगलात, यातायात, शिक्षा, लेखन कला, पत्रकार-कला, सृष्टि-विज्ञान, जन्तु-विज्ञान, गणित-शास्त्र । अगली पंक्तियों में हम केवल निबन्ध साहित्य पर विचार करेंगे।

निबन्ध हिन्दी-गद्य साहित्य का एक अंग है और उसका विकास नवीन युग की एक विशेषता है । इसमें सन्देह नहीं कि हिन्दी ने संस्कृत साहित्य से बहुत-कुछ लिया है और सच पूछिए तो उसका विकास एक प्रकार से उसी के आधार पर हुआ है, परन्तु यह स्वीकार करने में किसी को संकोच नहीं हो सकता कि इस दिशा में हिन्दी को संस्कृत साहित्य से उल्लेखनीय दान नहीं मिला। इसका कारण यह है कि जिस अर्थ में हम वर्तमान काल में निबन्ध शब्द का प्रयोग करते हैं उस अर्थ में संस्कृत साहित्य स्वयं निबन्धों से शून्य है। उसमें कथा, कहानी, नाटक, आलोचना तथा इसी प्रकार के अन्य साहित्य के अंग तो हैं, निबन्ध नहीं हैं । हिन्दी-साहित्य में निबन्ध का विकास अँगरेज़ी साहित्य के आधार पर हुआ है ।

हिन्दी में निबन्ध के अर्थ

निबन्ध संस्कृत भाषा का ही शब्द है । प्राचीन काल में जब मुद्रण-यन्त्र का नाम भी नहीं था तब लोग भोजपत्रों पर लिखा करते थे। इसके बाद वे उन्हें एकत्र करते थे, सँवारते थे और एक में सीकर पुस्तक के रूप में बनाते थे; इस क्रिया को वे निबन्ध अथवा प्रबन्ध कहते थे, परन्तु कालान्तर में इस अर्थ में परिवर्तन हो गया और इसका प्रयोग साहित्य-रचना के लिए होने लगा । काशी-नागरी प्रचारिणी सभा-द्वारा प्रकाशित 'हिन्दी शब्द सागर' में इस शब्द का अर्थ 'बन्धन, वह व्याख्या जिसमें अनेक मतों का संग्रह हो' मिलता है । इस प्रकार निबन्ध के

तात्पर्य ऐसे लेखों से होता है जिनमें विचार-परम्परा के साथ-साथ लेखक अपने विचारों, भावों और मनोवृत्तियों का प्रकाशन अपनी भाषा और अपनी शैली में करता है। प्रबन्ध शब्द से यह अर्थ-बोध नहीं होता। 'हिन्दी शब्द सागर' में प्रबन्ध का अर्थ है—'कई वस्तुओं या बातों का एक में ग्रन्थन, एक दूसरे से सम्बद्ध वाक्य-रचना का विस्तार; लेख या अनेक सम्बद्ध पद्यों में पूरा होने वाला काव्य।' इस प्रकार निबन्ध की अपेक्षा प्रबन्ध शब्द का अर्थ अधिक व्यापक है। प्राचीन काल में यह शब्द अपने मौलिक अर्थ में उन समस्त लेखों या रचनाओं के लिए प्रयुक्त होता था जो किसी कथा या विषय को शास्त्रीय ढंग से, गद्य अथवा पद्य में, प्रस्तुत करते थे। वर्तमान काल में अंगरेजी साहित्य के प्रभाव के कारण इस अर्थ में भी परिवर्तन हो गया है और अब ऐसी रचनाएँ प्रबन्ध समझी जाती हैं जिनमें लेखक प्रतिपाद्य विषय को लेकर उसके स्वरूप, उपयोग, महत्व आदि को दिखाता हुआ उसकी उत्पत्ति एवं विवेचन के साथ अपनी भाषा और अपनी शैली में अपने विचारों का स्पष्टीकरण करता है। अंगरेजी साहित्य का थीसिस अथवा ट्रीटाइज शब्द तथा हिन्दी का प्रबन्ध शब्द कुछ कुछ समानार्थी हैं। हिन्दी में आलोचनात्मक तथा गवेषणापूर्ण रचनाएँ प्रबन्ध ही समझी जाती हैं।

लेख तो निबन्ध और प्रबन्ध से भी अधिक व्यापक है। इसका अर्थ है—लिखी हुई सामग्री। इस प्रकार इस शब्द से किसी विशेष निर्दिष्ट रचना का ज्ञान नहीं होता। अँगरेजी साहित्य में हम इस शब्द के लिए 'आर्टिकिल' शब्द पाते हैं। लेख का प्रायः गद्य-रचना से आशय होता है।

हिन्दी में रचना, सन्दर्भ तथा गद्य विधान भी निबन्ध के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। रचना का साधारण अर्थ है—शब्दों को वाक्य में इस प्रकार सजाना कि वाक्य का अर्थ स्पष्ट हो जाय। अँगरेजी में इस शब्द का समानार्थी कम्पोजीशन है। सन्दर्भ भी एक सामान्य शब्द

है। हिन्दी शब्द सागर में सन्दर्भ का अर्थ है—रचना, प्रबन्ध, निबन्ध, लेख, वह ग्रन्थ जिसमें किसी और ग्रन्थ के गूढ़ वाक्यों आदि का अर्थ या स्पष्टीकरण हो। गद्य-विधान में सभी गद्य रचनाओं का, चाहे वे छोटी हों अथवा बड़ी, समावेश हो सकता है। इस प्रकार लेख, रचना प्रबन्ध, सन्दर्भ गद्य-विधान आदि शब्दों के रहने पर भी निबन्ध अपनी विशेषता के कारण अँगरेजी शब्द 'ऐसे' का बोधक है।

पाश्चात्य साहित्य में निबन्ध की उत्पत्ति

पाश्चात्य साहित्य, विशेषतः अँगरेजी साहित्य, में निबन्ध की उत्पत्ति का एक रोचक इतिहास है। वहाँ फ्राँसीसी विद्वान मिकेल मौंटेन निबन्ध का जन्मदाता माना जाता है। पाश्चात्य साहित्यकारों का कहना है कि एक बार उसने अपने विषय में कुछ लिखने का विचार किया। इस कार्य का सम्पादन करने के लिए वह एक निर्जन स्थान में चला गया। ऐसा उसने कदाचित् इस अभिप्राय से किया कि वह उस निर्जन स्थान में दूसरों के विचारों से अप्रभावित होकर अपने सम्बन्ध में स्वतंत्र रूप से लिख सकेगा। इस प्रकार अपने व्यक्तित्व के प्रभाव से उसने जो लेख लिखे उनको उसने एसेइस (Essais) के नाम से प्रकाशित किया। यह सन् १५८० की बात है। इससे पूर्व इस शब्द का प्रयोग प्रयत्न, परीक्षा अथवा परीक्षण के अर्थ में होता था। मौंटेन ने ही सर्वप्रथम इस शब्द का प्रयोग साहित्यिक अर्थ में किया। अतएव वही गद्य-साहित्य के इस प्रमुख अंग का जन्मदाता कहा जाता है। वस्तुतः उस समय के लेखकों पर उसके व्यक्तित्व का, उसकी रचना-शैली का, उसके निबन्धों का इतना प्रभाव पड़ा कि अल्प-काल में ही निबन्ध साहित्य ने पाश्चात्य-साहित्य में अपना स्थान बना लिया।

मौंटेन के निबन्धों पर यदि हम विचार करें तो हमें ज्ञात होगा कि उन पर मौंटेन के व्यक्तित्व की पूरी छाप है। इसीलिए एडीसन ने उसके सम्बन्ध में लिखा है कि मौंटेन ही संसार में सर्वश्रेष्ठ आत्मवक्ता हुआ है।

मौंटेन के निबन्धों की शैली और उसकी विशेषताओं पर विचार करने से उसकी परिभाषा सहज ही बनाई जा सकती है। डा० सैमुअल जानसन ने निबन्ध की परिभाषा निश्चित करते हुए लिखा है कि निबन्ध मानसिक जगत का एक शिथिल बुद्धि-विलास है। अतएव वह क्रमिक एवं नियमित रचना न होकर एक अव्यवस्थित तथा अपरिपक्व विचार खंड होता है।

निबन्ध की परिभाषा

डा० जानसन की इस परिभाषा की कसौटी पर यदि हम आज के निबन्धों को कसें तो हमें निराश ही होना पड़ेगा। आज कल के निबन्ध पूर्णरूप से परिमार्जित और कलात्मक होते हैं। कदाचित् इसीलिए आक्सफोर्ड अँगरेजी कोष में निबन्ध की एक नवीन परिभाषा दी गयी है। उस परिभाषा के अनुसार निबन्ध किसी विषय-विशेष अथवा किसी विषय के अंश पर एक ऐसी साधारण कलेवरमयी रचना है जिसमें प्रारंभ में अपरिपूर्णता की कल्पना रहती थी; परन्तु अब उसका प्रयोग एक ऐसी रचना के लिए होता है जिसकी परिधि के सीमित रहने पर भी शैली प्रायः प्रौढ़ एवं परमार्जित रहती है।

इस प्रकार हम देख सकते हैं कि निबन्ध की परिभाषा के सम्बन्ध में अधिक हेर-फेर हो गया है। आजकल के लेखक कई बातों में प्राचीन लेखकों से भिन्न हैं। आजकल के लेखक निबन्ध के तर्कपूर्ण क्रमिक विकास तथा शैली की गंभीरता एवं प्रौढ़ता पर अधिक जोर देते हैं। प्राचीन लेखक ऐसा न करके शिथिलता आत्मीयता तथा घनिष्ठता पर अधिक ध्यान देते थे। शिथिलता के सम्बन्ध में बाबू श्यामसुन्दर दास जी के विचार नीचे दिये जाते हैं:—

"वास्तव में निबन्ध की शिथिल शैली अत्यधिक प्रभावशालिनी होनी चाहिए। बौद्धिक विचारों की शुष्कता और दुरूहता को दूर करने के लिए निबन्ध-लेखकों का यह प्रधान साधन है। इससे वे पाठकों के हृदय को अपनी ओर आकृष्ट कर लेते हैं। उन्हें शैथिल्यपूर्ण हलका वातावरण बनाना कला की दृष्टि से आवश्यक होता है।"

मौंटेन के निबन्धों के विषयों की आलोचना करते हुए आगे वह लिखते हैं :—

"किन्तु उसके 'एसे' उस विषय की परिधि से ही घिरे नहीं रहते थे। प्रस्तुत विषय के साथ अग्रसर होते हुए उक्त विषय के संसर्ग से जो प्रासंगिक विषय सम्मुख उपस्थित हो जाते थे उनकी ओर भी मौंटेन की लेखनी बढ़ जाती थी। इस प्रकार वह विषयान्तर में भी पड़ जाता था। अनेक बार उसे एक विषय से दूसरे और दूसरे से तीसरे की ओर जाते देखा जा सकता है। इससे प्रकट होता है कि मौंटेन के लिए निबन्ध का विषय आरम्भ में लेखनी को उत्तेजित करने वाली एक प्रेरणा मात्र है और एक बार जब उसकी लेखनी चल पड़ती है तब वह अन्य प्रेरणाओं के वशीभूत होकर आगे बढ़ती रहती है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि मौंटेन की रचनाओं में निबन्ध की शृंखला नितान्त उच्छिन्न है—उसमें विचारों का कोई तारतम्य ही नहीं है। यदि ऐसा होता तो उसके निबन्ध कलात्मक पूर्णता के अभाव में साहित्य की भूमि पर पदार्पण ही न कर पाते, उन्हें विशिष्ट साहित्यिक पद प्राप्त करने का तो प्रश्न ही न होता। वास्तव में उसके 'एसे' विषय के मुख्य सूत्र को पकड़कर चलते हैं और आत्यन्तिक रूप में उसका त्याग कभी नहीं करते। वह विषयान्तर में अवश्य चला जाता है किन्तु वहाँ से लौटकर पुनः अपने मुख्य विषय पर पहुँच जाता है। और निबन्ध के समाप्त होने पर हम उसकी अन्तर्निहित एकता का अनुभव करते हैं।"

इस सम्बन्ध में आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल के ये वाक्य भी बड़े महत्त्वपूर्ण हैं :—

"आधुनिक पाश्चात्य लक्षणों के अनुसार निबन्ध उसी को कहना चाहिये जिसमें व्यक्तित्व अर्थात् व्यक्तिगत विशेषता हो। बात तो ठीक है, यदि ठीक तरह से समझी जाय। व्यक्तिगत विशेषता का यह मतलब नहीं कि उसके प्रदर्शन के लिए विचारों की शृंखला रखी नहीं

जाय या जानबूझकर जगह-जगह से तोड़ दी जाय, भावों की विचित्रता दिखाने के लिए ऐसी अर्थ-योजना की जाय, जो उनकी अनुभूति के प्रकृत या लोकसामान्य रूप से कोई सम्बन्ध ही न रखे अथवा भाषा से सरकसवालों-की-सी कसरतें या हठयोगियों के-से आसन कराये जायँ जिनका लक्ष्य तमाशा दिखाने के सिवा और कुछ न हो।"

"संसार की हर एक बात और सब बातों से सम्बद्ध है। अपने अपने मानसिक संघटन के अनुसार किसी का मन किसी सम्बन्ध-सूत्र पर दौड़ता है किसी का किसी पर। ये सम्बन्ध-सूत्र एक दूसरे से नथे हुए, पत्तों के भीतर की नसों के समान, चारों ओर एक जाल के रूप में फैले हैं। तत्त्वचिन्तक या दार्शनिक केवल अपने व्यापक सिद्धान्तों के प्रतिपादन के लिए उपयोगी कुछ सम्बन्ध सूत्रों को पकड़कर किसी ओर सीधा चलता है और बीच के ब्योरों में कहीं नहीं फँसता। पर निबन्ध-लेखक अपने मन की प्रवृत्ति के अनुसार स्वच्छन्द गति से इधर-उधर फूटी हुई सूत्र शाखाओं पर विचरता चलता है। यही उसकी अर्थ-सम्बन्धी व्यक्तिगत विशेषता है। अर्थ-सम्बन्धी सूत्रों की टेढ़ा-मेढ़ी रेखाएँ ही भिन्न-भिन्न लेखकों का दृष्टि-पथ निर्दिष्ट करती हैं। एक ही बात को लेकर किसी का मन किसी सम्बन्ध सूत्र पर दौड़ता है, किसी का किसी पर। इसी का नाम है एक ही बात को भिन्न-भिन्न दृष्टियों से देखना। व्यक्तिगत विशेषता का मूल आधार यही है।"

निबन्ध की उत्पत्ति एवं विकास में जो प्रेरणाएँ कार्य करती हैं उनका आचार्य शुक्ल के शब्दों में मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करने के पश्चात् निबन्ध का उद्देश्य समझना सरल हो जाता है। यह तो सभी जानते हैं कि मनुष्य आदि काल से थोड़े समय में, अधिक से अधिक लाभ उठाने की चेष्टा करता आ रहा है और सभ्यता के विकास के साथ उसकी इस प्रकार की चेष्टा बढ़ती ही जा रही है। आजकल के अनेक साधन उसकी इसी चेष्टा के प्रतिफल हैं। निबन्ध भी ऐसा ही साधन है।

निबन्ध-रचना का उद्देश्य

इसके द्वारा पाठक, संक्षेप में, किसी विषय का ज्ञान प्राप्त कर लेता है। वास्तव में लिखी गयी पुस्तक भी उस विषय से सम्बन्ध रखनेवाले विविध निबन्धों का संग्रह मात्र ही है। घोड़े के विषय में एक छोटी-मोटी पुस्तक भी लिखी जा सकती है और एक निबन्ध भी लिखा जा सकता है। भेद केवल आकार और शैली का है। उपयोगिता की दृष्टि से दोनों की आवश्यकता है।

यह तो हुआ पाठक की दृष्टि से निबन्ध का उद्देश्य। लेखक की दृष्टि से निबन्ध का उद्देश्य किसी विषय के सम्बन्ध में निश्चित और थोड़े समय के भीतर संक्षेप में अपने विचारों को तर्क-वितर्क-सहित ऐसी शैली में व्यक्त करना है जिससे पाठक पर उन विचारों का मनोवांछित प्रभाव पड़े। वस्तुतः निबन्ध के इस उद्देश्य की पूर्ति करना अत्यन्त कठिन है। इसमें सफलता प्राप्त करने के लिए आरम्भ से ही अभ्यास की आवश्यकता है। इस दृष्टि से निबन्ध का एक और उद्देश्य होता है और वह है लेखक की विचार-शक्ति और उसकी लेखन कला की उन्नति करना तथा पाठक एवं लेखक में किसी विषय के प्रति रुचि उत्पन्न करना। स्कूल तथा कालेज में इसी उद्देश्य को सामने रखकर निबन्ध-रचना की शिक्षा दी जाती है। निबन्ध का उद्देश्य अपनी योग्यता नहीं, भाव प्रदर्शित करना है। किसी विषय पर निबन्ध लिखते समय हमें अपना यह कर्तव्य न भूलना चाहिए।

उपर्युक्त पंक्तियों में निबन्ध के जो कतिपय उद्देश्य अङ्कित किये गये हैं उनसे उसका महत्त्व भी प्रकट हो जाता है। इसमें तो सन्देह ही नहीं किया जा सकता कि मनुष्य का ज्ञान पर्यवेक्षण और अनुभव पर अवलम्बित है। वह जो कुछ देखता है, अनुभव करता है, उसे अपने मस्तिष्क में सञ्चित कर लेता है। इससे उसे तो लाभ होता ही है, भविष्य में आनेवाली उसकी सन्तति भी उससे लाभ उठाती है। यह तभी सम्भव है, जब उसके विचार और अनुभव लेखबद्ध हों। मौखिक ज्ञान अविश्वसनीय होता

निबन्ध का महत्त्व

है। वह भूला जा सकता है, तोड़ा-मोड़ा जा सकता है, बिगाड़ा-बनाया जा सकता है, घटाया बढ़ाया जा सकता है, किन्तु लेख-बद्ध होने पर वह ज्ञान विश्वसनीय हो जाता है और शताब्दियों तक सुरक्षित रहता है। मौखिक ज्ञान में वह शक्ति और स्थिरता नहीं रहती जो लेख-बद्ध ज्ञान में पायी जाती है। हमारे पूर्वजों ने अपने अनुभव-जनित ज्ञान के जो अमूल्य रत्न ग्रन्थों की तिजोरी में रख दिये हैं उनसे हम को ही नहीं, अपितु विश्व को लाभ पहुँच रहा है। अतः निबन्ध का महत्व अवर्णनीय है।

निबन्ध हमें लिखना सिखाता है, हमारी मानसिक शक्तियों का विकास करता है, हमारी विचार-धारा को शुद्ध एवं संयत करता है और उसे स्थायी बनाने में सहायक होता है। इस प्रकार जो वस्तु अध्ययन एवं मनन का विषय बन जाती है वह मस्तिष्क में समाकर अभिव्यक्ति चाहने लगती है। निबन्ध इसी अभिव्यक्ति का, इसी आत्म-प्रकाशन का प्रतिफल है। विचारों और भावों का सरल एवं सुन्दर प्रकाशन उसको स्पष्टता प्रदान करता है। बिना लिखे विचार नीहार की भाँति अस्पष्ट और धूमिल रहते हैं।

निबन्ध हमारे मनोभावों की प्रतिमूर्ति है। इसे हम लिखित वाणी-द्वारा व्यक्त करते हैं। कथित वाणी-द्वारा प्रकट करने में वह भाषण या व्याख्यान का रूप धारण कर लेता है। भाषण समाज की, देश की अस्थायी सम्पत्ति है। निबन्ध स्थायी सम्पत्ति है। उसे हम बार-बार पढ़ते हैं और आनन्द लेते हैं। उसमें लेखक के भावों का चित्र रहता है। इस प्रकार हम किसी लेखक के निबन्धों को पढ़कर उसके चरित्र का अध्ययन कर सकते हैं।

निबन्ध, लेखक को अमरत्व प्रदान करते हैं, विद्वानों की विद्वत्ता साधारण जनता तक पहुँचाते हैं, लोक-रुचि का परिष्कार करते हैं और समाज को ऊँचा उठाते हैं। इसलिए यदि हम अपने अनुभव और निरीक्षण से भावी सन्तान को लाभ पहुँचाना चाहते हैं, यदि

हम अपने अध्ययन और अनुसंधान से अपने साहित्य का भाण्डार भरना चाहते हैं और यदि हम अपनी विचार-धारा और अपनी साधना से अपने समाज को ऊँचा उठाना चाहते हैं तो हमारा यह कर्त्तव्य है कि हम निबन्ध-रचना का अभ्यास करें।

किन्तु निबन्ध-रचना का अभ्यास करने से पहले हमें यह जान लेना चाहिये कि निबन्ध के विषय क्या हो सकते हैं। यह तो स्पष्ट कर ही दिया गया है कि निबन्ध परिमित समय और परिमित शब्दों में किसी वस्तु, व्यक्ति अथवा घटना के सम्बन्ध में कुछ विचार लिपि-बद्ध कर देने की चेष्टा मात्र है। इस दृष्टि से निबन्ध के विषय की कोई सीमा निर्धारित नहीं की जा सकती। उसका विषय कुछ भी हो सकता है। आकाश के तारों से लेकर धूल के कण तक निबन्ध के विषय बन सकते हैं। गाय बैल, कीट-पतंग, राम-कृष्ण, सीता-पार्वती, पानीपत का युद्ध, वन, नदी, पर्वत, कछुआ, पैसे की आत्मकथा, क्रोध लज्जा, ग्लानि, श्रद्धा, भक्ति आदि अनेक विषयों पर निबन्ध लिखे गये हैं और लिखे जा सकते हैं। इस प्रकार कोई क्षुद्र विषय निबन्धकार को आकर्षित कर सकता है। उसकी लेखनी उन समस्त विषयों पर उठ सकती है जिसके सम्बन्ध में उसने गम्भीर अध्ययन किया है या जिनसे वह स्वयं प्रभावित हुआ है।

निबन्ध के विषय

अब प्रश्न यह है कि निबन्ध के विषय का क्रम क्या होना चाहिए। शिक्षा के निष्णात पण्डितों का कहना है कि आरम्भ में हमें ज्ञात से अज्ञात की ओर, मूर्त से अमूर्त पदार्थ की ओर, चलना चाहिये। इस प्रकार निबन्ध-रचना में सफलता प्राप्त करने के लिए हमें पहले ऐसे विषयों को लेना चाहिए जो हमारे निकट हैं और जिनके विषय में हमें साधारण ज्ञान है। कहने का तात्पर्य यह है कि निबन्ध लिखने का आरम्भ नित्य प्रति की देखी हुई वस्तुओं के वर्णन और छोटी-छोटी रोचक

निबन्ध का क्रम

कहानियों के दुहराने तथा लेखन से होना स्वाभाविक और सुकर होता है। इसमें सन्देह नहीं कि दया, साहस, प्रेम, सौन्दर्य, लज्जा आदि भी निबन्ध के विषय हैं, परन्तु ये विषय ऐसे हैं जिनके लिए मनन और चिन्तन की आवश्यकता है। आरम्भ में ऐसे विषयों पर लेखनी उठाना अपने उत्साह पर पानी फेरना है। इस कथन से हमारा यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि योग्यता, शक्ति और प्रतिभा होने पर भी ऐसे विषयों पर निबन्ध न लिखना चाहिए। हमारे कहने का अभिप्राय यह है कि जिन लोगों को भाषा का अल्प ज्ञान हो और जिनका अध्ययन सीमित हो उन्हें निबन्ध-रचना का अभ्यास करने के लिए अपने विषय को चुनते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि उनके उनका निकटतम सम्बन्ध हो। जब तक यह न होगा तब तक उनके निबन्ध में वह प्रवाह, वह गुण न आ पायगा जो एक अच्छे निबन्ध की जान है। निबन्ध लिखना हँसी-खेल नहीं है। बड़े-बड़े विद्वानों की लेखनी निबन्ध लिखने में असफल रहती है। किसी विषय पर पुस्तक लिखना सरल है, परन्तु उसी विषय पर सीमित समय और सीमित शब्दों में निबन्ध लिखना कठिन है।

निबन्ध का शीर्षक

यह कठिनाई उस समय कुछ सरल हो जाती है जब हम अपने निबन्ध का अच्छा शीर्षक चुन लेते हैं। शीर्षक में निबन्ध का भाव निहित रहता है। इसके पढ़ते ही तुरन्त पता चल जाता है कि निबन्ध का विषय क्या है।

शीर्षक शब्द शीर्ष से बनाया गया है। शीर्ष का अर्थ है अग्र भाग, चोटी, सिरा, मस्तक। निबन्ध आदि के सम्बन्ध में शीर्षक शब्द का अर्थ होता है किसी विषय का वह परिचायक संक्षिप्त शब्द या पद जो बहुधा पुस्तक, समाचारपत्र, विज्ञापन तथा लेखादि के ऊपर लिखा रहता है।

शीर्षक बनाना सरल काम नहीं है। यह बड़े प्रयत्न और परिश्रम का फल होता है। यह जितना ही स्वाभाविक, भावपूर्ण और गम्भीर

होता है उतना ही पाठक को अपनी ओर आकर्षित कर सकता है। इसलिए इसके चुनाव में शीघ्रता से काम लेना चाहिए। यह विषयानुसार छोटा, अर्थपूर्ण और चुभते हुए शब्दों में होना चाहिए। अपने में अनुकूल शीर्षक चुनने की योग्यता उत्पन्न करने के लिए उच्चकोटि के लेखकों की रचनाओं को पढ़ना चाहिए और उनके निश्चित शीर्षक की महत्ता, अनुकूलता तथा औचित्य पर विचार करना चाहिए।

इस प्रकार निबन्ध का विषय और उसका शीर्षक चुन लेने के पश्चात् हमें उसके आकार पर ध्यान देना चाहिए। हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि समास रूप में अपने भावों और विचारों को व्यक्त करना विरले ही का काम है। यह एक प्रकार से गागर में सागर भरना है और इस कार्य में लेखक को उसी समय सफलता मिलती है जब उसके विषय की सीमा और लेखन-शक्ति में सामञ्जस्य स्थापित हो जाता है। एक प्रकार से विषय की सीमा पर ही निबन्ध का आकार अवलम्बित रहता है। कोई निबन्ध कितना बड़ा हो, कितने पृष्ठों में लिखा जाय, कितने शब्दों में आ जाय, इन प्रश्नों का उत्तर विषय की सीमा पर विचार करने के पश्चात् ही दिया जा सकता है। एक निबन्धकार किसी विषय पर लेखनी उठाने से पहले उस विषय के गुरुत्व को अपने मस्तिष्क की तराजू पर तौलता है और उसकी सीमा निर्धारित करता है। वह सोचता है कि उसका विषय उससे क्या और कितना माँग रहा है। इसी 'क्या' और 'कितना' के अनुसार वह अपने निबन्ध का ढाँचा और उसके विस्तार की परिधि निश्चय करता है। मान लीजिए, किसी लेखक को त्योहार पर एक निबन्ध लिखना है। इस प्रकार के निबन्ध में लेखक को लिखना होगा कि त्योहार क्या है, उनका जन्म क्यों होता है; उनका धार्मिक और सामाजिक महत्व क्या है इत्यादि। परन्तु किसी त्योहार-विशेष पर इस रूप-रेखा के अनुसार लेख लिखना अपने विषय के साथ अन्याय करना होगा। उसमें

निबन्ध का आकार

हमें यह दिखाना होगा कि वह त्योहार किस जाति या धर्म का है, उसका जन्म क्यों हुआ है, उसका सामाजिक महत्त्व क्या है, इत्यादि। इस प्रकार हम देखते हैं विषयों की माँग और उनकी रूप-रेखा में अन्तर होता है। और इसी अन्तर पर विषय की सीमा तथा निबन्ध का विस्तार अवलम्बित रहता है। इसलिए निश्चित रूप से किसी निबन्ध के विस्तार की सीमा नहीं निर्धारित की जा सकती, परन्तु इस सम्बन्ध में हमें यह सदैव स्मरण रखना चाहिये कि निबन्ध का महत्त्व व्यास नहीं, समास में है। जो निबन्ध जितने ही कम परन्तु भावपूर्ण शब्दों में लिखा जायगा उतना ही उत्तम होगा और उससे लेखक की योग्यता, उसकी प्रतिभा तथा उसके व्यक्तित्व का पता चलेगा।

ऊपर की पंक्तियों में निबन्ध के आकार के सम्बन्ध में जो बातें कही गयी हैं उनसे यह भलाभाँति प्रकट होता है कि निबन्ध की सफलता उसकी सामग्री पर अवलम्बित रहती है। अब प्रश्न यह है कि उसकी सामग्री किस प्रकार एकत्र की जा सकती है। इस सम्बन्ध में लेखक को कई साधनों से काम पड़ता है।

निबन्ध की सामग्री

सबसे पहला साधन, जिसके द्वारा हम अपने ज्ञान-कोष की अभिवृद्धि करते हैं निरीक्षण है। इस कार्य में ज्ञानेन्द्रियाँ हमारी सहायता करती हैं। आँखों से हम प्रकृति के अनन्त सौन्दर्य का अवलोकन करते हैं और उससे आनन्दित एवं प्रभावित होते हैं। कानों से पक्षियों का कलरव और सन्तों के मधुर उपदेश सुनते हैं। नाक से पदार्थों की सुगन्ध का अनुभव करते हैं। जिह्वा से स्वाद का आनन्द लेते हैं। त्वचा से किसी वस्तु की कठोरता अथवा कोमलता का ज्ञान प्राप्त करते हैं। इस प्रकार हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ हमारे मानस पटल पर बाह्य जगत् के जो चित्र अङ्कित करती हैं वे अत्यन्त स्पष्ट और स्थायी होते हैं। इस लिए निबन्ध लेखक को बाह्य जगत् का अनुभव प्राप्त करने के लिए अपनी ज्ञानेन्द्रियाँ सदैव जागरूक रखनी चाहिएँ।

निबन्ध की सामग्री एकत्र करने का दूसरा साधन **पर्यटन** है। पर्यटन और निरीक्षण कार्य साथ-साथ होता है। स्थान-स्थान में घूमने से हमारे ज्ञान-कोष में जिन नयी बातों का समावेश होता है उन पर हमारा व्यक्तिगत अधिकार रहता है। जिसने कभी समुद्र देखा ही नहीं वह अपने निबन्ध में उसका 'मनोरम चित्र कैसे अङ्कित कर सकेगा? चन्द्रमा के निर्मल प्रकाश में ताजमहल के सुन्दर दृश्य को अपनी लेखनी-द्वारा काग़ज पर वही उतारने में सफल होगा जिसने उसके समीप बैठकर उसका आनन्द लिया हो। हमें बैठकर शहर की दुनिया के विभिन्न व्यापारों का अनुमान करना अत्यन्त कठिन है और यदि किसी प्रकार यह सम्भव भी हो जाय तो उससे आँखों के सामने उनका जो चित्र उपस्थित होगा वह अत्यन्त धूमिल और अस्पष्ट होगा; उस पर हमारे मनोगत भावों की छाया न होगी, उसमें हमारा हृदय न होगा।

ज्ञान-वृद्धि का तीसरा साधन **स्वाध्याय** है। पर्यटन के साधन सब को सुलभ नहीं होते। उनके लिए धन चाहिए, अवकाश चाहिए, साहस चाहिये। जिनके पास इस प्रकार के साधनों का अभाव है उनके लिये स्वाध्याय ही उत्तम है। यह पर्यटन की कमी को पूरा कर देता है। इससे मस्तिष्क की तुलनात्मक शक्ति बढ़ती है और उसका विकास होता है। एक ही विषय पर कई लेखकों की रचनाओं का आनन्द हमें स्वाध्याय-द्वारा ही प्राप्त होता है। यह वह साधन है जिससे हमारे विचारों का संस्कार होता है और उनमें प्रौढ़ता आती है। हम आजीवन केवल अपने अनुभवों का सहारा लेकर दैनिक कार्य नहीं करते। हमें दूसरों के अनुभवों की भी आवश्यकता पड़ती है। हम दूसरों के अनुभवों का ही सहारा लेकर जीवन में प्रवेश करते हैं और उन्हीं पर अपने अनुभवों का भव्य प्रासाद खड़ा करते हैं।

अध्ययन का उद्देश्य मनोविनोद नहीं, वरन् ज्ञान की प्राप्ति है। इसलिए अध्ययन में हमें सतर्क रहना चाहिए। हमें ऐसे साहित्य का अध्ययन

करना चाहिए जो भाव और भाषा की दृष्टि से उच्चकोटि का हो। मस्तिष्क की पवित्र भाव-भूमि में सड़े-गले और निष्प्राण बीज बोकर अच्छे फल की आशा करना अपने जीवन को धोखे में डालना है। इसलिए गन्दे साहित्य से हमें सदैव बचना चाहिए। हमें ऐसी पुस्तकें पढ़नी चाहिएँ जिनमें संसार के कर्मवीरों का यशोगान हो, उन्नत जातियों का गौरव-पूर्ण ओजस्वी इतिहास हो, साधु-सन्तों के मधुर उपदेशों की सुन्दर व्याख्या हो, यात्रियों की यात्रा का रोचक वृत्तान्त हो और वैज्ञानिक अनुसन्धानों का विवरण हो। ऐसे विषय हमारे बौद्धिक विकास में सहायक होंगे और हमारी लेखन-शक्ति को प्रौढ़ता प्रदान करेंगे। इस सम्बन्ध में हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि हमारा अध्ययन हमारे मानसिक संस्थान ('मेंटल मेक-अप') का अङ्ग तभी बनता है जब हम अधीत विषय का अपने पूर्वार्जित ज्ञान से सम्बन्ध स्थापित कर लेते हैं। ऐसा करने में मनन और निदिध्यासन की आवश्यकता पड़ती है। वास्तव में अध्ययन से हमें पूरा लाभ उसी समय होता है जब हम अधीत विषय पर स्वतंत्र बुद्धि से विचार करने के पश्चात् उसे अपने जीवन में उतार लेते हैं और उस पर अपने अपनत्व की, अपने व्यक्तित्व की छाप लगा देते हैं। इस प्रकार वह विषय हमारा हो जाता है और हम उसके साथ अपनापा अनुभव करने लगते हैं। जब तक यह बात नहीं होती, तब तक लेखक की लेखनी निष्प्राण रहती है, विचारा-धारा शान्त और भाषा सोती रहती है।

विचार-संग्रह का **चौथा** साधन है **सत्सङ्ग**। सत्सङ्ग का हमारे जीवन पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ता है। हम प्रत्येक समय न तो अध्ययन ही करते रहते हैं और न प्रत्येक दिन पर्यटन में ही व्यतीत करते हैं। सामाजिक प्राणी होने के नाते हमें लोगों के सम्पर्क में भी आना पड़ता है और उनसे अपने काम की बातें करनी पड़ती हैं। इसलिए उन्हें त्याग कर, उनसे छिप कर हम अपना कोई कार्य नहीं कर सकते; परन्तु इतना अवश्य कर सकते हैं कि हम सज्जनों का साथ करें और

ऐसे वातावरण में रहने का अभ्यास करें जो पवित्र हो, जो चरित्र-निर्माण में हमारा सहायक हो और जो हमारे भावों के परिमार्जन एवं उनकी वृद्धि में हमारा हाथ बटावे। हमें यह सदैव स्मरण रखना चाहिए कि सामाजिक संस्कार और आचारिक व्यवहार हमारे शिष्टाचार-सम्बन्धी भावों को ढालनेवाले होते हैं और इन्हीं भावों की रेखाएँ हमारी रचनाओं में प्रतिलक्षित होती हैं।

यह तो हुई निबन्ध की सामग्री जुटाने की बात, परन्तु इन साधनों के सुलभ होने और इनका सदुपयोग करने मात्र से कोई निबन्ध-रचना में प्रवीणता नहीं प्राप्त कर सकता। इसके लिए अभ्यास और साधना की आवश्यकता होती है और यह उसी दशा में सम्भव हो सकता है जब लेखक निबन्ध-रचना के तत्वों से पूर्णतया परिचित हो। यहाँ हम उन प्रमुख तत्वों का वर्णन करना उचित समझते हैं जिनका होना लेखक के लिए परमावश्यक है।

निबन्ध-रचना के तत्व

प्रधान रूप से निबन्ध-रचना के तीन तत्व होते हैं—प्रस्तावना, विवेचन और परिणाम। निम्नांकित पंक्तियों से हम क्रम से इन्हीं तीन तत्वों पर विचार करेंगे।

१. प्रस्तावना—लेखक या निबन्ध के आरम्भ में कुछ ऐसे वाक्य लिखना जिससे पाठकों का ध्यान विषय की ओर आकर्षित हो जाय 'प्रस्तावना' कहलाता है। शीर्षक के पश्चात् निबन्ध का यही आरंभिक अंश महत्वपूर्ण होता है। इसी अंश से लेखक की लेखनी का बल और उसकी योग्यता का परिचय मिल जाता है। प्रस्तावना लिखने में, और प्रतिपाद्य विषय का आरम्भ करने में, लेखक को पूरा प्रयास करना पड़ता है। उसे यह देखना पड़ता है कि उसका विषय उससे क्या माँग रहा है, उसकी सीमा क्या है और किन-किन विचारों का निर्वाह उसके अंतर्गत हो सकता है। इस लक्ष्य को सामने रखकर उसे अपनी भूमिका बनानी पड़ती है। भूमिका विषय के महत्व और विस्तार को

देखकर उसके अनुरूप ही लिखी जाती है। उसमें निम्नाङ्कित विशेषताएँ होती हैं:—

[क] उसकी भाषा सरल, सुबोध और प्रवाहयुक्त होती है। उसके शब्द अर्थपूर्ण, नपे-तुले और प्रसाद-गुणयुक्त होते हैं। उसके वाक्य छोटे, सरस और आकर्षक होते हैं।

[ख] उसका आकर छोटा होता है। अधिक बड़ी भूमिका में पाठक का आकर्षण अधिक समय तक स्थायी नहीं रहता।

[ग] उसका विषय आकर्षक तथा सुरुचिपूर्ण होता है और निबन्ध के मुख्य विषय से उसका गहरा सम्बन्ध होता है।

उपर्युक्त विशेषताओं के प्रकाश में निबन्ध का आरम्भ निम्नाङ्कित विधियों में से किसी एक विधि के अनुसार किया जा सकता है:—

[१] कभी-कभी प्राकृतिक दृश्य के वर्णन से निबन्ध की भूमिका का आरम्भ होता है। ऐसी भूमिका ऋतु-वर्णन, यात्रा-वर्णन, प्राकृतिक वर्णन, सौन्दर्य-वर्णन अथवा ईश्वर के यशोगान के सम्बन्ध में लिखी जाती है।

[२] कभी-कभी किसी कवि या लेखक की प्रसिद्ध रचना, धार्मिक सिद्धान्त, लोकोक्ति अथवा प्रभावोत्पादक बात से निबन्ध की भूमिका का श्रीगणेश होता है। ऐसी भूमिका किसी धार्मिक, सामाजिक अथवा विवेचनात्मक विषय के सम्बन्ध में लिखी जाती है।

[३] कभी-कभी किसी कहानी अथवा ऐतिहासिक घटना से भी निबन्ध की भूमिका बाँधी जाती है। ऐसी भूमिका व्याख्यात्मक तथा सामाजिक निबन्धों में काम आती है।

[४] कभी-कभी निबन्ध के विषय की परिभाषा से ही भूमिका का आरम्भ हो जाता है। ऐसी भूमिका केवल वैज्ञानिक तथा गूढ़ गवेषणात्मक निबन्धों में ही अच्छी मालूम होती है।

[५] कभी-कभी निबन्ध के विषय के प्रतिकूल विषय लेकर निबन्ध की प्रस्तावना तैयार की जाती है। ऐसी प्रस्तावना तुलनात्मक, विवेचनात्मक तथा सामाजिक विषयों में प्रयुक्त होती है।

[६] कभी-कभी निबन्ध के विषय की आवश्यकता तथा उसकी उपयोगिता का वर्णन करते हुए भूमिका आरम्भ की जाती है और सामाजिक, धार्मिक तथा राजनीतिक विषयों पर लेख लिखते समय काम आती है।

[७] कभी-कभी वर्तमान युग की चर्चा करते हुए निबन्ध का आरम्भ होता है। ऐसी भूमिका ऐतिहासिक, सामाजिक तथा धार्मिक विषयों के सम्बन्ध में लिखी जाती है।

[८] कभी-कभी एक दम विषय को लेकर निबन्ध का आरम्भ कर देते हैं।

प्रस्तावना की जो विशेषताएँ और उसे आरम्भ करने की जो शैलियाँ, ऊपर की पंक्तियों में अङ्कित की गयी हैं उनसे लेखक बाध्य नहीं है। वह अपनी प्रतिभा तथा योग्यता से जिस प्रकार की भूमिका अपने निबन्ध के लिए उचित समझे बना सकता है।

२. **विवेचन**—यह निबन्ध का मुख्य अंश होता है। विषय-प्रतिपादन और रस-परिपाक की दृष्टि से निबन्ध की सफलता इसी अंश पर अवलम्बित है। इसी अंश से लेखक की योग्यता और उसकी प्रतिभा का पता चलता है। इसलिए लेखक को इस अंश पर लेखनी उठाते समय बहुत सतर्क रहना चाहिए। इस सम्बन्ध में नीचे कुछ नियम दिये जाते हैं:—

[१] किसी विषय पर निबन्ध लिखने के लिए सर्वप्रथम उस पर थोड़ी देर तक विचार करना चाहिए और यह देखने चाहिए कि उस विषय के सम्बन्ध में क्या-क्या ज्ञात है। इस प्रकार जो बात ज्ञात हो उसे संकेत रूप में लिख लेना चाहिए। इस क्रिया को निबन्ध की रूप-रेखा स्थिर करना कहते हैं।

[२] संकेत लिखने के पश्चात् उन पर पुनः विचार करना चाहिए। यदि इस प्रकार विचार करते समय कोई नयी बात ध्यान में

आ जाय तो उसे लिखकर अपने संकेतों का महत्व के अनुसार क्रम लगाना चाहिए।

[३] क्रम लगाते समय दो संकेतों के बीच में थोड़ा स्थान छोड़ देना चाहिए। इस रिक्त स्थान में उन गौण विचारों या भावों को लिखना चाहिए जो प्रधान आशय से विकसित होते हैं।

[४] प्रधान संकेतों का क्रम लगाने और तत्सम्बन्धी गौण विचारों को लिखने के पश्चात् निबन्ध की भूमिका पर ध्यान देना चाहिए।

[५] भूमिका लिखने के पश्चात् प्रत्येक संकेत पर अपने विचार प्रकट करना चाहिए। ध्यान रखना चाहिए कि प्रत्येक मुख्य विचार और उससे सम्बन्ध रखने वाले अन्य गौण विचार एक अनुच्छेद में आ जायँ। कई प्रकार के विचारों को एक साथ ही अनुच्छेद में लिखने से निबन्ध की रोचकता नष्ट हो जाती है।

[६] संकेतों पर विचार लिखते समय केवल आवश्यक बातों पर अधिक जोर देना चाहिए और उनका महत्व प्रकट करने के लिए बीच बीच में प्रसिद्ध लेखकों अथवा कवियों की रचनाओं को उद्धृत कर देना चाहिए। ऐसा करने में लेखक, कवि अथवा पुस्तक का नाम अवश्य दे देना चाहिए। दूसरों की बात अपनी बनाकर प्रकट करना अनुचित और निन्दनीय है।

[७] प्रत्येक संकेत पर लिखते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि विचारों में विरोध न आने पाये। अपने विचारों का अपने निबन्ध में स्वयं खण्डन न करना चाहिए।

[८] अपने निबन्ध में किसी संदिग्ध अथवा अप्रामाणिक विचार को स्थान न देना चाहिए। इससे निबन्ध का सौन्दर्य नष्ट हो जाता है और लेखक के प्रति पाठक की श्रद्धा कम हो जाती है।

[९] अपने निबन्ध में विचारों का क्रम और उसका स्पष्टीकरण इस प्रकार होना चाहिए कि शृंखला की कड़ियों के समान एक विचार दूसरे विचार से गुँथा हुआ हो। आदि से अन्त तक निबन्ध का

विषय इस प्रकार कसा हुआ हो कि पाठक का चित्त उससे हटने न पाये, वह उसमें रम जाय, डूब जाय और ज्यों-ज्यों आगे बढ़ता जाय आनन्द-विभोर होता जाय।

[१०] भावावेश में आकर निबन्ध का उद्देश्य और उसका लक्ष्य न भूल जाना चाहिए। हमें अपने निबन्ध पर लेखनी उठाते समय यह स्मरण रखना चाहिए कि निबन्ध एक विशेष प्रकार का साहित्य है। उसका भाव-क्षेत्र सङ्कुचित है और विस्तार सीमित है।

३. परिणाम—यह निबन्ध का अन्तिम अंश होता है और एक या दो अनुच्छेदों में समाप्त किया जाता है। प्रस्तावना की भाँति यह अंश भी लिखने में अत्यन्त कठिन प्रतीत होता है। इस सम्बन्ध में साधारणतया निम्नलिखित नियम अनुकरणीय हैं:—

[१] निबन्ध का अन्त ऐसा होना चाहिए कि उससे पाठक की जिज्ञासा शान्त हो जाय और वह यह समझ जाय की अधीत विषय के सम्बन्ध में उसे पूरी जानकारी प्राप्त हो गयी है। कहने का तात्पर्य यह कि निबन्ध अपने में सम्पूर्ण होना चाहिए। उसके अन्त में ऐसा न जान पड़ना चाहिए कि विषय आकाश से पृथ्वी पर तारे की भाँति टूट कर गिर पड़ा। यह भी न जान पड़े कि लेखक अभी कुछ कहना चाहता था, परन्तु कह न सका।

[२] निबन्ध का अन्त करने की एक विधि यह है कि लेखक एक अनुच्छेद में अपने निबन्ध का सारांश प्रकट कर दे। यह विधि अच्छी समझी जाती है और अनुकरणीय है।

[३] कभी-कभी निबन्ध का अन्त भूमिका के शब्दों को दुहरा कर किया जाता है। यह विधि अधिकांश ऐसे निबन्धों में अनुकरणीय होती है जिनकी भूमिका में निबन्ध के विषय का उद्देश्य वर्णन कर दिया जाता है।

[४] कभी-कभी लेखक निबन्ध का अन्त करते समय उपदेशक बन जाता है। वह विषयानुकूल परिणाम निकालकर उसे अपने

पाठकों के सामने इस ढंग से रखता है कि उसका उनके मन पर अच्छा प्रभाव पड़े । सामाजिक अथवा धार्मिक विषय के निबन्धों में यह ढङ्ग अच्छा मालूम होता है ।

[५] कभी-कभी लेखक अपने निबन्ध के विषय से स्वयं कोई परिणाम नहीं निकालता । वह अपने प्रतिपाद्य विषय पर प्रत्येक दृष्टि से विचार करके मौन हो जाता है । ऐसी दशा में फलाफल के निर्णय का भार पाठकों पर छोड़ दिया जाता है । इससे पाठकों को विषय के सम्बन्ध में चिन्तन करने का अवसर मिलता है, परन्तु इस प्रकार निबन्ध का अन्त करने में इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि निबन्ध अधूरा न हो ।

इस प्रकार निबन्ध के तत्व और उसकी रूप-रेखा पर विचार के पश्चात् उसकी भाषा पर ध्यान देना चाहिए ।

निबन्ध की भाषा

हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि प्रत्येक साहित्यिक रचना में भाव और भाषा की प्रधानता होती है । भाषा भावों और विचारों को प्रकट करने का साधन मात्र है । इसलिए हमें अपनी रचनाओं में ऐसी भाषा प्रयुक्त करनी चाहिए जो हमारे भावों और विचारों का सच्चा प्रतिनिधित्व कर सके । इस सम्बन्ध में यहाँ कुछ नियम दिये जाते हैं जिसका पालन करने से भाषा में सौंदर्य आ सकता है ।

१. निबन्ध की भाषा व्याकरण के नियमानुकूल होनी चाहिए । इसलिए व्याकरण का ज्ञान होना लेखक के लिए परम आवश्यक है । वाक्य में विशेषण, क्रिया, अव्यय तथा क्रिया-विशेषण का उचित प्रयोग व्याकरण के नियमानुसार अभ्यास करने से ही आता है ।

२. निबन्ध की भाषा साहित्यिक होनी चाहिए । साहित्यिक भाषा से हमारा तात्पर्य उस भाषा से है जिसका प्रयोग उच्च कोटि के लेखक अपनी रचनाओं से करते हैं । भाषा के संवादिक अथवा ग्राम्य स्वरूप को अपनी रचना में स्थान न देना चाहिए ।

३. निबन्ध की भाषा आदि से अन्त तक एक ही प्रकार की होनी चाहिए। कहीं सरल और कहीं क्लिष्ट भाषा का व्यवहार करने से निबन्ध का सौन्दर्य जाता रहता है।

४. निबन्ध की भाषा में प्रवाह होना चाहिए। प्रयत्नपूर्ण भाषा अस्वाभाविक होती है और पाठक का जी उकता देती है।

५. निबन्ध की भाषा में लम्बे तथा मिश्र वाक्यों की अपेक्षा छोटे तथा सरल साधारण वाक्यों का प्रयोग करना चाहिए। किसी आशय को घुमा-फिराकर कहने से भाषा का लालित्य जाता रहता है।

६. निबन्ध की भाषा में स्थान, पात्र और अवस्था के अनुकूल भिन्न-भिन्न प्रकार के शब्दों का प्रयोग करना चाहिए। जहाँ तक संभव हो विदेशी भाषाओं के अप्रचलित अथवा अव्यवहारिक शब्दों के प्रयोग से बचना चाहिए। निरर्थक शब्दों को तो कभी स्थान ही न देना चाहिए। निबन्ध में केवल उतने ही शब्दों का प्रयोग होना चाहिए जितने शब्दों का प्रयोग वाञ्छनीय है। शब्दों की पुनरावृत्ति से भाषा का सौष्ठव नष्ट हो जाता है।

७. निबन्ध की भाषा में मुहावरों तथा लोकोक्तियों का उचित प्रयोग होना चाहिए। इससे भाषा में सौन्दर्य और भाव-प्रकाशन में स्पष्टता आती है।

८. निबन्ध की भाषा सरल, सुबोध और आकर्षक होनी चाहिए। क्लिष्ट भाषा से पाठक का जी ऊब जाता है। इस सम्बन्ध में हमें यह सदैव स्मरण रखना चाहिए कि भाषा हमारे मानसिक सम्भाषण का बाह्य रूप है। उसमें हमारी अन्तरात्मा का निवास है, हमारी हृत्तन्त्री की झङ्कार है और हमारे भावों को व्यक्त करने की शक्ति है। इसलिए हमारी भाषा भाव तथा रस के अनुकूल होनी चाहिए। भाषा अपने इसी गुण के कारण आकर्षक बनती है और पाठक के हृदय पर उन भावों और विचारों की छाप छोड़ जाती है जिनसे प्रभावित होकर लेखक ने अपने निबन्ध की रचना की है।

९. निबन्ध की भाषा पर निबन्ध-लेखक के व्यक्तित्व की छाप होनी चाहिये। उसके एक-एक वाक्य और एक-एक शब्द से यह भासित होना चाहिए कि लेखक उसमें बैठा हुआ बोल रहा है। लेखक और भाषा की आत्मा जबतक एक न हो तबतक भाषा में सौन्दर्य आना स्वप्न की बात है।

१०. निबन्ध में अलंकृत भाषा के प्रयोग से बचना चाहिए। अलङ्कार और शब्दाडम्बर से परिपूर्ण भाषा का प्रभाव क्षणिक होता है।

११. निबन्ध की भाषा में भावानुकूल उतार-चढ़ाव होना चाहिए। उचित स्थान और अवसर पर शैली में परिवर्तन कर देने से भाषा में लालित्य आ जाता है।

यह तो हुआ निबन्ध की भाषा के सम्बन्ध में; अब हमें निबन्ध के भेदों पर विचार करना है। निबन्ध की सीमा निर्धारित करते हुए हम यह बता चुके हैं कि उसका क्षेत्र अत्यन्त विशाल है।

निबन्ध के भेद

भाव-सागर की एक-एक लहरी उसका रूप हो सकता है। इस दृष्टि से निबन्ध के अनेक भेद किये जा सकते हैं। इन भेदों में सबसे प्रधान बात लेखक का दृष्टिकोण है। लेखक एक ही वस्तु पर भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से, भिन्न-भिन्न पहलुओं से, विचार करता है। इसलिए निबन्ध के विषय और उसकी शैली में अनेकरूपता आना स्वाभाविक ही है। ऐसा दशा में निबन्ध के भेदों की संख्या निश्चित रूप से नियत नहीं की जा सकती। फिर भी सुविधा के विचार से कुछ भेद कर लिये गये हैं जिनमें से निम्नाङ्कित मुख्य हैं;—

१. वर्णनात्मक निबन्ध,
२. कथात्मक या विवरणात्मक निबन्ध
३. व्याख्यात्मक या विचारात्मक निबन्ध,
४. तार्किक निबन्ध।

अब हम यहाँ क्रमानुसार प्रत्येक के विषय में साधारण ज्ञातव्य बातें लिख देना उचित समझते हैं।

वर्णनात्मक निबन्ध

ऐसे निबन्ध, जिनमें ज्ञानेन्द्रियों-द्वारा प्राप्त भावों अथवा विचारों का प्रकाशन अपनी भाषा और शैली में किया जाता है वर्णनात्मक निबन्ध कहलाते हैं। इस प्रकार के निबन्धों में प्राकृतिक अथवा अप्राकृतिक पदार्थों का वर्णन होता है। प्राकृतिक पदार्थों के अन्तर्गत नदी, पर्वत, झरना, समुद्र, वायु जीव-जन्तु, पेड़-पौधे इत्यादि आते हैं। अप्राकृतिक पदार्थों से उन वस्तुओं का समावेश होता है जो मनुष्यकृत हैं। रेल, तार जहाज़ नगर, ग्राम, साइकिल, ग्रामोफ़ोन, दियासलाई आदि अप्राकृतिक पदार्थ हैं। इन विषयों के अतिरिक्त यात्रा, प्रदर्शिनी, दिनचर्या, त्योहार, अपने जीवन की मनोरंजक घटना आदि पर भी वर्णनात्मक निबन्ध लिखे जा सकते हैं। इन निबन्धों में पदार्थों तथा घटनाओं का यथातथ्य निरूपण होता है।

उच्च कोटि के वर्णनात्मक निबन्धों में पाँच बातें विशेष रूप से पायी जाती हैं :—

१. **स्थूल वर्णन**—वर्णनात्मक निबन्धों में पदार्थों का स्थूल वर्णन रहता है। इसलिए लेखक वर्णनीय विषय की एक व्यापक रूप-रेखा बनाकर अपना निबन्ध आरम्भ करता है।

२. **विस्तार**—इसके पश्चात् वह अपनी रूप-रेखा के अनुसार प्रत्येक भाग का पृथक्-पृथक् सविस्तार वर्णन करता है। ऐसा करने में वह विषय के प्रधान अंगों पर विशेष रूप से ध्यान रखता है।

३. **दृष्टिकोण**—वर्णनात्मक निबन्ध में कभी-कभी लेखक को वर्णनीय विषय का अधिक व्यापक रूप पाठकों के सामने रखने के लिए भिन्न-भिन्न दृष्टि-कोणों से वर्णन करना पड़ता है।

४. **संगत भाव**—वर्णनात्मक निबन्ध में लेखक अपने वर्णन और शैली को अधिक रोचक, आकर्षक और प्रभावशाली बनाने के लिए अन्य लेखकों तथा कवियों की रचनाओं के उदाहरण से अपने विषय का स्पष्टीकरण करता है।

५. प्रस्ताव—अन्त में लेखक एक प्रकार का प्रस्ताव सामने रख देता है। अपनी रुचि के अनुसार पाठक उसकी पूर्ति करते हैं।

वर्णनात्मक निबन्धों की भाषा अर्थपूर्ण और सरल होती है। उसमें आडम्बर और प्रयत्न नहीं होता। उसकी शैली वैज्ञानिक होती है।

कथात्मक निबन्ध

ऐसे निबन्ध, जिनमें कथाओं, घटनाओं, युद्धों, यात्राओं, सम्मेलनों महापुरुषों के जीवन-वृत्तान्तों, नरेशों की शासन-पद्धतियों आदि का क्रम से उल्लेख किया जाय, कथात्मक, आख्यानात्मक अथवा विवरणात्मक निबन्ध कहलाते हैं। इस प्रकार के निबन्धों में वास्तविक अथवा काल्पनिक घटनाओं का समावेश होता है।

वर्णनात्मक और कथात्मक निबन्ध में एक अन्तर है। वर्णनात्मक निबन्ध चित्र-लेखन से सम्बन्ध रखता है। जिस प्रकार एक चित्र अपने समस्त अङ्गों का रहस्य पाठकों के सामने खोलकर रख देता है उसी प्रकार वर्णनात्मक निबन्ध में उन समस्त बातों का सविस्तार यथा-तथ्य वर्णन रहता है जिनका प्रतिपाद्य विषय से घनिष्ट सम्बन्ध है। इसके विपरीत कथात्मक निबन्ध सिनेमा के अनुरूप होते हैं। उनमें कार्य-कारण का सम्बन्ध दिखाते हुए एक घटना के पश्चात् दूसरी घटना का वर्णन किया जाता है। ऐसे निबन्धों में पाँच मुख्य बातें पायी जाती हैं :—

१. घटनाक्रम—कथात्मक निबन्धों में काल और क्रम के अनुसार घटनाओं का सजीव वर्णन रहता है और उनका उत्तरोत्तर विकास होता रहता है।

२. कारण और कार्य—कथात्मक निबन्धों में घटनाओं का क्रमानुसार वर्णन करने में उनके कारणों पर स्पष्ट रूप से विचार करना पड़ता है और घटनाओं से उनका सम्बन्ध स्थापित करके फल निकालना पड़ता है।

३. दृष्टान्त—कथात्मक निबन्धों में प्रायः ऐसे अवसर भी आ

जाते हैं जहाँ पाठक की बुद्धि कार्य-कारण में सम्बन्ध स्थापित नहीं कर पाती। ऐसे अवसरों पर लेखक उससे मिलता-जुलता दृष्टान्त देकर पाठक का भ्रम दूर कर देता है।

४. संक्षेप—कथात्मक निबन्ध के प्रत्येक खण्ड के अन्त में उसका सारांश दे दिया जाता है। इससे आगे की घटना समझने में किसी प्रकार की कठिनाई नहीं होती।

५. आलोचना—कथात्मक निबन्धों में वर्णित घटनाओं से सम्बन्ध रखनेवाले पात्रों का चरित्र-चित्रण आलोचनात्मक ढङ्ग से किया जाता है। इस प्रकार कथात्मक निबन्ध में लेखक दर्शक और आलोचक दोनों रहता है।

विचारात्मक निबन्ध

ऐसे निबन्ध, जिनमें किसी अमूर्त विषय पर विचार प्रकट किये जायँ, विचारात्मक, विवेचनात्मक, व्याख्यात्मक अथवा विश्लेषणात्मक निबन्ध कहलाते हैं। चिन्ता, आशा, क्रोध, धैर्य, दया, अहिंसा, ग्राम्य-जीवन के आनन्द, स्त्री शिक्षा, बेकारी की समस्या, परोपकार, देश-प्रेम, व्यवसाय का चुनाव, कला, कवि अथवा लेखक की रचनाओं की आलोचना आदि विषय इस प्रकार के निबन्धों के अन्तर्गत आते हैं। ऐसे निबन्धों में विषयों का बुद्धि-संगत विचार होता है और उनके गुण-दोष का गम्भीर विवेचन किया जाता है। इनमें चार बातें मुख्य रूप से पायी जाती हैं:—

१. मूल तत्त्वों की स्थापना—मानव समाज कुछ मूल तत्त्वों पर निर्भर करता है। इन मूल तत्वों का ज्ञान निरीक्षण और अनुभव से प्राप्त होता है। विचारात्मक निबन्धों में इन्हीं मूल तत्वों की स्थापना की जाती है।

२. परिभाषा—विचारात्मक निबन्धों में अमूर्त विषयों का ज्ञान कराने के लिए उनकी क्षमता तथा प्रक्रिया बताने की आवश्यकता पड़ती है। इसलिए इस प्रकार के निबन्धों में कुछ पारिभाषिक

शब्द भी प्रयुक्त होते हैं। पाठकों की सुविधा के लिए ऐसे शब्दों की व्याख्या कर देना अत्यन्त आवश्यक है।

३. **विवेचन**—विचारात्मक निबन्धों में विवेचन-द्वारा प्राकृतिक नियमों की खोज की जाती है और नियम तथा सिद्धान्त स्थिर हो जाने पर मूल तत्वों का पृथक-पृथक विवेचन तथा आपस में उनकी तुलना की जाती है।

४. **पर्य्यालोचन**—विचारात्मक निबन्ध में नियमों तथा सिद्धान्तों की आपस में तुलना करने के पश्चात् उनका विशेष अवस्थाओं में प्रयोग करना बताया जाता है।

विचारात्मक निबन्ध लिखने की उपर्युक्त प्रणाली वैज्ञानिक कहलाती है। इस प्रणाली के अनुसार पहले मूलतत्वों की खोज होती है, फिर पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या की जाती है। इसके पश्चात् विवेचन-द्वारा नियम तथा सिद्धान्त स्थिर किये जाते हैं और पर्य्यालोचन द्वारा विषय स्पष्ट किया जाता है।

तार्किक निबन्ध

ऐसे निबन्ध, जिनमें किसी विषय का निरूपण तर्क-वितर्क पर अवलम्बित रहता है, तार्किक निबन्ध कहलाते हैं। इस प्रकार के निबन्ध के लेखक अपने मत के अनुसार विरोधी अथवा संगत मत का तर्क और दृष्टान्तों से खण्डन-मण्डन करता है। धार्मिक, दार्शनिक, सामाजिक तथा राजनीतिक विषय इसी प्रकार के होते हैं। इनमें तीन बातें मुख्य रूप से पाई जाती हैं:—

१. **विषय**—तार्किक निबन्धों में लेखक को अपने विषय को मूल सिद्धान्तों, उन सिद्धान्तों के विस्तार की विशेषताओं तथा मुख्य-मुख्य दृष्टिकोणों का विवेचन करना पड़ता है।

२. **युक्ति विधान**—तार्किक निबन्धों में अपने मत को पुष्ट और विपक्षी मत का खण्डन करने के लिए लेखक को विवेचन, पर्य्यालोचन तथा सादृश्य आदि युक्तियों से काम लेना पड़ता है। ऐसा करने में

उसकी युक्तियाँ जितनी शुद्ध, संयत और प्रामाणिक होती हैं उतना ही विपक्षी पर अधिक प्रभाव पड़ता है।

३. प्रबोधन-चातुरी—तार्किक निबन्ध में लेखक का उद्देश्य पाठकों की भावनाओं तथा मनोवृत्तियों को जाग्रत करना और उन्हें अपने मतानुकूल बनाना है। इस उद्देश्य की पूर्ति लेखक की प्रबोधन-चातुरी से होती है। पाठकों में अपने विषय के प्रति अनुराग उत्पन्न करने के लिए वह केवल उन्हीं बातों पर मुख्य रूप से बल देता है जिनसे पाठकों के मानस जगत् का विशेष सम्बन्ध होता है। ऐसी दशा में उनके कथन का, उसके लिखने का पाठक पर प्रभाव पड़ता है।

इस अध्याय में निबन्ध-रचना के सम्बन्ध में जो बातें बतायी गयी हैं उनसे उन विद्यार्थियों को अधिक लाभ हो सकता है जो निबन्ध-रचना का अभ्यास करना चाहते हैं।

निबन्धकार का कर्तव्य

ऐसे विद्यार्थियों को इन नियमों के साथ यह भी स्मरण रखना चाहिए कि उथले ज्ञान से निबन्ध-रचना में सफलता प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है। इसलिए उन्हें सबसे पहले उस भाषा का शुद्ध ज्ञान प्राप्त करना चाहिए जिस भाषा में उन्हें निबन्ध-रचना का अभ्यास करना है। इसके बाद उन्हें अध्ययन तथा निरीक्षण से अपना ज्ञान-कोष बढ़ाकर उस पर मनन और चिन्तन करना चाहिए। मनन और चिन्तन से बुद्धि का विकास होता है और किसी विषय को समझने में सहायता मिलती है। अभ्यास से बुद्धि तीव्र होती है और भाव-प्रकाशन में सहायता मिलती है। अभ्यास से ही भाषा पर अधिकार प्राप्त होता और लेखक अपनी शैली निर्धारित करता है। इस दृष्टि से निबन्धकार बनने के लिए निरीक्षण, अध्ययन, चिन्तन और अभ्यास का बहुत महत्त्व है।

अध्याय ६

शैली और उसके भेद

पूर्व प्रकरण में इस पर प्रकाश डाला जा चुका है कि आत्म-प्रकाशन और विचार-विनिमय मानव के स्वाभाविक गुण हैं और उसके इन गुणों का विकास तब होता है जब वह अपने मन की तरङ्गों, कल्पनाओं और अनुभूतियों को किसी भाषा का परिधान पहनाकर जनता के सामने उपस्थित करता है। इस प्रकार के भाव-प्रकाशन में उसका उद्देश्य आत्म-तुष्टि और स्वार्थ-साधना तो रहता ही है, साथ ही उसमें लोक-सेवा और साहित्य-सेवा की कामना भी निहित रहती है। इस कामना की पूर्ति के लिए वह सतत प्रयत्नशील रहता है। रचना इसी प्रयत्न का फल है। मानव की उन्मेष-शालिनी प्रतिभा के स्फुरण से ही उसका जन्म होता है। सामाजिक जीवन की परिस्थितियों की कटुता और स्निग्धता से प्रभावित होने पर जब मानव का अन्तःकरण आलोड़ित तथा क्षुब्ध होता है तब उन परिस्थितियों की प्रतिक्रिया के रूप में वह अपनी वृत्ति के अनुसार अपनी अनुभूतियों को अभिव्यक्त करने के लिए उतावला हो उठता है।

रचना का उद्देश्य

रचना का उद्देश्य इन्हीं अनुभूतियों को जनता तक पहुँचाना है। जो रचना अपने इस कार्य में सफल नहीं होती, जो रचना उन्हीं अनुभूतियों, उन्हीं भावनाओं, उन्हीं कल्पनाओं और विचारों का वाचक के हृदय में उद्रेक नहीं करती जिनसे लेखक स्वयं प्रभावित हुआ है, वह वास्तविक अर्थों में रचना नहीं कही जा सकती।

ऊपर जिस उद्देश्य का स्पष्टीकरण किया गया है उसकी पूर्ति में लेखक को उसी समय सफलता प्राप्त होती है जब वह अपनी रचना

में भावों की विशदता और भाषा के सौष्ठव का सामञ्जस्य सुरक्षित रखता है। वह जो कुछ लिखता है, यह समझकर

शैली की उत्पत्ति

लिखता है कि उसकी भाषा का एक-एक शब्द उसकी विचार-धारा, उसकी कल्पना और उसकी अनुभूति का सच्चा प्रतिनिधि है। इतना ही नहीं, उसे यह भी देखना पड़ता है कि जनता उससे क्या माँग रही है, वह क्या दे रहा है और जो कुछ वह दे रहा है उसे ग्रहण करने की, उससे लाभ उठाने की जनता में कितनी शक्ति और सामर्थ्य है। वास्तव में सच्चा भाषा-सेवी वही है जो लोक-रुचि का ध्यान रखता है और देश, काल तथा परिस्थितियों के अनुसार जनता को ऐसी सामग्री देता है जिससे उसकी सुप्त भावनाएँ जाग्रत हो जाती हैं और उनमें नवीन आशा का, नवीन कल्पनाओं का, नवीन विचारों का स्फुरण होता है। अपने इस ध्येय की पूर्ति में लेखक को भाव-प्रदर्शन से ऊँचा उठना पड़ता है। उसे इस बात पर भी ध्यान देना होता है कि वह केवल लेखक ही नहीं एक कलाकार भी है। इसलिए उसे अपनी भाषा को कला की रुखानी से तराश कर आकर्षक और सुन्दर बनाना पड़ता है। लेखक की ऐसी ही कलात्मक चेष्टा से शैली का जन्म होता है।

शैली का साधारण अर्थ ढङ्ग अथवा प्रणाली है। साहित्यिक अर्थ में शैली उस अभिव्यक्ति-प्रणाली को कहते हैं जिसके द्वारा कोई रचना आकर्षक, मोहक, रमणीय और प्रभावोत्पादक हो

शैली की व्याख्या

जाती है। इस परिभाषा के अनुसार अलङ्कार, रीति, ध्वनि, शब्द-शक्ति, वृत्ति आदि सब शैली के अन्तर्गत आ जाते हैं। इनमें से कुछ का सम्बन्ध शब्द से, कुछ का अर्थ से और कुछ का शब्द और अर्थ दोनों से है। जिनका सम्बन्ध अर्थ से है उनका सम्बन्ध शब्द से होना अनिवार्य है। इसका कारण यह है कि शब्द और अर्थ का सम्बन्ध अविच्छेद्य है। ऐसी दशा में हमारी अभिव्यक्ति-प्रणाली शब्दगत् हो अथवा अर्थगत्, उसका

उद्देश्य अभिव्यक्ति के सौन्दर्य को बढ़ाना है। बात यह है कि मानव स्वभाव से सौन्दर्योपासक है। वह अपनी रचना को जनता के सामने नग्नरूप में रखना नहीं चाहता। इसलिए वह उसे सजाता है और इस योग्य बनाता है कि जनता का, वाचक का हृदय उसकी सजावट पर, उसके अलङ्कारों पर, उसके सौन्दर्य पर मुग्ध हो जाय, उसमें रम जाय। इस प्रकार वह अपनी रचना में सौन्दर्य-सृजन का विधान केवल अपने लिए ही नहीं, अपितु अपने वाचकों के लिए भी करता है। यही शैली का कलात्मक रूप है जिसमें सफलता प्राप्त करने के लिए लेखक को जनता के रुचि-वैचित्र्य तथा अपने विषय के अनुसार अपनी रचना में शब्द-शक्तियों के सामर्थ्य के समुचित ज्ञान पर ध्यान रखना पड़ता है, विशेषणों का उपयुक्त चयन करना पड़ता है, क्रियापदों के उपयोग का विचार करना पड़ता है, वाक्यों की शुद्ध रचना में व्याकरण के नियमों का पालन करना पड़ता है और अनुच्छेदों की संघटित शृङ्खला का पूर्ण रूप से निर्वाह करना पड़ता है। शैली के इन्हीं तत्त्वों पर ध्यान देने से रचना में सौन्दर्य की स्थापना होती है और अभिव्यक्ति में अभिनव तथा उचित शक्ति का सञ्चार होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि लेखक अपनी रचना में अपने भावों, अपने विचारों, अपनी कल्पनाओं और अपनी अनुभूतियों को इस ढंग से, ऐसी भाषा में व्यक्त करता है जिससे वाचक के सामने चित्र-सा खिंच जाता है। इस दृष्टि से "शैली उस कलापूर्ण साधन का नाम है जो रमणीय, आकर्षक एवं प्रभावोत्पादक रूप से रचना के समस्त सरस तत्त्वों की अभिव्यक्ति में अभिनव तथा उचित शक्ति का सञ्चार करता है।"

शैली का महत्त्व

एक अँगरेजी साहित्यकार का कहना है कि 'शैली ही मनुष्य और मनुष्य ही शैली है।' शैली के महत्त्व के सम्बन्ध में उस साहित्यकार के ये शब्द बड़े मार्मिक और गम्भीर हैं। बात यह है कि एक व्यक्ति की रुचि और स्वभाव दूसरे व्यक्ति से भिन्न होता है। अतएव उसकी रचना-शैली में किसी मनोवेग को

व्यक्त करने के ढङ्ग में विभिन्नता आ जाना स्वाभाविक ही है। प्रायः देखा जाता है कि गम्भीर और विचारशील लेखक गम्भीर और विचारात्मक शैली का अनुसरण करते हैं और विनोदप्रिय तथा हास्य-रस के लेखक मनोरञ्जक तथा चञ्चलतापूर्ण शैली का प्रतिपादन करते हैं। यह भी हो सकता है कि एक ही लेखक दोनों शैलियों में रचना करे। ऐसी दशा में लेखक को देखकर उसकी शैली का और शैली को देख कर उस लेखक का सहज ही आभास मिल जाता है। शैली ही लेखक के कौशल का प्रकाश है। उसमें लेखक के संस्कार, चरित्र, विचार और भावों की स्पष्ट झलक प्रतिबिम्बित होती रहती है। नदी की मुक्त धारा के समान उसमें लेखक की ध्वनि और गति एक होकर बहती हुई दिखाई देती है।

भाषा-शैली का सम्बन्ध मानव की ज्ञानेन्द्रियों से होता है। ज्ञानेन्द्रियाँ भाषा की कटुता अथवा मधुरता की परीक्षा करती हैं। बुद्धि उसकी सुसम्बद्धता तथा सार्थकता का विवेचन करती है। स्मृति उसमें अपनी तृप्ति के योग्य सामग्री खोजती है। शैली में इन्हीं सुप्त स्मृतियों को जगाने की, उद्दीप्त करने की असाधारण क्षमता होती है। लेखक अथवा वक्ता जब अपने देश, समाज तथा धर्म की दुर्गति देखता है, जनता की विपन्नावस्था का अनुभव करता है और करुण क्रन्दन अपने कानों से सुनता है तब उसका भावुक हृदय अपनी भावनाओं को व्यक्त करने के लिए बलवती भाषा की खोज में व्याकुल हो उठता है। उस समय शैली उसकी भाषा में शक्ति का सञ्चार करता है। लेखक अथवा वक्ता की ऐसी वेगपूर्ण शैली से जनता में क्रान्ति की भावना फैलती है, अत्याचारी से लोहा लेने की शक्ति आती है और व्यभिचारियों के प्रति घृणा उत्पन्न होती है। शैली में अपूर्व शक्ति है। उसकी शक्ति के आगे तोप आग उगलना बन्द कर देती है, बन्दूक का मुँह बन्द हो जाता है और तलवार कुंद हो जाती है। जो काम करने में बड़ी-बड़ी सेनाएं असफल हो जाती हैं उसे लेखक अथवा वक्ता की शैली एक क्षण में पूरा कर देती है।

शैली में जादू का-सा प्रभाव होता है। वह हमारे हृदय को अपनी ओर इस प्रकार आकर्षित कर लेती है जिस प्रकार चुम्बक किसी लोहे के टुकड़े को अपनी ओर खींच लेता है। वही मानव हृदय में साहित्य की पुनीत सरिता बहाती है, नवीन आशा का सञ्चार करती है और साहित्य-निर्माण का बीज बोती है।

हमारे नित्य के व्यावहारिक जीवन में भी शैली का अत्यधिक महत्व है। हम अपनी मित्र-मण्डली में बैठते हैं, मार्ग में चलते हुए अपरिचित स्त्री-पुरुषों से मिलते हैं और यात्रा में विभिन्न स्थानों के निवासियों से वार्तालाप करते हैं। इन समस्त व्यापारों में केवल हमारी बातों के कहने के ढङ्ग का श्रोताओं पर अधिक प्रभाव पड़ता है। किसी से बात-चीत करने में यदि हम अपनी बात को रोचक ढङ्ग से कहते हैं, विनीत होकर कहते हैं, आकर्षक शैली में कहते हैं तो हमारी ओर सब का हृदय खिंच जाता है, हमारी बातों में लोगों का मन रम जाता है; परन्तु यदि हम उसी बात को भद्दे ढङ्ग या उद्दण्ड होकर दर्प के साथ कहते हैं तो हमारी उक्ति ही हमें घृणा का पात्र बना देती है और हम अपने मित्रों, अपने श्रोताओं की आँखों से गिर जाते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि हमारी एक ही बात कथन-प्रणाली के कारण कभी तो श्रोता का मन मुग्ध करती है और कभी उनके हृदय में घृणा और शत्रुता का बीज वपन करती है। हमारे दैनिक जीवन में शैली का यह महत्व भूलने योग्य नहीं है।

यह तो हुई शैली के साहित्यिक और व्यावहारिक महत्व की बात। अब हमें संक्षेप में साहित्य और शैली के पारस्परिक सम्बन्ध पर विचार करना है। हम पहले यह देख चुके हैं कि साहित्य

शैली और साहित्य

और शैली दोनों के भाव और भाषा दो मुख्य आधार हैं और इन्हीं दोनों के सुन्दर सामञ्जस्य से साहित्य तथा शैली का आविर्भाव होता है। हम यह भी देख चुके हैं कि प्रत्येक साहित्यकार अपने मनोवेगों, कल्पनाओं और अनुभूतियों को

किसी-न-किसी भाषा की लिपि का परिधान पहनाकर और उसे अलंकृत कर जनता के सामने उपस्थित करता है। निष्णात पण्डितों का कहना है कि उसकी इस प्रकार की रचना में चार तत्वों की प्रधानता होती है। इन चार तत्वों में प्रथम स्थान **बुद्धि** अथवा **ज्ञान-तत्व** का है। किसी विषय पर लेखनी उठाने से पहले प्रत्येक साहित्यकार इसी तत्व से काम लेता है। वह अपनी विवेकशील बुद्धि से अपने विषय की सीमा निर्धारित करता है, यह समझने की चेष्टा करता है कि उसे जनता के सामने क्या और कितना उपस्थित करना है। इस प्रकार अंतर्विवेचन के पश्चात् वह अपने विषय के साथ हृदय का सम्बन्ध स्थापित करता है। यह रचना का दूसरा तत्व है और इसे हम **भाव तत्व** कहते हैं। साहित्य-निर्माण के लिए यह तत्व अनिवार्य है। कोई रचना, चाहे वह काव्य हो या आलोचना, तब तक पूर्ण नहीं हो सकती जब तक उसमें संवेदनशील भावुकता से काम न लिया गया हो। तीसरा तत्व **कल्पना तत्व** है। इस तत्व के सहारे रचनाकार अपनी कृति में अदृष्ट, अश्रुत तथा अननुभूत पदार्थों, लोकों और प्राणियों का चित्रण करता है। इसलिए इस तत्व के योग से रचना में बल आ जाता है और लेखक की बुद्धि तीव्र हो जाती है। चौथा तत्व शैली है। इसे कलात्मक तत्व भी कहते हैं। रचना में इसी **कलात्मक तत्व** की सहायता से ज्ञानतत्व, भाव-तत्व तथा कल्पना-तत्व की अभिव्यक्ति और उनका विकास होता है। इस प्रकार साहित्य-निर्माण में शैली के महत्व का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है।

साहित्य-निर्माण में शैली के महत्व की विवेचना करने के पश्चात् अब हमें यह देखना है कि शैली में अलंकारों का क्या स्थान होना चाहिए।

शैली और अलंकार

हम यह तो बता ही चुके हैं कि मनुष्य स्वभाव से सौन्दर्य प्रिय है। इस सौन्दर्य-प्रियता का उसके शिशु-जीवन से ही विकास होता है। वह पुष्प देखता है और उसके रंग-रूप पर मुग्ध होकर उसे लेने के लिए

अपनी माता की गोद से उछल पड़ता है। वह रंग-बिरंगे खिलौने देखता है और उन्हें हस्तगत करने के लिए आग-पानी की परवाह नहीं करता। शिशु-जीवन की यह सौन्दर्योपासना, कालान्तर में, इतनी प्रबल, इतनी वेगवती तथा इतनी तीव्र हो जाती है कि मानव जहाँ सौन्दर्य का अभाव देखता है वहाँ उसके उत्पादन का विधान करने लगता है। इस कार्य में अलंकार उसके सहायक होते हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि जिन वस्तुओं में स्वाभाविक सौन्दर्य होता है उन्हें अलङ्कारों की आवश्यकता नहीं पड़ती, परन्तु वन की स्वाभाविक रमणीयता की अपेक्षा नयनाभिराम निकुञ्जों की शोभा में एक निरालापन होता ही है। बालक के सुन्दर होने पर भी माता उसे विविध आभूषणों से अलंकृत करती ही है। बात यह है कि अलङ्कार स्वाभाविक सौन्दर्य को उभार देते हैं, सोने में सुगन्ध उत्पन्न कर देते हैं। यही बात भाषा के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। चुभते हुए विचारों के लिए भाषा को सजाना, अलंकृत करना आवश्यक है। सुबोध भाषा ही भाव-प्रकाशन का स्वाभाविक ढङ्ग है, परन्तु जिस प्रकार सुसज्जित वाटिका के दर्शन मात्र से हृदय में स्वर्गीय आनन्द का स्रोत उमड़ पड़ता है उसी प्रकार भाषा में अलङ्कारों की छटा से वाचक का हृदय मस्त हो जाता है।

अलङ्कारों से भाषा के स्वाभाविक सौन्दर्य की अभिवृद्धि होती है और गूढ़ विषय शीघ्र समझ में आ जाते हैं। उनसे भाव-प्रकाशन में सुविधा होती है। भाषा में प्रवाह आता है और स्मरण-शक्ति बलवती होती है। अनुप्रास, उपमा, रूपक, श्लेष और यमक इस कार्य में लेखक के सहायक होते हैं। इन अलङ्कारों के प्रयोग में तीन बातों पर विशेष रूप से ध्यान दिया जाता है :—

१. सरूपता—मिलती जुलती बातों से किसी भाव का स्पष्ट बोध कराना अथवा उसका उत्कर्ष बढ़ाना सरूपता का लक्षण है। इसके अनुसार जिन व्यक्तियों अथवा पदार्थों की आपस में तुलना की जाती

है उनके गुणों पर विशेष रूप से ध्यान रखना होता है, जैसे :—

[अ] उसका मुख-मण्डल चाँद की तरह चमकता है।

[ब] जगदीश अपने समय का अर्जुन है।

[स] बिहारी के काव्य-कानन में लौकिक सौन्दर्य है।

२. **विरोध**—विरोधी भाव से किसी विचार का स्पष्टीकरण करना विरोध का लक्षण है, जैसे :—

[अ] तुम अब दुधमुँहे बच्चे नहीं हो।

[ब] आज चाँद किधर निकल आया।

[स] आप-जैसा ज्ञानी मूर्ख मिलना दुर्लभ है।

३. **समीपता**—संगत भावों से किसी शब्द का अर्थ-बोध कराना समीपता का लक्षण है, जैसे :—

[अ] आज-कल उसकी जेब गर्म रहती है।

[ब] देश की स्वतंत्रता के लिए वह अपना धन दे सकता है, मन दे सकता है, तन दे सकता है।

[स] वह सूर का अध्ययन कर रहा है।

ऊपर की पंक्तियों में सादृश्य, विरोध तथा समीपता के जो उदाहरण दिये गये हैं उनसे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि भाषा-शैली में अलङ्कारों का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है और यदि यह कहा जाय कि भाषा मात्र रूपकों का पुञ्ज है तो इसमें कोई अत्युक्ति नहीं है।

अभी बताया गया है कि भाषा में अलङ्कारों के योग से एक प्रकार का सौन्दर्य आता है। यह सौन्दर्य शब्दों की आकृति का, उनकी बनावट का सौन्दर्य नहीं होता; यह सौन्दर्य शैली और संगीत होता है शब्दों की ध्वनियों और अर्थों के सामञ्जस्य का। प्रत्येक शब्द एक अथवा अनेक अर्थों का बोधक होता है। उसमें एक स्वाभाविक ध्वनि भी होती है। लेखक इन दोनों में सामञ्जस्य स्थापित करता है। यह सामञ्जस्य जितना गहन होता है, वाचक के हृदय को उतना ही आनन्द-विभोर कर देता

है। मानव की रचना ही तत्वों के समानुपातिक सामञ्जस्य से हुई है। इसलिए उसकी आत्मा सदा उसी साम्य की, उसी सामञ्जस्य की खोज में रहती है। यही साम्य उसे शैली और सङ्गीत, दोनों, में मिलता है।

शैली की भाँति सङ्गीत भी ज्ञानेन्द्रियों का विषय है। जिस समय गायक अपने कंठ से निकली हुई ध्वनियों का वाद्य की ध्वनियों से मिलान करता है उससमय श्रोतामन्त्र-मुग्ध होकर अपनी समस्त ज्ञानेन्द्रियों को चारों ओर से बटोर लेता है और उन्हें उसी की ओर लगा देता है। कुरङ्ग तो सगीत के स्वर-साम्य पर मोहित होकर अपने प्राण तक न्योछावर कर देता है। वक्ता अथवा लेखक की शैली में भी यही प्रभाव होता है। बाजों का स्वर जिस प्रकार संगीत की मोहकता का कारण है उसी प्रकार अर्थ और ध्वनि-साम्य शैलीकी सजीवता का आधार है।

कुछ लोगों का कहना है कि केवल काव्य में ही स्वर और ताल का समावेश होता है। उनका यह कथन किसी सीमा तक सत्य माना जा सकता है, परन्तु यह सर्वांश सत्य नहीं है। काव्य में जो संगीत होता है वही संगीत गद्य में भी पाया जाता है। स्वर और ताल कविता की ही बपौती नहीं हैं, गद्य में भी अप्रत्यक्ष रूप से विद्यमान रहते हैं। भावों तथा स्वरों के उतार-चढ़ाव से जिस प्रकार संगीत की रस-धारा में परिवर्तन होता है उसी प्रकार शैली का प्रवाह भी परिवर्तित होता रहता है। रसों का परिपाक दोनों में समान रूपसे पाया जाता है। इस प्रकार संगीत में जो आनन्ददायिनी शक्ति है वह शैली में किसी मात्रा में कम नहीं है। शैली एक प्रकार से भावुक हृदय का संगीत ही है।

अब रहा शैली और मनोविज्ञान का सम्बन्ध। शैली के अब तक के विवेचन पर यदि ध्यानपूर्वक विचार किया जाय तो पता चलेगा कि

शैली और मनोविज्ञान

शैली का आविर्भाव मनोविज्ञान के सिद्धांतों के अनुकूल ही होता है। मनोविज्ञान का सम्बन्ध हमारे अन्तर्जगत से है। यह वह विद्या है जो मानव के मानस की हिलोरों, कल्पनाओं और अनुभूतियों का विश्लेषण करती है

और उनके कारणों का पता लगाती है। विचार क्या है और वह क्यों और किस प्रकार उत्पन्न होता है, इन प्रश्नों का उचित उत्तर मनोविज्ञान देता है और उसके अनुकूल सिद्धान्त स्थिर करता है। इन्हीं सिद्धान्तों के प्रकाश में हम लेखक की चिन्तन-धारा का परीक्षण और विश्लेषण करते हैं। शैली में लेखक का व्यक्तित्व रहता है, इसलिए शैली सें मनोविज्ञान के अध्ययन में बड़ी सहायता मिलती है।

एक बात और है। मानसिक ज्ञान की भिन्नता, अनुभूति की विचित्रता, प्रत्येक व्यक्ति की वृत्ति और अभिरुचि की असमानता के कारण बाह्य जगत् का जो चित्र हमारे मानस-पटल पर अङ्कित होता है उसमें भी विभिन्नता रहती है और वह विभिन्नता उसकी शैली में, उसकी चिन्तन-प्रणाली में प्रत्यक्ष रूप से दिखायी देती है। यदि कोई लेखक संयत होकर, अपनी अन्तर्वृत्ति को छिपाकर लिखने का प्रयत्न करे तो सम्भव है कि थोड़ी देर तक उसे सफलता मिल जाय; परन्तु स्वाभाविक विचार-धारा में आने पर उसे उस तिनके का सहारा काम न देगा। सारांश यह कि जिस लेखक की जैसी वृत्ति होगी उसका वैसा ही प्रभाव उसकी शैली में आ जायगा। यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है। इसी सत्य के आधार पर कहा जाता है कि लेखक की शैली में उसकी मनोवृत्तियों की, उसके व्यक्तित्व की छाप रहती है।

हमारी मनोवृत्तियां प्रायः दो प्रकार की होती हैं—**रूढ़** और **उदार**। **रूढ़ मनोवृत्तियों** से हमारा तात्पर्य उन मनोवृत्तियों से है जो परम्परागत होती हैं। इस तरह की मनोवृत्तियां देशीय अथवा जातीय सम्पत्ति बनकर हमारे तत्सम्बन्धी मनोभावों का प्रतिनिधित्व करती हैं। इनका साहित्य में पृथक पृथक स्थान होता है। इनकी अपनी सत्ता होती है। राम के उत्कृष्ट गुणों की सुन्दरता, कमलासना लक्ष्मी की रूप-माधुरी तथा गंगाजल की पवित्रता की ओर हम सहज ही आकर्षित हो जाते हैं और उनसे प्रसूत भावनाओं को हम अपनी रचना में स्थान देते हैं। ये हमारी धार्मिक रूढ़ मनोवृत्तियाँ हैं। इसी प्रकार हम अपनी

सामाजिक तथा जातीय मनोवृत्तियों को भी अपनी रचना में महत्त्वपूर्ण स्थान देते हैं। कोई भी लेखक, जिसके हृदय में अपने धर्म, जाति अथवा समाज के सम्मान का भाव है, इस प्रकार की मनोवृत्तियों से बच नहीं सकता।

दूसरे प्रकार की मनोवृत्तियाँ **उदार मनोवृत्तियाँ** होती हैं और विदेशीय भावनाओं के संसर्ग में आने से हमारे मानस में उदय हो हैं। वर्तमान युग के लेखकों और कवियों की रचना में हमें इस प्रकार की मनोवृत्तियों का स्पष्ट रूप दिखाई देता है और इसी कारण हमारा आज का साहित्य एकाङ्गी न होकर विश्वसाहित्य का एक महत्त्वपूर्ण अङ्ग हो गया है।

इन उदार तथा रूढ़ मनोवृत्तियों के अतिरिक्त लेखक की शैली पर प्राचीन, अर्वाचीन तथा सामयिक उत्कृष्ट यशस्वी लेखकों की कृतियों का भी ज्ञाताज्ञात रूप से प्रभाव पड़ता है। इसी प्रभाव के कारण नवीन प्रतिभाशील लेखक नयी-नयी शैलियों का निर्माण करते रहते और साहित्य-संसार को अपनी अभिनव शैली का उपहार देते रहते हैं।

अब तक शैली पर मनोविज्ञान के प्रभाव का जो विवेचन किया है उसका सम्बन्ध लेखक की बाह्य परिस्थितियों से है। इन बाह्य परिस्थितियों के अतिरिक्त कुछ अभ्यान्तर कारण भी ऐसे होते हैं जिनका प्रभाव लेखक की शैली पर पड़ता है। यह तो सभी जानते हैं कि लेखक को जिस वस्तु से प्रेम होता है उसका वह समर्थन करता और जिससे घृणा होती है उसका विरोध करता है। कहने का आशय यह है कि लेखक अपने मनोभाव, अपने अभ्यास, रुचि-अरुचि, स्तुति, अपनी भावुकता, अपने ज्ञान और अनुभव के अनुसार ही भाव-चित्र अपने मानस-पटल पर अङ्कित करता है और उसे लेखनी-द्वारा कागज पर उतारता है। मनोविज्ञान का यह सत्य लेखन-कला में उपेक्षणीय नहीं है।

अन्यत्र यह कहा जा चुका है कि भाषण और लेखन अभिप्राय-

प्रकाशन और विचार विनिमय के दो प्रमुख साधन हैं और जिन उपादान तत्वों से उसकी उद्‌भावना होती है उनमें वे समान हैं। अतएव अब हमें उन समस्त उपादान तत्वों पर विचार करना है जिनकी सहायता से शैली का निर्माण होता है। शैली के अब तक के विवेचन से हम जिस परिणाम पर पहुँचे हैं उससे ज्ञात होता है कि शैली की उद्‌भावना दो प्रकार के उपादान-तत्वों से होती है। इस उपादान तत्वों में प्रथम स्थान बाह्य तत्वों अर्थात् ध्वनि, शब्द, वाक्यादि का है। द्वितीय स्थान शब्द शक्ति आदि का है। इस प्रकार के उपादान तत्वों को हम आभ्यान्तरिक तत्व कह सकते हैं। वास्तव में यही तत्व शैली के गुण हैं। इसलिए हम इन तत्वों की चर्चा शैली के गुणों के अन्तर्गत करेंगे। यहाँ सब से पहले हम शैली के बाह्य तत्वों पर विचार करते हैं।

शैली के उपादान तत्व

शैली के छः बाह्य उपादान तत्व ध्वनि, शब्द, वाक्य, अनुच्छेद, प्रकरण और चिह्न हैं। इन तत्वों में ध्वनि का स्थान सर्वप्रथम है। इसलिए निम्नलिखित पंक्तियों में हम ध्वनि पर विचार करते हैं।

शैली के बाह्य उपादान तत्व

१. ध्वनि-योजना—प्रत्येक रचना में ध्वनि का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण होता है। ध्वनि-समूहों से ही वाक्यों की रचना होती है। इसलिए ध्वनियों के प्रयोग में, उन्हें सजाने में, लेखक को दो बातों पर विशेष रूप से ध्यान देना होता है।

अ. पहिली बात तो यह है कि ध्वनियाँ श्रुतिकटु न हों। वाक्य की कठोर ध्वनियों से श्रोता उद्विग्न हो जाते हैं और उनके अन्तःकरण में उस रचना के प्रति उदासीनता उत्पन्न हो जाती है। अतः अपनी रचना को इस दोष से मुक्त रखने के लिए लेखक को वर्ग के प्रथम वर्णों का द्वितीय के साथ एवं तृतीय का चतुर्थ के साथ संयोग, द्वित्व वर्ण, रेफयुक्त वर्ण, टवर्गीय ध्वनि आदि का, जहाँ तक सम्भव हो, कम प्रयोग करना चाहिये। ऐसी ध्वनियाँ श्रुति-कटु ही नहीं,

उच्चारण में भी कठिन और भद्दी होती हैं।

ब. दूसरी बात यह है कि ध्वनियों की योजना प्रसंगानुसार होनी चाहिए। कोमल, ललित और मधुर भावनाओं की अभिव्यक्ति में ध्वनि-लालित्य तथा श्रुति-कोमलता अपेक्षित रहती है। उद्धत एवं उग्र भावनाओं की अभिव्यक्ति में ओजपूर्ण ध्वनियों की आवश्यकता रहती है। कहने का तात्पर्य यह है कि ध्वनियों का सञ्चयन और वाक्य में उनकी योजना प्रसंग के अनुसार होने से अभिव्यक्त अर्थ में व्याघात नहीं पड़ता। ऐसी दशा में पाठक लेखक की भावना के साथ-साथ आगे बढ़ता चला जाता है।

२. शब्द-योजना—यह शैली का महत्वपूर्ण साधन है। ध्वनियों का साकार रूप ही शब्द है। शब्द अर्थ-बोधक होते हैं। निरर्थक शब्दों को रचना में स्थान नहीं दिया जाता। इसीलिए लेखक अपनी कृतियों से सार्थक शब्दों द्वारा ही अपनी भावनाओं का स्पष्टीकरण करते हैं। सार्थक शब्दों के प्रयोग में लेखक का दूसरा उद्देश्य पाठक के अन्तःकरण में उन प्रसुप्त भावनाओं को जागृत करना होता है जिनकी उसे आवश्यकता है। इसलिए लेखक को अपने विषय और प्रसंग के अनुसार शब्दों का सञ्चय करने में बड़ी सावधानी से काम लेना पड़ता है; अन्यथा उसकी भाषा में शिथिलता आजाती है। इस दोष का परिहार करने के लिए निम्नाङ्कित बातों पर ध्यान देना चाहिए:—

क. रचनाकार के लिए अध्ययनशील होना अत्यन्त आवश्यक है। इससे शब्द-सञ्चय तथा शब्द-प्रयोग में उसे बड़ी सहायता मिलती है। वह जानता है कि किस शब्द को कहाँ रखने से भाषा में सौन्दर्य आ सकता है और उसे भावाभिव्यञ्जन में सफलता मिल सकती है।

ख. रचनाकार को शब्दों के तीन भेदों—संज्ञा, विशेषण तथा क्रियापद—का विशेषरूप से विवेचनात्मक अध्ययन करना चाहिए। इससे उसे ज्ञात हो जायगा कि किस शब्द का प्रयोग किस वस्तु अथवा

भाव के लिए हुआ है। शिव, शंकर, रुद्र, महादेव, महादेव जी के पर्यायवाची नाम हैं, परन्तु प्रत्येक नाम के साथ एक इतिहास है। इस इतिहास की उपेक्षा करके यदि लेखक 'शंकर' के स्थान पर 'रुद्र' का प्रयोग कर देता है तो वह वास्तव में अपनी मूर्खता का परिचय देता है। इसी प्रकार विशेषण के प्रयोग में लेखक को यह सोच लेना चाहिए कि वह उसे क्यों और कैसी अवस्था में प्रयोग करता है। उसे यह स्मरण रखना चाहिए कि भाषा के अभिप्रेत अर्थ से वैशिष्ट्य अथवा व्यभिचार की सम्भावना का निराकरण करने, संज्ञापद आदि से हृदय-पटल पर अङ्कित मानस-चित्र को सुस्पष्ट करने तथा आगे वर्णित होने वाले चित्र के क्षेत्र का निर्माण करने के लिए विशेषण का प्रयोग होता है। इसी प्रकार संयुक्त क्रियापद के प्रयोग में सावधान रहना चाहिए। 'कूच कर दिया' और 'कूच कर गया' में अन्तर है। इस अन्तर पर विचार करके लेखक को अपनी रचना में क्रियापदों का स्थान निश्चित करना चाहिए।

ग. रचनाकार को अपनी रचना में ऐसे शब्दों का प्रयोग करना चाहिए जो उसके भाव, कल्पना और अनुभूतियों के सच्चे प्रतिनिधि हों। प्रत्येक भाषा में बहुत से शब्द समानार्थी होते हैं; परन्तु अध्ययन और विश्लेषण के पश्चात् उनके अर्थों में विभिन्नता पायी जाती है। ऐसी दशा में केवल समानार्थी शब्द देखकर किसी शब्द को अपनी रचना में स्थान देने से ईप्सित अर्थ की हत्या हो जाती है। इसलिए किसी शब्द का प्रयोग करने से पहले उसके इतिहास, अर्थ, प्रसंग, प्रवृत्ति तथा सामर्थ्य पर विचार कर लेना चाहिए। इसके साथ ही यह भी देख लेना चाहिए कि रचना की शब्दावली पाठक की योग्यता के अनुकूल हो। व्यर्थ के खोखले तथा म्रियमाण शब्दों की भरमार से निबन्ध का कलेवर बढ़ाना शैली के सौन्दर्य पर आघात करना है। नपी तुली, प्रसादगुणयुक्त शब्दावली से शैली में मार्दव आता है और उसका आकर्षण बढ़ जाता है।

घ. रचनाकार को विदेशी शब्दों के प्रयोग से अपनी रचना को बचाते रहना चाहिये। फारसी, अरबी, अंग्रेजी, संस्कृत तथा अन्य भाषाओं के ऐसे शब्द, जो उसकी भाषा में प्रचलित नहीं हैं, शैली के प्रभाव में बाधक होते हैं। इसी प्रकार ग्रामीण अप्रचलित शब्दों का प्रयोग भद्दा समझा जाता है।

३. वाक्य-योजना—यह शैली का तीसरा उपादान तत्व है। चित्र बनाने से पूर्व जिस प्रकार उस चित्र का काल्पनिक रूप चित्रकार के भावजगत् में प्रतीयमान रहता है उसी प्रकार किसी भाव अथवा विचार को अंकित करने से पहले उसका शब्द-चित्र वाक्य के रूप में साहित्यकार के मस्तिष्क में उपन्यस्त रहता है। एक प्रकार से मनुष्य वाक्य में ही सोचता और वाक्य में ही अपने भाव व्यक्त करता है। अतः वाक्य ही भाषा का चरमावयव है। ध्वनि तथा शब्द भाषा के कल्पित अवयव हैं। इस दृष्टि से रचनाकार को अपनी वाक्य-योजना पर ध्यान देना परमावश्यक है। इस सम्बन्ध मे निम्नलिखित बातें अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं:—

क. एक वाक्य में केवल एक ही विचार की अभिव्यक्ति होनी चाहिए।

ख. वाक्य में शब्दों का प्रयोग करते समय व्याकरण के नियमों का पालन करना चाहिए। जिन शब्दों पर बल देना हो उन्हे उचित स्थान देना चाहिए।

ग. वाक्य के उच्चरित पदों को परस्पर साकांक्ष होना चाहिए। जो वाक्य अपने में सम्पूर्ण होता है उसी से पूर्णार्थ-बोधन होता है। इसलिए अधूरे वाक्यों का रचना में बहिष्कार करना चाहिए।

घ. वाक्य के समस्त पदों में स्पष्टता रहनी चाहिए। ऐसा न हो कि लिखा कुछ जाय और समझा कुछ जाय। वाक्य के भावों को स्पष्ट रूप से व्यक्त करने की योग्यता होना परमावश्यक है। इसलिए वाक्य में प्रयुक्त शब्दों में परस्पर विरोध न होना चाहिए।

च. वाक्य में प्रयुक्त शब्दों को परस्पर सन्निहित होना चाहिए। ऐसी दशा में वाक्य में समस्त शब्दों का प्रयोग एक ही काल में एक ही स्थान पर और एक ही साथ करना चाहिए।

छ. वाक्य-रचना में आकार, ध्वनि तथा अर्थ पर विशेष रूप से ध्यान रखना चाहिए। जिस वाक्य में तीनों का सामञ्जस्य रहता है, वह उत्कृष्ट वाक्य समझा जाता है। आकार की दृष्टि से वाक्य छोटा तथा सरल होना चाहिए। भीमकाय वाक्यों से प्रसाद-गुण नष्ट हो जाता है और पाठक की रुचि में बाधा पड़ती है। मिश्र तथा संयुक्त वाक्यों के अङ्गों में सन्तुलन होना चाहिए।

ज. वाक्यों में मुहाविरों का आवश्यकतानुसार प्रयोग होना चाहिए। मुहाविरों से शैली का सौंदर्य बढ़ता है, परन्तु उनकी भरमार से उनका सौन्दर्य नष्ट भी हो जाता है।

४. **अनुच्छेद योजना**—यह शैली का चौथा उपादान-तत्व है। वाक्य के अनन्तर रचना में इसी का महत्व है। इसे हम उद्देश्ययुक्त वाक्यों का समूह कह सकते हैं। इसकी रचना में निम्नाङ्कित बातों पर ध्यान रखना चाहिये :—

क. प्रत्येक अनुच्छेद में केवल एक ही प्रसंग के विचारों का विकास होना चाहिये। विरोधी विचारों को स्थान देने से अनुच्छेद की सुन्दरता नष्ट हो जाती है।

ख. नवीन अनुच्छेद का आरम्भ ऐसे वाक्य से होना चाहिए जो उसका सार-रूप हो अथवा उसमें वर्णित प्रसंग की प्रस्तावना मात्र हो। उसका अन्त ऐसे वाक्य से होना चाहिए जो आगे के अनुच्छेद की प्रस्तावना बन सके। कहने का तात्पर्य यह है कि किसी निबन्ध के समस्त अनुच्छेदों में शृंखला की भाँति विचारों का क्रम होना चाहिये।

५. **प्रकरण-योजना**—यह शैली का पाँचवाँ उपादान-तत्व है। अनुच्छेद के पश्चात् प्रकरण का ही महत्व होता है। इसका निर्माण

अनुच्छेदों से होता है। इसमें निम्नलिखित बातों पर ध्यान दिया जाता है :—

क. एक प्रकरण में एक ही विषय का, एक ही प्रसंग का, प्रतिपादन कई दृष्टिकोणों से किया जाता है। प्रत्येक दृष्टिकोण के लिए एक या कई अनुच्छेद हो सकते हैं।

ख. गौण विषय को प्रकरण में अधिक महत्व नहीं देना चाहिए।

ग. आरम्भ आकर्षक ढंग से करना चाहिए। उसका आरम्भ ऐसा होना चाहिए कि पाठक का मन मोह ले। इसी प्रकार अन्त में भी ऐसा आकर्षण होना चाहिए कि वर्णित विषय कुछ काल तक पाठक के हृदय में गूँजता रहे।

६. **चिह्न-विचार**—यह शैली का पाँचवाँ और अन्तिम उपादान-तत्व है। स्पष्ट अर्थ-बोधन के लिए इस पर भी ध्यान देना परमावश्यक है। इससे पाठकों को वाक्यों तथा अनुच्छेदों का अर्थ समझने में सरलता और लेखक को विचार-प्रकाशन में सुविधा होती है। बहुत से लेखक चिह्नों का उचित प्रयोग नहीं करते। इससे उनकी रचनाएँ दुरूह हो जाती हैं। पूर्ण विराम, अर्धविराम तथा अल्पविराम लगाने के सूक्ष्म भेदों को समझ लेना प्रत्येक लेखक का कर्त्तव्य है। इसी पुस्तक में चिह्नों के प्रयोग के सम्बन्ध में एक पृथक प्रकरण दिया गया है। पाठकों को उस पर विचार करके चिह्नों का प्रयोग करना चाहिए।

ऊपर की पंक्तियों में शैली के जिन बाह्य उपादान तत्वों पर विचार किया गया है उनका सम्बन्ध शैली के बाह्य रूप से, शैली के शरीर से है। शैली की आत्मा में प्रविष्ट होकर उसके आन्तरिक गुणों की छान-बीन करना अभी शेष है। इसलिए उनके सम्बन्ध में यहाँ विचार किया जाता है। शैली के आन्तरिक गुणों का विचार दो दृष्टिकोणों से किया जाता है। इनमें एक तो भारतीय दृष्टिकोण है और दूसरा पाश्चात्य। पहले हम भारतीय दृष्टिकोण से शैली के गुणों पर विचार करेंगे।

शैली के गुण

१. भारतीय दृष्टिकोण—पाश्चात्य साहित्यकारों ने जिस रचना-चातुर्य को 'स्टाइल' की संज्ञा दी है उसके लिए संस्कृताचार्यों ने रीति शब्द से काम लिया है। परन्तु रीति और स्टाइल में तात्त्विक अन्तर है। आजकल साहित्य-जगत् में शैली अथवा 'स्टाइल' के नाम से जिस तत्त्व का बोध होता है वह रीति नहीं है। रीति से काव्य-रचना प्रणाली का बोध होता है और शैली साहित्य की अभिव्यक्ति की प्रणाली है। रीति काव्य की आत्मा, और पदों की विशेषवती रचना का नाम है। शैली उस साधन का नाम है जो वाक्य-शक्ति की अभिव्यक्ति में अभिनव तथा समर्थ शक्ति का सञ्चार करता है। रीति में लेखक का व्यक्तित्व नहीं रहता; शैली पर लेखक की मानसिक विशेषताओं की अविकल छाप रहती है।

रीति और शैली में इतना तात्त्विक अन्तर होने पर भी जिन गुणों के आधार पर भारत के रीतिवादी आचार्यों ने रीति की विवेचना की है उन गुणों से शैली की भी रम्यता और प्रभावोत्पादकता बढ़ती है। भरत मुनि ने दोषाभाव को ही रीति का गुण माना है। उनके मतानुसार श्लेष, प्रसाद, समता, समाधि, माधुर्य, ओज, पद-सौकुमार्य, अर्थव्यक्ति, उदारता तथा कान्ति दोषाभाव ही नहीं; रीति के, काव्य की आत्मा के गुण भी हैं। भरत के अनन्तर अलङ्कारशास्त्र का समुचित विकास हो जाने पर मम्मटाचार्य आदि ने उक्त दस गुणों की एक साथ व्याख्या न करके केवल ओज, प्रसाद तथा माधुर्य गुणों को प्रधानता दी है। इन्हीं गुणों के आधार पर रीति के—वैदर्भी, गौड़ी तथा पाञ्चाली—तीन मुख्य भेद किये गये हैं। माधुर्य-व्यञ्जक वर्णों से निर्मित समासहीन अथवा अल्प समासयुक्त ललित रचना को वैदर्भी, ओज के प्रकाशक कठिन वर्णों से निर्मित समासबहुल उत्कट रचना को गौड़ी और माधुर्य और ओज-व्यञ्जक वर्णों में अवशिष्ट वर्ण तथा पाँच छः पदों तक की समासवाली रचना को पाञ्चाली कहते हैं। इन रीतियों में वाचक, लाक्षणिक और व्यंजक तीन प्रकार के शब्द तथा वाच्यार्थ,

लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ तीन प्रकार के अर्थ पाये जाते हैं। वाचक शब्द से जो अर्थ होता है उसे वाच्यार्थ, लाक्षणिक शब्द से जो अर्थ होता है उसे लक्ष्यार्थ और व्यञ्जक शब्द से जो अर्थ होता है उसे व्यंग्यार्थ कहते हैं। इन तीनों अर्थों के प्रादुर्भाव में जो शक्तियाँ काम करती हैं उन्हें क्रमशः अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना कहते हैं। यही शक्तियाँ वृत्ति भी कहलाती हैं।

इस प्रकार भारतीय दृष्टिकोण से विचार करने के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि रचना में ओज, प्रसाद और माधुर्य तीन गुण होते हैं। जिस रचना के सुनने से मन में तेज उत्पन्न हो उसमें ओजगुण समझा जाता है। इन गुण की उद्भावना के लिए प्रौढ़ता और उग्रता अपेक्षित होती है। जब अभिव्यञ्जन शैली में लेखक प्रगल्भतापूर्वक लिखता है तब उससे उसकी प्रभावोत्पादकता बढ़ जाती है। ऐसी दशा में, उस रचना में वीर, वीभत्स तथा रौद्र रस का सञ्चार होता है।

शैली का दूसरा गुण प्रसाद है। जब किसी रचना को सुनते ही मन में उसका अर्थ-बोध हो जाता है तब उसमें प्रसाद गुण समझा जाता है। इस गुण का समावेश सब रसों में हो सकता है। सरलता और सुगमता ही इस गुण के मुख्य लक्षण हैं।

शैली का तीसरा गुण माधुर्य है। किसी रचना के जिस गुण के कारण पाठक का अन्तःकरण आनन्द से द्रवीभूत हो जाता है उसे माधुर्य गुण कहते हैं। इस गुण में शृङ्गार, करुण और शान्तरस का न्यूनाधिकरूप में रहना अनिवार्य है।

शैली के उपर्युक्त गुणों पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि गुण रस का धर्म है। अलङ्कार शब्द और अर्थ का धर्म है। गुण, रस के साथ नित्य रहता है, अलङ्कार रस का साथ छोड़कर नीरस रचना में भी रह सकता है। गुण रस का सदैव उपकार करता है; अलङ्कार रस के साथ रहकर कभी उपकार करता है और कभी नहीं भी करता। इस प्रकार गुण और अलङ्कार एक ही नहीं हैं।

यह तो हुई भारतीय दृष्टिकोण से शैली के गुणों की समीक्षा करने की प्रणाली। पाश्चात्य साहित्यकारों की समीक्षा-प्रणाली इससे भिन्न है। हम यहाँ संक्षेप से उस पर प्रकाश डालने की चेष्टा करते हैं।

२. **पाश्चात्य दृष्टिकोण**—हम यह तो बता ही चुके हैं कि शैली की उद्‌भावना में बाह्य-तत्त्वों के अतिरिक्त कुछ ऐसे आभ्यन्तरिक उपकरणों की सहायता भी ली जाती है जिनसे शैली में वास्तविक सौन्दर्य की प्रतिष्ठा होती है। पाश्चात्य समालोचकों के मतानुसार इन आभ्यन्तरिक उपकरणों के दो वर्ग किये जाते हैं, एक तो **बौद्धिक** और दूसरा **रागात्मक**। बौद्धिक उपकरणों का सम्बन्ध मस्तिष्क से है। इन उपकरणों से शैली में सरलता, स्वच्छता तथा स्पष्टता आदि गुणों का उद्‌भव होता है। रागात्मक उपकरणों का सम्बन्ध हृदय से है। इन उपकरणों से शैली में प्रभावोत्पादकता, शिष्टता एवं लय का प्रादुर्भाव होता है। शैली के इन गुणों की समीक्षा निम्नलिखित पंक्तियों में की जाती है :—

[क] **सरलता**—अपनी रचना को लोकप्रिय बनाने के लिए जब लेखक अपनी शैली की उठान ऐसे शब्दों, वाक्यों एवं मुहाविरों से करता है जो उच्चारण में सरल और समझने में सुबोध होते हैं तब उसकी शैली में इस गुण का प्रादुर्भाव होता है। इस कथन का यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि लेखक को अपनी उक्ति में लक्षणा और व्यञ्जना से काम न लेना चाहिए तथा अलंकारों का सर्वथा बहिष्कार करना चाहिए। इसका अभिप्राय केवल यह है कि रचनाकार को ऐसे पदों का प्रयोग, ऐसे वाक्यों की योजना, ऐसे अलंकारों का विधान और ऐसे क्लिष्ट शब्दों का प्रयोग न करना चाहिए जिनसे शैली की रमणीयता नष्ट होती हो और अर्थ-बोध तथा अर्थोपस्थिति में विलम्ब की सम्भावना हो।

[ख] **स्वच्छता**—यह शैली का दूसरा गुण है। इस गुण की प्रतिष्ठा शैली में उस समय होती है जब कृतिकार अपनी भावनाओं,

कल्पनाओं और अनुभूतियों की गुत्थियों को, उनके गूढ़ रहस्यों को पूर्णरूप में खोलकर अपने पाठकों के सामने रख देता है। शैली की उत्कृष्टता इसी गुण से नापी जाती है। यही उसकी सफलता का चरम उत्कर्ष है। इसलिए लेखक को दुरूह कल्पनाओं, अप्रचलित उपमाओं, क्लिष्ट पारिभाषिक शब्दों, गूढ़ उद्धरणों तथा अस्पष्ट अन्तर्कथाओं का अपनी रचना में सर्वथा परित्याग करना चाहिए। साथ ही इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि विदेशी कल्पनाओं, भावों तथा मुहाविरों को शैली में स्थान देने से भाषा की स्वच्छता मलिन हो जाती है।

[ग] **स्पष्टता**—यह उत्कृष्ट शैली का तीसरा गुण है। इसी गुण के सहारे लेखक अपनी विचार-धारा को पाठक के हृदय में उतारता है और उसकी सहानुभूति प्राप्त करता है। इसी गुण के सहारे वह अपने पाठक के हृदय में उस शाश्वत आनन्द का विधान करता है जिसे वह स्वयं अनुभव करता है। अपने इस उद्देश्य में उसे तभी सफलता प्राप्त होती है जब वह अपने मानस-चित्रों को प्राञ्जल भाषा में अभिव्यक्त करता है, जब वह अपने कर्त्तव्य को समझता हुआ इस बात की चेष्टा करता है कि उसके शब्द, उसके पद, उसके मुहाविरे तथा उसके वाक्य व्याकरण के नियमानुसार शुद्ध, अर्थबोध में स्पष्ट और भावों का चित्र अंकित करने में समर्थ हों। इस प्रकार स्वच्छता के साथ शैली में स्पष्टता लाने के लिए वह सतत प्रयत्नशील रहता है।

[घ] **प्रभावोत्पादकता**—यह शैली का चौथा गुण है। किसी शैली में इस गुण का उद्भव उस समय होता है, जब कृतिकार अपने विषय को सर्वसाधारण की अनुभूति का विषय बना देता है, जब वह अपने जीवन-पथ को जन-साधारण की जीवन-यात्रा में मिलनेवाले परिचित पथ से मिला देता है और अपने वैयक्तिक सुख को विश्वजनीन सुख में तिरोहित कर देता है। जब तक लेखक की शैली में, उसकी अभिव्यञ्जन-प्रणाली में यह गुण नहीं आता तबतक सरल, स्वच्छ और

स्पष्ट रहने पर भी उसकी रचना प्रभावशून्य रहती है। पाठक का हृदय एक वीणा के समान है। चतुर लेखक का कर्त्तव्य है कि छूते ही उसे झंकृत कर दे, उसके एक-एक तार में स्वर भर दे। शैली में प्रभावोत्पादकता का यही लक्ष्य होना चाहिए।

[च] शिष्टता—यह शैली का पाँचवाँ गुण है। इस गुण का आधार मानव की सौन्दर्योपासना है। अपनी इसी सौन्दर्योपासना के कारण वह भौतिक पदार्थों में सौन्दर्य का विधान करता है। साथ ही साहित्यिक क्षेत्र में भी वह उसकी उत्पत्ति के लिए सतत प्रयत्नशील रहता है। वह जो कुछ लिखता है, जिस शैली में लिखता है उसमें शिष्ट, सुरुचिपूर्ण और सुसंस्कृत रहता है। वह अपनी भाषा की मर्यादा और उसके गौरव को समझता है। अश्लील शब्दों के प्रयोग से वह अपनी लेखनी को बचाता है। भाषा के साथ वह भावों की मर्यादा भी स्थिर करता है और अपनी रचना को उन विचारों से अछूता रखता है, जिन्हें पढ़कर पाठक का हृदय या तो लज्जा से संकुचित हो जाता है या घृणा से उद्वेलित होकर लेखक को खरी-खोटी सुनाने लगता है। कहा जा सकता है कि यथार्थवादी साहित्यकारों के लिए समाज की कुत्सित मनोवृत्तियों को नग्न रूप में जनता के सामने रखना अनिवार्य है। ऐसी दशा में शैली में शिष्टता आ ही नहीं सकती। इसमें सन्देह नहीं कि इस प्रकार की दलील में सत्य का कुछ अंश अवश्य है, परन्तु इस सत्य को लेकर साहित्य का निर्माण नहीं हुआ है। साहित्य शिष्ट यथार्थवादी समाज की सम्पत्ति है, वह टट्टी की आड़ में होकर शिकार खेलनेवाले यथार्थवादी समाज की सम्पत्ति नहीं है। सारांश यह कि लेखक यथार्थवादी हो अथवा आदर्शवादी, उसे अपनी रचना में शिष्ट भाषा का ही प्रयोग करना चाहिए।

[छ] लय—यह शैली का छठा और अन्तिम गुण है। शैली तथा संगीत का सम्बन्ध स्थापित करते हुए यह बताया जा चुका है कि विषम स्वरों में समता स्थापित करने से जिस प्रकार संगीत का चरम लक्ष्य

स्थापित होता है उसी प्रकार शब्दों की ध्वनि और अर्थ में साम्य का विधान होने से शैली में लय अथवा प्रवाह का आविर्भाव होता है। बिना लय के शैली में रमणीयता नहीं आती है।

लय दो प्रकार की होती है—एक तो ध्वनि-लय और दूसरी ताल-लय। मधुर ध्वनियों की योजना से शैली में ध्वनि-लय का उद्भव होता है। ताल-लय एक प्रकार का गीतात्मक स्वर-सञ्चार होता है। वह स्वरों के उतार-चढ़ाव पर निर्भर रहता है। शैली में स्वरों के आरोह-अवरोह से इस लक्ष्य में सफलता प्राप्त हो सकती है।

उपर्युक्त पंक्तियों में शैली के जिन गुणों की संक्षेप में विवेचना की गयी है, उनके अतिरिक्त हास्य और विनोद भी शैली का गुण होना चाहिए। समय-समय पर विषय के औचित्य का ध्यान रखते हुए हास्य और विनोद का पुट देने से पाठक की रुचि विषय के प्रति बनी रहती है और उसकी ग्रहणशीलता को शक्ति मिलती है। गम्भीर रचना में हास्य और विनोद का वही स्थान होना चाहिए जो भोजन में चटनी का है, अन्यथा उसकी गम्भीरता नष्ट होने की सम्भावना रहती है।

शैली के दोष

शैली के गुणों की विवेचना के पश्चात् इस बात की आवश्यकता तो नहीं रह जाती कि शैली के दोष भी दिखाये जायँ परन्तु विद्यार्थियों की सुविधा के विचार से हम उन्हें भी यहाँ दे देना उचित समझते हैं। शैली में निम्नलिखित मुख्य दोष हो सकते हैं:—

१. अनिश्चित, जटिल तथा लम्बे वाक्यों का प्रयोग।
२. विभिन्न शब्दों द्वारा एक ही भाव की पुनरुक्ति।
३. शब्द अथवा वाक्य में अर्थ-स्पष्टता का अभाव।
४. अनावश्यक तथा अनुचित शब्दों का प्रयोग।
५. एक शब्द की पुनरुक्ति।
६. व्याकरण के विरुद्ध शब्दों का प्रयोग।
७. शब्दाडम्बर और ग्राम्य प्रयोग।

८. पाण्डित्य-प्रदर्शन की चेष्टा।

९. पारिभाषिक तथा च्युत संस्कृत शब्दों की अधिकता।

१०. संयोजक और वियोजक शब्दों का अनुचित प्रयोग।

११. मिश्रित रूपक का प्रयोग।

१२. अनुच्छेदों तथा विराम चिह्नों का अभाव।

१३. विषय की उत्कृष्टता के पश्चात् उसकी न्यूनता का वर्णन।

१४. विचारों की असम्बद्धता।

शैली के बाह्य तथा आभ्यन्तरिक तत्त्वों के गुण-दोषों की विवेचना पर ध्यानपूर्वक विचार करने से यह बात भलीभाँति स्पष्ट हो जाती है कि शैली में केवल विचार, अनुभूति तथा अभिव्यञ्जना की प्रधानता रहती है। इसलिए ये तीनों शैली के स्वरूप के अंग कहलाते हैं। नीचे हम इन्हीं तीनों अंगों पर विचार करेंगे।

शैली के स्वरूप के अंग

१. **विचार** के तीन गुण **सरलता, स्पष्टता** और **आरोहण** हैं। जिस विचार-शैली में सरलता रहती है, उसमें सरल भाव होते हैं; स्पष्ट और प्रत्यक्ष उदाहरण दिये जाते हैं, विशेषार्थ-बोधक कथन को प्रधानता दी जाती है और लुप्त तथा संक्षिप्त प्रयोग का सर्वथा बहिष्कार किया जाता है। स्पष्ट शैली के प्रत्येक परिच्छेद में एक शब्द का एक ही अर्थ लिया जाता है। उसमें कोई असङ्गत कथन नहीं होता; ओजस्विता की दृष्टि से प्रमुख विचारों को प्रथम स्थान दिया जाता है और एक विचार से दूसरे विचार में उचित सम्बन्ध स्थापित किया जाता है। आरोहण में युग-गत ज्ञान से काम लिया जाता है और विचार विषय के अनुरूप होते हैं।

२. **अनुभूति** के तीन गुण **प्रवृत्ति, ओज** और **कान्ति** हैं। प्रवृत्ति में इन्द्रिय-वृत्ति आकर्षित होती है। ऐसी रचनाएँ, जिनमें इन्द्रिय-वृत्तियों को आकर्षित करने की क्षमता होती है, पाठक के हृदय में जीव तथा प्रकृति के प्रेम, जीवों के सुख-दुःख की सामान्य तथा करुण दशा के प्रति सहानु-

भूति तथा करुणा के भावों को जाग्रत करती हैं। ओजस्वी रचनाओं से हृदय में शक्ति का सञ्चार होता है। उसमें वर्णित प्रकृति के रहस्य हमें उत्कृष्ट भावों की ओर ले जाते हैं। ऐसी रचनाओं में ओज की भिन्न-भिन्न श्रेणियाँ इस क्रम से सजाई जाती हैं कि उनसे रचना के उत्कर्ष में उत्तरोत्तर वृद्धि होती रहती है। कभी-कभी अर्थ-विरोधिनी युक्ति द्वारा भी ओज की मात्रा बढ़ा दी जाती है। कुछ रचनाओं में विशेष कान्ति होती है। ऐसी रचनाएँ आह्लादपूर्ण होती हैं। शब्द, पद तथा वाक्य-लालित्य, रसज्ञता, विनोद, वाक्-चातुरी और लेखक के किसी आश्चर्यजनक कौतुक के कारण रचना में जो सरसता आ जाती है वह सुरुचिपूर्ण शब्द-चयन, परिष्कृत कथनों की योजना तथा विनोद पर अवलम्बित रहती है। ऐसी ललित रचनाओं में विपरीत विचारों का विचित्र संयोग रहता है, हास्य की छटा रहती है, सत्य का आलाप करनेवाली अतिशयोक्ति का अभाव रहता है, पाठकों के विचारों के प्रति सम्मान का भाव रहता है, धर्म तथा सदाचार की रांच रहती है और दोष के साथ, गुणों की प्रशंसा रहती है।

३. अभिव्यञ्जना के चार गुण—रुचि, अनुक्रम, स्वर-मधुरता और यथार्थता—हैं। अभिव्यञ्जना में रुचि, होने पर परिमार्जित भाषा का व्यवहार होता है। शब्द और वाक्य नपे-तुले रहते हैं। जहाँ उसमें अनुक्रम रहता है वहाँ पाठक को अर्थ समझने में सुविधा होती है। स्वर-मधुरता से हृदय और मस्तिष्क में आनन्द का उद्रेक होता है। श्रुति-मधुर रचना में इतनी विविधता होती है कि एकरसता आने नहीं पाती। उसमें केवल उन्हीं शब्दों को स्थान मिलता है जिनके स्वराघात एक दूसरे से मेल खाते हैं। जो रचना विचारों के अनुरूप होती है उसमें यथार्थता पाया जाया है। ऐसी रचना में ध्वनि, गति तथा आकार आदि को व्यक्त करने के लिए उन्हीं के अनुकरणशील शब्दों का प्रयोग होता है। पत्तियों की रगड़ से जो ध्वनि निकलती है उसे व्यक्त करने के लिए 'खड़खड़' शब्द ही उपयुक्त है। ऐसे ही शब्दों के प्रयोग से रचना में यथार्थता आती है।

पूर्व पंक्तियों में यह बताया जा चुका है कि शैली का निर्माण भाव और भाषा से होता है। इन्हीं दोनों तत्वों के आधार पर

शैली के भेद शैली के दो मुख्य भेद भाषा-प्रधान और विचार-प्रधान किये जाते हैं। इन दोनों भेदों में अन्तर केवल भाषा और विचार का ही रहता है। भाषा-प्रधान शैली में प्रथम स्थान भाषा को और द्वितीय स्थान भाव को दिया जाता है। विचार-प्रधान शैली में विचारों, भावों, कल्पनाओं और अनुभूतियों को प्रधानता दी जाती है। उसमें भाषा का स्थान गौण होता है। शैली के भेदों के इस प्रकार के अन्तर से यह न समझ लेना चाहिए कि पहले में विचार और दूसरे में भाषा का बहिष्कार-सा किया जाता है। कहने का तात्पर्य केवल यह है कि पहले प्रकार की शैली में विचार भाषा के अनुगामी होते हैं; भाषा आगे रहती है, विचार उसके पीछे चलते हैं। दूसरे प्रकार की शैली में भाषा विचारों की अनुगामिनी होती है। उसमें विचार आगे रहते हैं; भाषा उनके पीछे-पीछे चलती है।

भाषा-प्रधान शैली—भाषा-प्रधान शैली के दो प्रधान रूप हो सकते हैं। एक तो शब्द-प्रधान और दूसरा वाक्यरचना-प्रधान। हम पहले शब्द प्रधान शैली की आलोचना करेंगे।

अ-शब्द-प्रधान शैली—वह शैली जिसमें किसी भाव की अभि-व्यक्ति में अधिक तथा बड़े-बड़े शब्दों से काम लिया जाता है शब्द-प्रधान शैली कहलाती है। ऐसी शैली में केवल शब्दाडम्बर होता है, विचारों की तीव्रता कम रहती है। शब्दों की संख्या के अनुसार इसके तीन भेद होते हैं। प्रथम प्रकार की शब्द-प्रधान शैली वाग्बहुल होती है। इसमें शब्दों की भरमार रहती है। द्वितीय प्रकार की शब्द-प्रधान शैली संक्षिप्त होती है। इसमें वाग्बहुल की अपेक्षा थोड़े शब्दों से काम लिया जाता है। तृतीय प्रकार की शब्द-प्रधान शैली निर्दिष्ट होती है। इसमें शब्द न तो बहुत अधिक रहते हैं और न बहुत कम।

बहुत से समीक्षक तत्सम अथवा तद्भव शब्दों की प्रचुरता के आधार पर शैली के दो भेद संस्कृत-बहुला और तद्भव-शब्द बहुला करते हैं। ये भेद उचित नहीं जान पड़ते। इनसे न तो भाषा की सौंदर्य-वृद्धि होती है और न अभिव्यञ्जन की प्रभावोत्पादकता ही बढ़ती है।

ब. वाक्य-रचना-प्रधान शैली—यह भाषा-शैली का दूसरा स्वरूप है। इस स्वरूप का सम्बन्ध वाक्य से होता है। वाक्य ही भाषा का चरमावयव है। इसलिए वाक्यों की रचना के अनुसार शैली के भेदों पर विचार करना शब्द-प्रधान शैली की अपेक्षा अधिक युक्ति-संगत है। इस दृष्टि से वाक्य-रचना-प्रधान शैली के—सरल शैली, गुम्फित-वाक्य शैली, उक्ति-प्रधान शैली, अलङ्कृत शैली और गूढ़ शैली—पाँच भेद किये जाते हैं।

१. सरल शैली—में एक क्रिया वाले वाक्यों का प्रयोग होता है; परन्तु इस बात पर विशेष रूप से ध्यान रखना होता है कि जो कुछ लिखा जाय उसमें प्रभावोत्पादकता, अर्थ-गम्भीरता तथा समर्थता अवश्य हो। थोड़े में बहुत-कुछ कह देना ही इस शैली की विशेषता है। 'साहित्य मानव-जीवन की अभिव्यक्ति है' एक छोटा वाक्य है परन्तु इसमें जो भाव भरे हुए हैं उन पर एक निबन्ध लिखा जा सकता है। कहने का तात्पर्य यह कि सरल शैली में ऐसे प्रसाद गुणयुक्त वाक्यों का विधान अपेक्षित है जो भाव और भाषा की दृष्टि से चुस्त, मर्मस्पर्शी और हृदय में नये विचारों को जाग्रत करने वाले हों।

२. गुम्फित-वाक्य शैली—में गुम्फित वाक्यों का प्रयोग होता है। गुम्फित वाक्य ऐसे वाक्यों को कहते हैं जिनमें एक से अधिक पूर्ण क्रियापद आते हैं। किसी शैली में ऐसे वाक्यों का प्रयोग करने के लिए लेखक की वाक्य रचना शक्ति प्रौढ़ होनी चाहिए, अन्यथा उसकी रचना में शिथिलता आ जाती है। यही बात सन्तुलित अथवा समीकृत वाक्यों के प्रयोग के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। गूढ़ विषयों का निरूपण ऐसे ही वाक्यों-द्वारा किया जाता है।

३- उक्ति-प्रधान शैली—में लेखक लोकव्यहृत रूढ़ियों, मुहाविरों और सूक्तियों का प्रचुर मात्रा में प्रयोग करता है। इस प्रकार उचित प्रयोग से भाषा में सौन्दर्य और चमत्कार आता है। लोकोक्तियाँ और मुहावरे वस्तुतः लाक्षणिक प्रयोग हैं। पाठक के कान उनसे परिचित रहते हैं। अतः उनके द्वारा अर्थ-बोध में पूरी सहायता मिलती है। जो बात साधारण रीति से सीधी भाषा में कही जाने पर नीरस और रूखी जान पड़ती है वही मुहाविरेदार भाषा में चमक उठती है। मुहाविरे भाषा पर शान चढ़ा देते हैं और उसमें नयी जान डाल देते हैं। प्रेमचन्द जी की शैली पाठकों को इसीलिए पसन्द आती है कि वह मुहाविरों के प्रयोग से भाषा में जादू भर देते हैं। इस कथन का यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि लेखक को अपनी रचना में मुहाविरों की भरमार कर देनी चाहिये; नहीं, उनका प्रयोग स्वाभाविक रूप में होना चाहिये। इस बात का भी ध्यान रहना चाहिए कि मुहाविरे मँजे हुए, वर्णित विषय के अनुकूल और स्वाभाविक रूप में हों। 'कान काटना' के स्थान पर 'कर्ण काटना' लिखना मुहाविरे की गर्दन पर छुरी चलाना है। इसी प्रकार सूक्तियों अथवा उद्धरणों के प्रयोग में भी लेखक को अत्यन्त सावधान रहना चाहिये। बिना समझे-बूझे किसी सूक्ति अथवा उद्धरण को रचना-शरीर के बीच ठूँस देने से भाषा का सौन्दर्य तो नष्ट हो ही जाता है, भाव भी असम्बद्ध हो जाते हैं।

४. अलंकृत शैली—का तात्पर्य अलङ्कारयुक्त भाषा शैली से है। यह शैली दो प्रकार की होती है। एक तो **शब्दालंकारयुक्त शैली** और दूसरी **अर्थालंकारयुक्त शैली**। जब लेखक अपनी रचना में अनुप्रास, श्लेष तथा यमक आदि अलंकारों के प्रयोग से विशेष प्रकार का चमत्कार उत्पन्न कर देता है तब हम उस रचना को शब्दालंकार युक्त शैली कहते हैं। ऐसी शैली से पाठकों का मन उस रचना की ओर आकृष्ट हो जाता है। अनुप्रास, यमक आदि में ललित ध्वनि-

लहरियों को उत्पन्न करने की क्षमता होती है। ये ध्वनियाँ अत्यन्त कर्ण-प्रिय होती हैं। जब इन ध्वनियों की योजना प्रसङ्गानुसार होती हैं तभी इनके द्वारा मानव-मानस में ईप्सित रस की निष्पत्ति होती है। कहने का तात्पर्य यह कि शब्दालङ्कार की प्रसङ्गानुसार योजना ही रसानुभूति में सहायक होती है, परन्तु इसका स्थान शैली में सदैव गौण रहता है। अलङ्कार वस्तुतः भाव-प्रकाशन में सुबोध रीति का परिवर्तन मात्र है। इसलिए किसी रचना में शब्दालकार की भरमार कर देने से अलकारों का महत्व तो नष्ट हो ही जाता है, रचना भी अपना चमत्कार खो बैठती है। **अर्थालङ्कार** के प्रयोग में भी इस बात पर ध्यान रखना आवश्यक है। इस सम्बन्ध में लेखक को यह स्मरण रखना चाहिए कि **अर्थालङ्कार युक्त** शैली में भावों का उत्कर्ष दिखाया जाता है। अतएव उसमें केवल शब्दार्थ-क्रीड़ा ही न रहनी चाहिए।

गूढ़ शैली—में उक्ति के सामान्य अर्थ के भीतर लेखक का अभीष्ट अभिप्राय छिपा रहता है। इसका कारण यह है कि लेखक अपनी रचना में शब्दों की लाक्षणिक तथा व्यंग्यात्मक शक्ति से काम लेता है और अपनी बात को सीधे-सादे ढग से न कह कर घुमा-फिरा कर कहता है। जिस शैली का अभिव्यंग शीघ्र समझ में आ जाता है उसे **सरल गूढ़ शैली** कहते हैं परन्तु जिस शैली का अभिव्यंग क्लिष्टसाध्य होता है उसे **क्लिष्ट गूढ़ शैली** कहते हैं।

अब तक हमने भाषा-प्रधान शैली का जो विवेचन किया है उसका तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि कोई शैली नियमों का उल्लङ्घन नहीं कर सकती। प्रतिभाशाली लेखक एक ही रचना में विभिन्न शैलियों का दिग्दर्शन इस प्रकार करा देते हैं कि उनका सौन्दर्य नष्ट नहीं हो पाता। वस्तुतः भाषा शैली का समीचीन विधान वहीं समझना चाहिए जहाँ लेखक किसी विषय पर लेखनी उठाने के पूर्व प्रत्येक परिस्थिति पर विचार कर भाषा की योजना करता है। इस सम्बन्ध में इतना कह देने के पश्चात् अब हम विचार-प्रधान शैली का विवेचन करते हैं।

यह पहले बताया जा चुका है कि विचार-प्रधान शैली में भावों और विचारों को अधिक महत्त्व दिया जाता है। जिस शैली में जैसे विचार रहते हैं उसी के अनुसार विचार-प्रधान **विचार-प्रधान शैली** शैली का स्वरूप स्थिर होता है। विचार-प्रधान रचना में हम प्रायः दो प्रकार के विचारों का समावेश पाते हैं। एक तो व्यक्तिगत विचार, दूसरे किसी विषय से सम्बन्ध रखने वाले विचार। इसलिए हम ऐसी रचना को दो प्रधान भागों में विभाजित करते हैं। इनमें से एक को **व्यक्ति-प्रधान शैली** और दूसरे को **विषय-प्रधान शैली** कहते हैं। यहाँ हम संक्षेप में शैली के इन्हीं दोनों स्वरूपों और उनके उपभेदों का विवेचन करेंगे।

व्यक्ति-प्रधान शैली से तात्पर्य उस शैली से है जिसमें व्यक्तिगत अनुभूति, रुचि, भाव तथा मनोवृत्ति का सजीव चित्रण रहता है। इस दृष्टि से व्यक्ति-प्रधान शैली कई प्रकार की हो सकती **व्यक्ति-प्रधान शैली** है; परन्तु साहित्यकारों ने उसे तीन स्वरूपों में विभाजित किया है। इसका **प्रथम स्वरूप** तो वह शैली है जिसमें लेखक अपनी व्यक्तिगत अनुभूति का स्वयं चित्रण करता है। ऐसी शैली उत्तम पुरुष में होती है। हिन्दी साहित्य में इस शैली का अभी कम विकास हुआ है।

व्यक्ति-प्रधान शैली का **दूसरा स्वरूप** वह शैली है जिसमें लेखक अपनी मनोवृत्तियों को उत्तम पुरुष में चित्रित करते हुए भी हमारे सामने प्रत्यक्ष रूप से नहीं आता। कहानी, काल्पनिक नाटक अथवा उपन्यास में हमें इसी प्रकार की शैली मिलती है। इस प्रकार की रचनाओं में लेखक स्वयं न कहकर अपने हृदय की बात अपने पात्रों से कहलाता है।

व्यक्तिप्रधान शैली का **तीसरा रूप** निबन्धों में दिखायी पड़ता है। जिन निबन्धों में किसी विषय का विवेचन हृदय के संयोग से किया जाता है उनमें व्यक्ति-प्रधान शैली के तीसरे रूप का ही दर्शन होता

है। स्व० आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के बहुत से निबन्ध प्रायः इस तीसरे रूप में ही लिखे गये हैं। आचार्यों ने इस शैली के तीन स्थूल भेद किये हैं। इन स्थूल भेदों में से पहला भेद **रागात्मक शैली** का है। इस प्रकार की शैली में लेखक के भावुक मानस की सुन्दर भावनाएँ कल्पना का सहारा पाकर उत्तेजित हो जाती हैं और उनका प्रवाह अजस्र रूप से नदी की निर्मल धारा के समान चलता रहता है। दूसरे प्रकार की शैली **इन्द्रियानुभवात्मक** शैली है। इस शैली का सम्बन्ध विशेष रूप से मानव की इन्द्रियों से रहता है। मानव की बाह्य इन्द्रियाँ ही उसे ज्ञान प्राप्त करने में सहायता पहुँचाती हैं। अतएव जब लेखक का भावुक हृदय इन बाह्य इन्द्रियों द्वारा प्राप्त किये हुए अनुभव को जनता तक पहुँचाने के लिए चञ्चल हो उठता है तब जिस शैली का जन्म होता है उसे हम **व्यक्तिप्रधान इन्द्रियानुभवात्मक शैली** कहते हैं। **ज्ञानात्मक शैली** व्यक्ति प्रधान शैली का तीसरा स्वरूप है। किसी विषय के विवेचन में इस प्रकार की शैली से काम लिया जाता है। ज्ञानविज्ञान के ऐसे शास्त्रीय विषय, जिनमें हृदय का संयोग कम और मस्तिष्क का अधिक रहता है, इसी शैली में लिखे जाते हैं।

व्यक्ति-प्रधान शैली के भेदों तथा उपभेदों की उपर्युक्त पंक्तियों में जो साधारण विवेचना की गयी है उससे यह भलीभाँति स्पष्ट हो जाता है कि व्यक्तिप्रधान शैली में लेखक के व्यक्तित्व का, उसके निजत्व का अंश अधिक रहता है; परन्तु जब यही व्यक्तित्व विषय-प्रवाह में तिरोहित हो जाता है तब **विषय-प्रधान शैली** की प्रतिष्ठा होती है। इसका यह तात्पर्य नहीं कि विषय-प्रधान रचना में कृतिकार के व्यक्तित्व का अभाव रहता है। कहने का अभिप्राय केवल यह है कि विषय-प्रधान रचना में लेखक छिपा रहता है, खुलकर सामने नहीं आता। ऐसी शैली में ज्ञान विज्ञान-सम्बन्धी आलोचनात्मक विचार-प्रधान तथा कलात्मक लेख लिखे जाते हैं।

विषय-प्रधान शैली

आचार्यों ने विषय-प्रधान शैली के भी तीन भेद किये हैं। उन उपभेदों में से पहला स्वरूप **विषय-प्रधान रागात्मक शैली** का है। जब किसी विषय का निरूपण करने में लेखक की राग वृत्ति का संयोग हो जाता है तब **विषय-प्रधान रागात्मक शैली** का प्रादुर्भाव होता है। देश की दरिद्रता, साहित्य एवं संस्कृति का ह्रास, सामाजिक संस्थाओं का अधःपतन, देशी नरेशों के अत्याचार आदि ऐसे विषय हैं जिन्हें अङ्कित करने में लेखक को हृदय का सहारा लेना ही पड़ता है।

विषय-प्रधान शैली का दूसरा स्वरूप **इन्द्रियानुभवात्मक शैली** है। इस प्रकार की शैली में इन्द्रियानुभूति की झलक रहती है और रागवृत्तियों का अभाव-सा रहता है। लेखक जो कुछ अपनी आँखों से देखता है अथवा कानों से सुनता है उसी का वर्णन सुन्दर भाषा में कर देता है। बस, इसके आगे वह नहीं जाता।

विषय प्रधान शैली का तीसरा स्वरूप **ज्ञानमूलक शैली** है। इस प्रकार की शैली में लेखक विवेकशील होता है। अपने विषय के निरूपण में वह न राग-वृत्तियों का सहारा लेता है और न इन्द्रियजन्य अनुभव का। वह अपने विषय का सैद्धान्तिक विवेचन करता है। ज्ञान-विज्ञान, नीति, आलोचना आदि विषयों में इसी शैली का प्रचलन होता है। अब यहाँ संक्षेप में आलोचनात्मक शैली पर विचार किया जाता है।

जिस शैली में किसी कृतिकार की रचना के गुण-दोषों का विवेचन किया जाता है उस शैली को **आलोचनात्मक शैली** कहते हैं। इस

आलोचनात्मक शैली

शैली के तीन स्वरूप देखने में आते हैं। इन तीनों स्वरूपों में से प्रथम स्वरूप **निर्णयात्मक शैली** का है। इस शैली में किसी विषय की आलोचना शास्त्रीय ढंग से की जाती है। कहने का तात्पर्य यह कि किसी लेखक की रचना की आलोचना करते समय आलोचक केवल लक्षण-ग्रन्थों में निरूपित सिद्धान्तों पर ध्यान रखता है और उन्हीं के प्रकाश में वह रचना के गुण-दोषों के सम्बन्ध में अपना निर्णय देता है। वास्तव

में वह निर्णय आलोचक का नहीं, शास्त्रीय ग्रन्थों का रहता है। आलोचना का यह ढङ्ग अब पुराना समझा जाता है।

आलोचना-शैली का दूसरा स्वरूप **तर्कप्रधान शैली** का है। इस शैली में आलोचक अपनी व्यक्तिगत तर्क-बुद्धि के अनुसार रचना के दोषों अथवा गुणों पर प्रकाश डालता है। ऐसी आलोचना शैली **दोष प्रधान** अथवा **गुणप्रधान** होती है। लेखक के प्रति आलोचक का जैसा व्यवहार रहता है उसीके अनुसार वह उचित अथवा अनुचित ढंग से उसकी रचना परखता है। इस दृष्टि में आलोचक की आलोचना में अहंभाव की प्रधानता रहती है। इसके केवल दो ही कारण हो सकते हैं। पहला कारण आलोचक के ज्ञान का परिमित तथा अपूर्ण होना है और दूसरा कारण उसका लेखक के प्रति ईर्ष्या अथवा पक्षपात है। इन दोनों कारणों में से कोई कारण भी पक्षीय आलोचना का आविर्भाव कर सकता है।

आलोचना शैली का तीसरा स्वरूप **व्याख्या-प्रधान शैली** है। आलोचना की यही आधुनिक शैली है। इस शैली की विशेषता यह है कि आलोचक न तो केवल शास्त्रीय सिद्धान्तों पर चलता है और न अपने मनोरागों पर। वह लेखक की रचना की आत्मा में प्रविष्ट होकर उसकी भावनाओं, कल्पनाओं तथा अनुभूतियों का विश्लेषण करता है। वह लेखक की परिस्थितियों, उसके सामाजिक वातावरण, उसकी रुचि अरुचि, उसके समय, उसकी अध्ययन-प्रणाली तथा उसकी योग्यता का परिचय प्राप्त करता है। वह यह समझने की चेष्टा करता है कि लेखक ने अपने विषय के प्रतिपादन के लिए कहाँ-कहाँ से और किस-किस रूप में सामग्री एकत्र की है। इस प्रकार के अध्ययन से आलोचक को लेखक के हृदय और उसके मस्तिष्क का पूरा परिचय मिल जाता है। इस परिचय के प्रकाश में ही वह लेखक की रचना को अपने मस्तिष्क और अपने हृदय की तुला पर तौल कर गुण-दोष का विवेचन करता है। ऐसी आलोचना-शैली पक्षपात-रहित होती है और उसका

एक-एक शब्द लेखक के प्रति सहानुभूति से भरा रहता है।

शैली तथा उसके भेदों के सम्बन्ध में इतना लिखने के पश्चात् अब कोई बात इतनी महत्त्वपूर्ण नहीं रह जाती जिस पर प्रकाश डालने को कोई आवश्यकता हो। अन्त में इतना कह देना

उपसंहार

अनुचित न होगा कि प्रत्येक लेखक अपनी शैली का स्वयं निर्माता होता है। वह शैली के भेदों तथा उपभेदों को जानता हुआ भी एक ऐसी शैली को जन्म देता है जो सबसे भिन्न होती है। यह लेखक की योग्यता और उसकी भावुकता का परिणाम होता है। वह अपनी कल्पनाओं, भावनाओं और अनुभूतियों के अनुसार स्वयं ऐसी भाषा का अवलम्बन लेता है जिसमें उसकी अन्तर्वृत्तियाँ निखर उठती हैं और उसका एक-एक शब्द यह कहता हुआ सुनाई देता है :—

कहाँ से लायेगा कातिल जुबां मेरी, बयां मेरा।

अध्याय ७

हिन्दी साहित्य में निबन्ध का विकास

प्रत्येक देश में साहित्य का विकास प्रायः वीर गाथाओं से आरम्भ होता है। वीरगाथाएँ पद्यमय होती हैं। उनमें मानव की अधोगामिनी मनोवृत्तियों को परिष्कृत करने की आश्चर्यजनक क्षमता होती है। इसीलिए वीरगाथाएँ सभी देशों की, सभी जातियों की, सभी समाजों की प्राचीनतम साहित्यिक सम्पत्ति हैं और इसीलिए सबसे पहले काव्य को साहित्य में स्थान मिलता है। किन्तु जब समाज संयत, सुव्यवस्थित और सभ्य हो जाता है, जब उसकी आवश्यकताएँ बढ़ जाती हैं, जब उसके ज्ञान का क्षेत्र विस्तृत हो जाता है और जब वह अपने बनाये हुए नियमों से स्वय जकड़ जाता है तब कविता के लिए उसके हृदय में अधिक मोह नहीं रह जाता। इस सम्बन्ध में पाश्चात्य विचारक मैकाले का कहना है कि सभ्यता की वृद्धि होने पर मनुष्य की हार्दिक तथा मानसिक शक्तियों का सामञ्जस्य क्षीण हो जाता है। इसलिए उसमें कविता को सराहने तथा उससे आत्मानन्द प्राप्त करने की क्षमता अपेक्षाकृत दुर्बल हो जाती है। कहने का तात्पर्य यह है कि जब किसी समाज का झुकाव पार्थिव की ओर, ज्ञान-विज्ञान की ओर, प्रकृति का रहस्य जानने की ओर हो जाता है तब साहित्य के एक दूसरे अंग का—पद्य के स्थान पर गद्य का—आविर्भाव होता है।

गद्य का अभ्युदय

इस प्रकार हम देखते हैं कि साहित्य में गद्य की प्रतिष्ठा पद्य की अपेक्षा कुछ विलम्ब से होती है। बात यह है कि सृष्टि के आरम्भ में

गद्य-निर्माण में विलम्ब के कारण

मानव का हृदय-पक्ष प्रबल होता है। उस समय कविता ही उसके सरल एवं भावुक हृदय में अलौकिक आनन्द का सञ्चार करती है, परन्तु जब उसका बौद्धिक विकास होने लगता है तब गद्य के लिए मार्ग खुल जाता है। इस सम्बन्ध में यह बात स्मरण रखने की है कि किसी समाज का बौद्धिक विकास एक-दो दिन में नहीं होता, उसमें सहस्रों वर्ष लग जाते हैं। इतने दिनों तक, मुद्रण कला के अभाव में, देश में होने वाली घटनाओं को कविता ही सुरक्षित रख सकती है। वह स्मृति-सुलभ और अपने प्रारम्भिक स्वरूप में सरल होती है। इसलिए शिक्षित तथा अशिक्षित, दोनों वर्गों, पर समान रूप से अपना प्रभाव डालती है। इसके अतिरिक्त भाषा की शिथिलता एवं असमर्थता भी गद्य-निर्माण में विलम्ब का कारण होती है। प्रायः यह भी देखा जाता है प्रत्येक भाषा का, आदि काल में धार्मिक स्वरूप रहता है। इसलिए ईश्वर तथा देवी-देवताओं की स्तुतियाँ उसी भाषा में लिखी जाती हैं। ऐसी दशा में वह जनता की भाषा न होकर एक सम्प्रदाय-विशेष की भाषा बन जाती है। गद्य के विकास के लिए सर्वमान्य भाषा की आवश्यकता पड़ती है।

ऊपर हमने जिन सामान्य परिस्थियों का वर्णन किया है उनके कारण प्रत्येक देश के साहित्य में गद्य का विकास कुछ विलम्ब से होता है; परन्तु कुछ ऐसी विशेष परिस्थितियाँ भी होती हैं जिनके कारण गद्य-निर्माण में विघ्न उपस्थित हो जाया करते हैं। बात यह है कि प्रत्येक देश की साहित्यिक परिस्थितियाँ भिन्न-भिन्न होती हैं। साहित्य का बहुमुखी विकास इन्हीं परिस्थितियों की अनुकूलता अथवा प्रतिकूलता पर निर्भर करता है। इस दृष्टि से यदि हम विचार करें तो हमें ज्ञात होगा कि हमारे हिन्दी-साहित्य में गद्य का निर्माण उस समय आरम्भ हुआ जब पाश्चात्य देशों में गद्य का स्वरूप अच्छी तरह निश्चित हो चुका था। इसका मुख्य कारण यही है कि भारत की

परिस्थिति गद्य के विकास के लिए अनुकूल नहीं थी।

हम अभी यह बता चुके हैं कि भारतीय साहित्य में गद्य का निर्माण कुछ विलम्ब से हुआ। इसका प्रमुख कारण था समय-समय पर प्रान्तीय भाषाओं का साहित्य में प्रवेश। वीरगाथा काल में रचना का केन्द्र प्रधानतः राजस्थान था। इसमें सन्देह नहीं कि इस काल में कतिपय गद्य-ग्रन्थों की रचना हुई; परन्तु वह सब राजस्थानी भाषा में। इसलिए अन्य प्रान्तों में उनका प्रचार न हो सका। भक्तिकाल में रचना का केन्द्र राजस्थान से हटकर ब्रज में चला आया। इसलिए ब्रजभाषा का बोल-बाला हो गया। इस काल में भी कई गद्य-ग्रन्थों का रचना हुई, परन्तु वे केवल भक्तों की सम्पत्ति ही बन सके। रीतिकाल में ब्रजभाषा समस्त उत्तरी भारत की काव्य-भाषा हो गयी, परन्तु प्रान्तीय भाषा होने के कारण गद्य में उसे किसी ने स्वीकार नहीं किया। कहने का तात्पर्य यह कि इन तीनों कालों में जिन प्रान्तीय भाषाओं ने काव्य की भाषा का स्वरूप निश्चित किया उनसे गद्य की भाषा का स्वरूप निश्चित करने में कोई सहायता नहीं मिली।

हिन्दी गद्य-निर्माण में बाधाएँ

दूसरा कारण—था भारतीय प्रजा में राष्ट्रीय भावना का अभाव। किसी देश में राष्ट्रीय भावना जाग्रत होने पर सर्वमुखी उन्नति होती है। पाश्चात्य देशों में इसी भावना ने प्रजा को एक पोशाक दी, एक धर्म दिया, एक भाषा दी, एक साहित्य दिया, एक शासनव्यवस्था दी परन्तु भारत में धार्मिक तथा जातीय मत-भेदों और नरेशों के व्यक्तिगत झगड़ों के कारण जनता को राष्ट्रीयता का महत्त्व समझने का अवसर ही न मिला।

तीसरा कारण था, भारतीय जनसमूह की साहित्य के प्रति उदासीनता। हम बता चुके हैं कि भारत की हिन्दू जनता को देश की अपेक्षा अपना धर्म अधिक प्रिय था। इसलिए साहित्य के अध्ययन में भी उसका दृष्टिकोण धार्मिक ही रहता था। साहित्य की अभिवृद्धि की

ओर उसकी विशेष रुचि नहीं थी। धार्मिक ग्रन्थ पढ़ने के लिए ही वह भाषा का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक समझती थी। रूढ़िवादी होने के कारण वह साहित्य की शास्त्रीय परिभाषा में किसी प्रकार का परिवर्तन करना भी पसन्द नहीं करती थी। वह समझती थी कि काव्य ही साहित्य है, गद्य साहित्य का अंग नहीं है। इसलिए उसे गद्य के विकास की चिन्ता भी नहीं थी।

कारण था, सम्पूर्ण भारत का कई छोटे-बड़े राज्यों में विभाजन। इस विभाजन के कारण किसी प्रान्तीय भाषा को यह गौरव प्राप्त न हो सका कि वह देश के एक छोर से दूसरे छोर तक समझी जा सकती। कहा जाता है कि प्रत्येक देश में राज-भाषा की प्रधानता रहती है, परन्तु भारत में अशोक के अतिरिक्त किसी नरेश ने इस ओर ध्यान नहीं दिया। उसके समय में पाली का इसीलिए प्रचार हुआ कि वह राज-भाषा मान ली गयी थी। धार्मिक उपदेश तथा सरकारी पत्र-व्यवहार इसी भाषा में होते थे। अशोक की मृत्यु के पश्चात् यवनों के आक्रमणों से यहाँ का राजनीतिक तथा सामाजिक वातावरण इतना दूषित हो गया कि सब को अपनी जान के लाले पड़ गये। ऐसी दशा में अपने कष्ट-निवारण के लिए असहाय हिन्दू प्रजा ने ईश्वर का सहारा लिया। इसका फल यह हुआ कि उनकी उपासना के दो क्षेत्र, निर्गुण तथा सगुण, स्थापित हो गये। कबीर ने निर्गुणवाद का प्रचार किया और सूर तथा तुलसी ने सगुणोपासना की ओर जनता को अग्रसर किया। इन दोनों वादों के प्रतिपादन में जो साहित्य तैयार हुआ वह भी काव्यमय था। गद्य इस समय भी पीछे रह गया।

हम अभी बता चुके हैं कि यवनों के आगमन से गद्य की अपेक्षा पद्य को ही अधिक प्रोत्साहन मिला, परन्तु इसके साथ ही हमें यह भी

हिन्दी गद्य-निर्माण में विदेशी शासकों का योग

मानना पड़ेगा कि राज दरबार के मुसलमानी दरबारियों तथा विद्वानों द्वारा भविष्य में गद्य प्रचार होने की समुचित सामग्री प्रस्तुत हो गयी। बात यह थी

कि मुसलमान अपने सभी सरकारी कार्यों में फ़ारसी भाषा को स्थान देते थे। इसलिए एक छोर से दूसरे छोर तक फ़ारसी भाषा का प्रचार बढ़ रहा था और मुसलमानों के साथ हिन्दू भी इसी भाषा को अपना रहे थे। ऐसी दशा में हिन्दू मुसलमानों के मेल-जोल से एक ऐसी भाषा जन्म ले रही थी जिसमें प्रान्तीय भाषा के शब्दों के साथ फ़ारसी के तत्सम तथा तद्भव शब्द प्रयुक्त हो रहे थे। अकबर की लोक-प्रियता ने इस नयी भाषा को और भी प्रोत्साहित किया। उसके समय में समस्त भारत राजनीतिक दृष्टि से एकता के सूत्र में बँध गया था। इसलिए प्रत्येक प्रान्तीय भाषा पर फ़ारसी का प्रभाव पड़ने से बोल-चाल की भाषा में साम्य आने लगा। ऐसे समय, मेरठ के आस-पास की भाषा ने सिर उठाया। अन्य प्रान्तीय भाषाओं की अपेक्षा इस भाषा की लोक-प्रियता इतनी बढ़ी कि सम्पूर्ण उत्तरी भारत में वह शिक्षित हिन्दू तथा मुसलमानों की सांवादिक भाषा बन गयी। मुसलमान इसी भाषा को उर्दू कहने लगे। इस प्रकार हिन्दी का मुसलमानी नाम उर्दू हो गया। वह फ़ारसी लिपि में लिखी जाने लगी। औरङ्गजेब के समय में जब मरहठों तथा सिक्खों-द्वारा हिन्दू धर्म का पुनरुत्थान हुआ तब हिन्दुओं ने अपने साहित्य की ओर भी ध्यान दिया। उन्होंने उसी भाषा को देवनागरी लिपि में अपनाया और उसे वह रूप दिया जिसे हम खड़ी बोली कहते हैं। मुग़ल साम्राज्य का अन्त होने पर जब भारत में अँगरेजी राज्य का आविर्भाव हुआ तब इसी खड़ी बोली में शिक्षा के लिए पाठ्य पुस्तकों की रचना हुई। इन पाठ्य पुस्तकों-द्वारा हिन्दी गद्य-निर्माण का द्वार खुल गया।

अँगरेजी साहित्य का प्रभाव

अंगरेज भारत में व्यापार करने के लिए आये थे, परन्तु यहाँ की राजनीतिक परिस्थिति देखकर उन्होंने साम्राज्य स्थापित करने का विचार कर लिया। वे मुसलमानों की अपेक्षा अधिक बुद्धिमान और नीति-निपुण थे। इसलिए बात की बात में उन्होंने समस्त भारत पर अपना आधिपत्य जमा

लिया। एक समय था जब दुर्बल भारत को यवन सभ्यता से लोहा लेना पड़ा था। अँगरेज़ों के आगमन से पुनः वही परिस्थिति उत्पन्न हो गयी। यह परिस्थिति पूर्व की अपेक्षा अधिक भयंकर थी। यवनों ने तलवार के बल पर जिस शासन-सत्ता की स्थापना की, अँगरेज़ों ने उसी शासन सत्ता को अपने धर्म और सभ्यता की चमक-दमक से स्थापित किया। भोली-भाली जनता, जो दीर्घ काल के अशान्त वातावरण में साँस लेती चली आ रही थी, शान्त वातावरण में, विदेशी प्रकाश देखकर, परवाने की भाँति उस पर टूट पड़ी। इस प्रकार हिन्दू तथा मुसलमान जनता ने अपने धर्म और अपनी सभ्यता को अपने ही हाथों लुटा दिया। यह मेकाले की सूझ का परिणाम था। उस अँगरेज़ी सत्ता की दृढ़ स्थापना करने के लिए भारतीय संस्कृति, भारतीय सभ्यता, भारतीय इतिहास तथा भारतीय साहित्य के प्रति लोगों में अश्रद्धा उत्पन्न की और अँगरेजी माध्यम-द्वारा बालकों को शिक्षा देकर सरकारी दफ्तरों में क्लर्क बनाने की एक योजना तैयार की। इस प्रकार भारत में अंगरेजी राज्य की स्थापना होते ही अँगरेज़ी भाषा का, अँगरेज़ी संस्कृति का, अङ्गरेज़ी रहन-सहन का और अँगरेज़ी शिक्षा का कार्य बड़े वेग से चल पड़ा।

अँगरेज़ सुसभ्य, शिक्षित, सभ्य तथा व्यवहार-कुशल थे। उनके पहनावे में मनमोहकता थी, उनकी भाषा में अद्भुत आकर्षण था, उनकी चाल-ढाल में जादू था। ऐसी दशा में पाश्चात्य मस्तिष्क में विचारों का आदान-प्रदान होना स्वाभाविक था। इसका फल यह हुआ कि अङ्गरेज़ी साहित्य ने, अङ्गरेज़ी आचार-विचार में भारतीयों को अपनी ओर आकर्षित कर लिया। कालान्तर में पद-दलित समाज के मस्तिष्क में नयी-नयी आशाएँ तथा नयी-नयी कल्पनाएँ उद्भूत हुईं। कवियों और लेखकों की लेखनी को उनसे उत्तेजना मिली। उन्होंने अङ्गरेज़ी साहित्य के अनुकरण पर अपने साहित्य के विभिन्न अङ्गों की पूर्ति करना आरम्भ कर दिया।

उस समय हिन्दी का स्वरूप अनिश्चित था। उस पर प्रान्तीय

भाषाओं का इतना प्रभाव था कि विभिन्न प्रान्तों के दो लेखकों की भाषा-शैली में महान अन्तर पाया जाता था। इसके अतिरिक्त व्याकरण की भी उसमें अशुद्धियाँ थीं। इतनी कठिनाई होते हुए

निबन्ध का जन्म भी अँगरेज़ी साहित्य की सामयिक वर्षा से हिन्दी साहित्य की सूखी खेती लहलहा उठी। उसमें कहानी, उपन्यास, नाटक तथा जीवनचरित आदि की रचना होने लगी। ऐसे समय अँगरेज़ी भाषा के भारतीय विद्वानों का ध्यान अपनी मातृ-भाषा की ओर गया। उन्होंने एक ओर भाषा का संस्कार किया और दूसरी ओर उसके साहित्य की अभिवृद्धि की प्राणपण से चेष्टा की। पाश्चात्य देशों के कतिपय विद्वानों ने भी इस कार्य में योग देकर अपनी सुरुचि का परिचय दिया। उन्होंने भाषा की छान-बीन की; प्राचीन ग्रन्थों का पता लगाया और उनपर अँग्रेजी भाषा में अपना मत प्रकट किया। पाश्चात्य विद्वानों के ऐसे लेखों का अच्छा प्रभाव पड़ा। इसी अवसर पर मुद्रण-यन्त्र के आविष्कार ने सोने में सुगन्ध का काम किया। जो पुस्तकें हस्तलिखित और अब तक थोड़े ही विद्वानों की सम्पत्ति थीं, प्रकाशित होकर हिन्दी प्रेमी जनता तक पहुँच गयीं। अँगरेजी समाचारपत्रों के ढंग पर हिन्दी में समाचारपत्र भी निकलने लगे। उन समाचारपत्रों में छोटे छोटे लेखों-द्वारा तत्कालीन हिन्दी लेखकों ने अपना विचार प्रकट करना आरम्भ कर दिया। पाठ्यपुस्तकों में साधारण तथा रोचक विषयों पर छोटे छोटे लेख भी लिखे जाने लगे। इस प्रकार हिन्दी गद्य साहित्य में निबन्ध लिखने का सूत्रपात हुआ।

इसमें सन्देह नहीं कि उस समय निबन्ध हिन्दी साहित्यिकों के लिए एक नया विषय था। उन्होंने कविता की थी, कहानियाँ लिखी थीं, उपन्यास लिखे थे, नाटक की रचना की थी,

निबन्ध का विकास परन्तु निबन्ध लिखने का उन्हें साधारण ज्ञान भी नहीं था। इसलिए उस समय निबन्ध का जैसा विकास होना चाहिए था, न हो सका। सम्भव है, भाषा की शिथिलता और

उसकी असमर्थता भी निबन्ध के विकास में बाधक रही हो। जो भी हो, परन्तु यह तो मानना ही पड़ेगा कि उस समय पाठ्य पुस्तकों तथा समाचारपत्रों में हिन्दी निबन्ध साहित्य की नींव पड़ी थी। इसी नींव के बल पर कालान्तर में निबन्ध-साहित्य का विकास हुआ।

उस समय अँगरेज़ी साहित्य में निबन्धों पर विशेष रूप से ध्यान दिया जा रहा था। उसमें लार्ड बेकन ने निबन्धों का सूत्रपात किया। उसने अपने निबन्धों में अपनी स्वतन्त्र कल्पना शैली का सहारा लिया और उनमें क्लिष्टता, संक्षिप्तता, आकर्षण आदि को स्थान दिया। बेकन के निबन्ध प्रायः विचार-प्रधान होते थे। टेम्पल के निबन्धों में विषय-वस्तु के विकास के साथ उसकी मनोहर शैली भी विकसित होती चलती थी। ओवरबरी, अरली आदि लेखकों ने स्वतन्त्र निरीक्षण-पद्धति पर वर्णनात्मक निबन्ध लिखने का सूत्रपात किया। इस प्रकार विचारात्मक तथा वर्णनात्मक निबन्ध लिखने का क्रम चल पड़ा। उन्नीसवीं शताब्दी में मेकाले के व्याख्यात्मक, कार्लाइल के आलोचनात्मक, तथा स्टीवेन्सन के भावात्मक निबन्धों की इतनी धूम मची कि उसके प्रभाव से हिन्दी-साहित्य भी अछूता न रहा।

हिन्दी साहित्य में सर्व-प्रथम भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने निबन्ध-रचना की ओर ध्यान दिया। उन्होंने भावात्मक निबन्ध लिखना आरम्भ किया। तब से लेकर अबतक अँगरेज़ी साहित्य के अनुकरण पर, हिन्दी साहित्य में निबन्धों का अच्छा विकास हुआ है। हम अपने अध्ययन की सुविधा के लिए सम्पूर्ण काल को निम्नांकित तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं। इस विभाजन का तात्पर्य यह नहीं है कि एक विशेष युग में निबन्ध-साहित्य के एक विशेष अंग की अथवा एक शैली की पुष्टि हुई। वास्तव में यह विभाजन निबन्ध के विकासक्रम को ध्यान में रखकर किया गया है।

[१] भारतेन्दु युग—यह युग हिन्दी निबन्ध का उत्पत्ति काल था। इस समय देश शिक्षा की ओर द्रुत गति से अग्रसर हो रहा था। इसलिए

शिक्षित वर्ग की साहित्य के प्रति परिवर्द्धित अभिरुचि देखकर भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने साहित्य की सेवा का व्रत लिया। उनकी प्रतिभा का विकास बहुमुखी था। उन्होंने भाषा का संस्कार किया और साहित्य का रूप सँवारा। इससे जन साधारण की रुचि हिन्दी की ओर आकृष्ट हुई। राजनीतिक विप्लव के पश्चात् देश में सामयिक सामाजिक परिवर्तन के प्रभाव से भाषा, भाव तथा रुचि में जो विपर्यय हुआ उसका श्रेय उन्हीं की प्रगतिशील लेखनी को प्राप्त है। उन्होंने कविता की, नाटक लिखे और गद्य-साहित्य का निर्माण किया। सबसे पहले उन्होंने निबन्ध-रचना की ओर ध्यान दिया। राजा शिवप्रसाद सितारेहिंद तथा राजा लक्ष्मणसिंह उन्हीं के समकालीन थे। इनके अतिरिक्त पं० बालकृष्ण भट्ट, पं० प्रताप नारायण मिश्र, पं० बदरीनारायण चौधरी, 'प्रेमघन' तथा पं० अम्बिकादत्त व्यास भी इसी युग के निबन्धकार तथा कवि थे। पं० बालकृष्ण के निबन्धों की भाषा में उर्दू तथा फारसी शब्दों की भरमार है। उन्होंने अनेक स्थलों पर अपने भाव-प्रकाशन में अंग्रेजी शब्दों का भी स्वतंत्रतापूर्वक व्यवहार किया है। उन्होंने आँख, कान, नाक, बातचीत पर भी निबन्ध लिखे हैं और कल्पना, आत्म-निर्भरता आदि गम्भीर विषयों पर भी अपनी लेखनी का चमत्कार दिखाया है। पं० प्रतापनारायण मिश्र की शैली विनोद, कटूक्तियों और कहावतों की वशवर्तिनी है। उसमें भारतेन्दु जी की शिष्टता और नागरिकता नहीं पायी जाती। उस पर उनके व्यक्तित्व की छाप अवश्य है। मरे को मारै, शाह मदार, इसे रोना समझो चाहे गाना, धोखा आदि उनके निबन्धों के शीर्षक हैं। उन्होंने शिवमूर्ति, स्वार्थ, काल आदि गम्भीर विषयों पर भी अच्छे निबन्ध लिखे हैं। पं० बदरी नारायण 'प्रेमघन' तथा पं० अम्बिकादत्त व्यास के निबन्धों में विचारों का प्राधान्य है। 'प्रेमघन' के निबन्धों की भाषा में कहीं-कहीं उर्दू के शब्द पाये जाते हैं। उनकी वाक्य-योजना लम्बी, संस्कृति के संधिज शब्दों से भरी है। इसीलिए उनकी शैली में प्रवाह का अभाव

है। व्यास जी की भाषा साधारण थी। उनके विचार-प्रधान साहित्यिक निबन्धों में धैर्य, क्षमा, ग्राम-वास और नगर-वास आते हैं।

[२] द्विवेदी युग—यह युग निबन्धों का परिमार्जन काल था। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने जिस भाषा को हिन्दी गद्य-साहित्य में स्थान दिया, पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने उसे व्याकरण और कला की खरादी से तराश कर आकर्षक बना दिया। इसीलिए वह नवीन युग के अग्रदूत माने जाते हैं। हिन्दी-साहित्य में उनकी सेवाएँ महान हैं। उन्होंने अपने परिश्रम से तत्कालीन भाषा की अपङ्गता, स्थूलता, और शिथिलता का परिहार किया, लिखने-योग्य विषयों का विस्तार किया और अपनी विभिन्न शैलियों-द्वारा अनेक लेखकों की शैलियों का सृजन का तथा परिमार्जन किया। वह स्वयं अच्छे लेखक थे। संस्कृत के अतिरिक्त कई भाषाओं का उन्हें अच्छा ज्ञान था। प्रयाग से 'सरस्वती का सम्पादन करते हुए उन्होंने हिन्दी-साहित्य को कई सम्पादकों और लेखकों का दान दिया। गणेशशंकर विद्यार्थी, मैथिलीशरण गुप्त, तथा अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' हिन्दी साहित्य को उन्हीं की देन हैं। इन सेवाओं के अतिरिक्त उन्होंने अपनी लेखनी से साहित्य के भंडार का जितना विस्तार किया उसे देखकर आश्चर्य होता है उनकी रचनाओं के अध्ययन से पता चलता है कि उनकी प्रतिभा बहुमुखी थी। भाषा पर उनका पूरा अधिकार था। वह जो कुछ लिखते थे उसे पाठक के हृदय तक उतार देते थे। वह जितने महान् निर्माता थे उतने ही भीषण प्रहारक भी थे। आलोचना साहित्य को पहले पहल उन्हीं ने जन्म दिया था। वह कवि थे, आलोचक थे, निबन्धकार थे। वह एक नहीं, कई थे। उनकी अभिव्यञ्जना-प्रणाली सरल, सुबोध और प्राञ्जल थी; उनकी शैली में सञ्जीवन-शक्ति थी, उनके भावों में चुटीलापन था, उनकी कल्पनाओं में सहज उड़ान थी, उनकी अनुभूतियों में जीवन की सरसता थी। वह अपने युग के आचार्य और निर्माता थे। उन्होंने एक-दो नहीं सैकड़ों निबन्ध

लिखे। उन निबन्धों में 'मिल' की दार्शनिकता, कारलाइल की साहित्यिकता और बर्नर्ड शा का तेज है। उनके युग में प० गोविन्द-नारायण मिश्र तथा श्री बालमुकुन्द गुप्त भी निबन्धकार थे, परन्तु उनके टक्कर के न थे। पं० गोविन्दनारायण मिश्र के निबन्ध विचार-प्रधान होते थे। अपने निबन्धों में उन्होंने दो प्रकार की शैलियों का प्रयोग किया है। काव्यात्मक निबन्धों में उनकी शैली समास-प्रधान, क्लिष्ट और अनुप्रासयुक्त है। अन्य निबन्धों में सरल शैली का अनुसरण किया गया है। श्री बालमुकुन्द गुप्त आरम्भ में उर्दू के लेखक थे। इसलिए उनकी शैली पर उर्दू साहित्य की पूरी छाप स्पष्ट रूप से दिखायी देती है। 'शिवशम्भु का चिट्ठा' उनके निबन्धों का संग्रह है। इन निबन्धों में हास्य और व्यंग का अत्यन्त सुन्दर सामञ्जस्य हुआ है। उनके वस्तुओं और प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन में स्वाभाविकता है। पं० माधवप्रसाद मिश्र के निबन्धों में भावों की प्रधानता है। उनकी भाषा में संस्कृत के तत्सम शब्दों का बाहुल्य है। उनके वाक्य-विन्यास सुलझे हुए और शुद्ध हैं। उनकी शैली में प्रवाह है, आवेश है, तारतम्य है। उनकी भाषा में नाटक के गुण हैं।

[२] वर्तमान युग—यह युग निबन्धों का उत्थान-काल है। इस काल में निबन्ध साहित्य ने पूर्णता प्राप्त कर ली है। हृदय-पक्ष और काल-पक्ष दोनों का इसमें समावेश हो गया है। विषय और शैली की अनेकरूपता भी इसमें मिलती है। इस काल में सर्वश्री पूर्णसिंह, पद्म-सिंह, रामचन्द्र शुक्ल, श्यामसुन्दर दास, जयशंकर प्रसाद, वियोगी हरि गुलाब राय, हजारीप्रसाद द्विवेदी, राय कृष्णदास, रामनाथ सुमन, महादेवीशर्मा, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी तथा जैनेन्द्र अच्छे निबन्ध-कार हैं। इन निबन्धकारों में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का स्थान सर्व-श्रेष्ठ है। उनके निबन्धों में मानसिक विश्लेषण अधिक पाया जाता है। उनकी शैली पर उनके व्यक्तित्व की छाप है। उन्होंने संस्कृत प्रधान शब्दावली में दूसरी भाषाओं के चलते शब्दों और मुहाविरों को

अपनाकर कसी हुई भाषा में चुस्त भाव प्रकट किये हैं। इसलिए उनके निबन्धों में मर्म का चुटीलापन है, राग का वेग है, मनोवृत्तियों का विश्लेषण है, कथन का सुलझाव है, चिन्तन की नयी धारा है और प्रतिपादन-प्रणाली में नया तर्क है। उनके दार्शनिक निबन्ध तो हिन्दी साहित्य की अनुपम निधि हैं। सूर, तुलसी और जायसी की जैसी विशद आलोचना उन्होंने की है उससे उनके पाण्डित्य तथा गम्भीर अध्ययन का पता चलता है। चिंतामणि उनके निबन्धों का संग्रह है। पं० पद्मसिंह शर्मा के निबन्धों में भाषा का सौष्ठव, विचारों की मार्मिक व्यञ्जना तथा भावों की संवेदनशीलता है। भावात्मक निबन्धों की रचना में सरदार पूर्णसिंह का विशेष योग है। उनके शब्द और मुहाविरे मँजे हुए होते हैं। भाषा में अपूर्व गम्भीरता के साथ भाषा का लाक्षणिक प्रयोग उनकी विशेष देन है। बाबू श्यामसुन्दर दास की शैली में गम्भीरता तथा रूक्षता है। उसमें हृदय की चुहल नहीं है। इसका कारण यह है कि उनकी शैली में प्रयत्न की मात्रा अधिक है। इसीलिए वह बोझीली भी हो गयी है। उनके निबन्ध 'निबन्धावली' नाम से प्रकाशित हुए हैं। बाबू जयशंकर प्रसाद के निबन्धों की शैली संस्कृत शब्दों से विभूषित होने पर भी प्रवाहपूर्ण है। उनके छोटे वाक्यों में भावों की विशदता है और रचना का चमत्कार है। उनकी शैली, उनके विषय, उनकी विचारधारा साधारण पाठकों के लिए नहीं हैं। श्री वियोगी हरि के निबन्धों में हृदय का राग और भावों की सरसता है। श्री गुलाब राय के निबन्धों का एक संग्रह 'मेरे जीवन की असफलताएँ' नाम से प्रकाशित हो चुका है। इन निबन्धों में शैली की उठान कलापूर्ण है। श्रीहजारीप्रसाद द्विवेदी के विचारात्मक तथा आलोचनात्मक निबन्धों में मानसिक तत्त्व की प्रधानता रहती है। उनकी शैली में प्रवाह और विचारों का तारतम्य है। रायकृष्ण दास के निबन्धों में तत्सम और तद्भव शब्दावली-द्वारा व्यावहारिक एवं बोधगम्य शैली में भाव और भाषा का अनुपम संयोग हुआ है। श्रीमती महादेवी वर्मा निबन्ध लिखने में संस्कृत शब्दों का

प्रयोग करती हैं। उनकी भाषा में प्रवाह और सरसता है। उनके निबन्धों में अनुभूति का अंश अधिक है। 'शृंखला की कड़ियाँ' उनके निबन्धों का एक संग्रह है। श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी के निबन्धों में अध्ययन की सामग्री है। इसलिए वह मनन और गम्भीर साहित्य की वस्तु हैं। उन्होंने साहित्य, इतिहास तथा दर्शन पर जो निबन्ध लिखे हैं उनमें भाषा का सौष्ठव तो है ही, उन पर उनके गम्भीर अध्ययन की छाप भी है। श्री जैनेन्द्र की भाषा स्वाभाविक है। उनमें हृदय का रस और विचारों की तरंग है। उनके विषय गम्भीर हैं, परन्तु उनके प्रतिपादन का ढङ्ग सरल है। इन निबन्धकारों के अतिरिक्त रामदास गौड़, सियारामशरण गुप्त, सम्पूर्णानन्द तथा रघुवीर सिंह के निबन्धों में भी भाव और भाषा का सुन्दर सामञ्जस्य हुआ है। हरिभाऊ उपाध्याय ने समाज-विज्ञान-सम्बन्धी कुछ बहुत सुन्दर निबन्ध लिखे हैं। किशोरलाल मश्रुवाला तथा काका कालेलकर के निबन्ध हिन्दी में अपना विशेष स्थान रखते हैं। इनमें विचारों की गम्भीरता के साथ तत्ववेत्ता की दृष्टि भी है। कहने का तात्पर्य यह कि वर्तमान युग में निबन्ध-साहित्य ने बहुत थोड़े समय में अच्छी सफलता प्राप्त की है।

ऊपर की पंक्तियों में निबन्ध-साहित्य के विकास की जो रूपरेखा अङ्कित की गयी है उससे उसका भविष्य उज्ज्वल प्रतीत होता है।

निबन्ध-साहित्य का भविष्य

निबन्ध के विषयों का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत एवं विशाल है। हिन्दी-साहित्य में अभी उन समस्त विषयों को स्थान नहीं मिला है जिनके कारण निबन्ध साहित्य उन्नत समझा जाता है। स्कूल कालेज तथा विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों के अतिरिक्त साधारण जनता में निबन्ध पढ़ने की अभिरुचि भी नहीं है। अतएव आवश्यकता है ऐसे विचारकों और निबन्ध-लेखकों की जो जन साधारण की समस्याओं पर निबन्ध लिखकर निबन्ध-साहित्य को लोक-प्रिय बना सकें। लेखक पैदा भी होते हैं और बनाये भी जाते

हैं। यदि हमारी साहित्य समितियाँ इस ओर ध्यान दें तो अच्छे निबन्ध-लेखकों की कमी नहीं हो सकती। निबन्ध साहित्य की उन्नति के लिए प्रतियोगिता कराई जा सकती है। और उत्कृष्ट निबन्धकार को पुरस्कृत किया जा सकता है। इस प्रकार की योजना कार्यान्वित करने से अच्छे निबन्ध-लेखक मिल सकते हैं और उनका जनता में प्रचार हो सकता है। निबन्ध-साहित्य की उन्नति रेडियो-द्वारा भी हो सकती है। इस समय भारत में रेडियो का अच्छा प्रचार हो रहा है। उसके दैनिक कार्य-विवरण में कभी-कभी निबन्ध भी रख दिये जाते हैं। वह साहित्य के प्रचार की दृष्टि से अच्छा है, परन्तु उसे और भी अधिक स्थान मिलना चाहिए। स्कूल, कालेज तथा विश्वविद्यालयों में भी विद्यार्थियों का ध्यान इस ओर आकर्षित करना चाहिए। हमारा विश्वास है कि यदि निबन्ध-साहित्य की अभिवृद्धि के लिए इस प्रकार की कोई योजना तैयार की जाय तो वह दिन शीघ्र आ सकता है जब हिन्दी-साहित्य को भी वह गौरव प्राप्त होगा जो आज अँग्रेजी साहित्य को उसके निबन्धों के कारण प्राप्त है।

द्वितीय खण्ड

निबन्ध रचना-विधान

अध्याय ८

शब्द-विचार

मानव मननशील है। सोचना, मनन करना, विचार करना उसका स्वाभाविक गुण है। भाषा उसके इन्हीं मानसिक व्यापारों का भौतिक रूप है। भाव-विनिमय तथा अभिप्राय-प्रकाशन के लिए वह किसी-न-किसी भाषा का, ध्वनि-समूहों का एवं ध्वनिसमूहों की सांकेतिक प्रतिनिधि-लिपियों का ही आश्रय लेता है। बिना भाषा के न तो वह सोच सकता है और न विचार-विनिमय ही कर सकता है। अब प्रश्न यह है कि उसकी अभिव्यक्ति का चरमावयव क्या है ? इस सम्बन्ध में भाषा-विज्ञान के पण्डितों का कहना है कि उसके चिन्तन का जो स्वतंत्र चरमावयव है उसे **विचार** कहते हैं। भाषा-द्वारा प्रकट किये गये इस विचार को ही वैयाकरण **वाक्य** की संज्ञा देते हैं। कहने का तात्पर्य यह कि मानव के चिन्तन का आरम्भ वाक्य से ही होता है। वह वाक्यों में ही सोचता, मनन करता है। इसलिए वाक्य ही भाषा की अवयुति है।

भाषा की अवयुति

परन्तु मानव विश्लेषणप्रिय भी है। इसमें सन्देह नहीं कि किसी भी पूर्ण भाव की अभिव्यक्ति वाक्य से ही होती है और पूर्ण वाक्यों-द्वारा ही एक मन की भाव-समष्टि दूसरे से चालित होती है, तथापि अपनी सुविधा के लिए विश्लेषण-प्रिय मानव ने वाक्य के अवयवों की, ध्वनि, प्रकृति, प्रत्यय, पद आदि की कल्पना कर ली है। इन कल्पित अवयवों के आधार पर बालकों को भाषा का ज्ञान कराने में सरलता होती है।

शब्द और वाक्य

हम यह बता चुके हैं कि भाषा ध्वनियों की अर्थ-युक्त समष्टि है।

ध्वनियाँ विभिन्न प्रकार की होती हैं। विभिन्न प्रकार की ध्वनियों के संयोग से शब्द बनते हैं। इन्हीं अर्थयुक्त शब्दों का—ध्वनि के प्रतीकों का—वाक्यों में प्रयोग होता है। इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि शब्द के अर्थ का प्रकाशन वाक्य में ही होता है। वाक्य के असम्बद्ध शब्दों की स्थिति शब्दकोष में पाई जाती है। भिन्न-भिन्न शब्दों का वाक्यों के साथ वही सम्बन्ध है जैसा वर्णों तथा अक्षरों का शब्द के साथ है। हम एक शब्द का अनेक वर्णों में उसी प्रकार विश्लेषण करते हैं जिस प्रकार एक वाक्य का भिन्न-भिन्न शब्दों में। इसी सिद्धान्त के आधार पर यह कहा जाता है कि प्रत्येक सार्थक स्वतन्त्र शब्द का आरम्भ वाक्यों से हुआ है। इस प्रकार व्यवहार की दृष्टि से शब्द भाषा का चरमावयव है।

शब्द और शब्दांश

अभी यह बताया गया है कि भाषा सार्थक ध्वनियों की समष्टि है। उसमें कुछ ध्वनियाँ तो स्वतन्त्र रूप से सार्थक होती हैं और कुछ ध्वनियाँ ऐसी होती हैं जो स्वयं तो सार्थक नहीं होतीं परन्तु जब प्रकृत शब्दों के साथ उनका संयोग हो जाता है तब वे सार्थक हो जाती हैं। ऐसी परतंत्र ध्वनियों को शब्दांश कहते हैं। ता, पन, वाला आदि शब्दांश हैं। ऐसे शब्दांश जब किसी मूल शब्द के पहले जोड़े जाते हैं तब उन्हें **उपसर्ग** और जब पीछे जोड़े जाते हैं तब उन्हें **प्रत्यय** कहते हैं। 'असफलता' शब्द में 'अ' उपसर्ग और 'ता' प्रत्यय है। अतएव 'अ' और 'ता' शब्द नहीं, वरन् शब्दांश हैं।

शब्द और पद

शब्दांश के प्रयोग से मूल शब्द के रूप में विकार उत्पन्न हो जाता है। यह तो ऊपर की पंक्तियों में स्पष्ट कर दिया गया है कि प्रत्यय एक प्रकार का शब्दांश है जो मूल शब्द के अन्त में जोड़ा जाता है। जिन प्रत्ययों के पश्चात् दूसरे प्रत्यय नहीं लगते उन्हें **चरम प्रत्यय** कहते हैं। उदाहरण के लिए 'सरलता से' ले लीजिये। इसमें मूल शब्द सरल के साथ 'ता'

और 'से' दो प्रत्यय लगे हैं। 'ता' प्रत्यय के पश्चात् 'से' प्रत्यय आया है। अतएव 'से' चरम प्रत्यय है। इस प्रत्यय के पश्चात् दूसरा प्रत्यय नहीं लग सकता। इस प्रकार चरम प्रत्यय लगने से मूल शब्द का जो रूपान्तर होता है उसे पद कहते हैं। शब्द और पद में यही अन्तर है और व्याकरण की दृष्टि से इस अन्तर का अत्यधिक महत्व है।

अब हमें शब्द और वाक्यांश का अन्तर भी समझ लेना चाहिए। हम यह तो जानते ही हैं कि वाक्य एक ऐसा शब्द-समूह होता है जिससे वक्ता अथवा लेखक का एक पूर्ण विचार व्यक्त हो **शब्द और वाक्यांश** जाता है; परन्तु परस्पर सम्बन्ध रखनेवाले ऐसे दो अथवा अधिक शब्दों के समूह को, जिसमें पूरी बात समझ में नहीं आती, वाक्यांश कहते हैं। 'नदी में बाढ़ आने के कारण चारों ओर पानी ही पानी दिखाई देता था', एक वाक्य है। इसमें पूरी बात समझ में आ जाती है; परन्तु केवल 'पानी ही पानी' कहने से पूरी बात समझ में नहीं आती है। इसलिए 'पानी ही पानी' वाक्यांश है। 'चबा-चबाकर खाना स्वास्थ्य के लिए अच्छा है' एक वाक्य है, इसमें 'चबा-चबाकर खाना' वाक्यांश है।

ऊपर की पंक्तियों में वाक्यांश, पद, शब्द तथा शब्दांश से यह भलीभाँति समझ में आ जाता है कि शब्द क्या है। हिन्दी में 'शब्द' का अर्थ बहुत ही सन्दिग्ध है। यदि शब्द के श्रोतव्य रूप को दृष्टि में रखा जाय तो अक्षरों या वर्णों के समुदाय-विशेष को हम शब्द कह सकते हैं। वाक्यों की दृष्टि से शब्द उसका एक स्व- **शब्द की व्याख्या** तन्त्र चरमावयव है। इसी प्रकार शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को देखते हुए यदि हम शब्द की व्याख्या करना चाहें तो कह सकते हैं कि हमारे विचारों के प्रतीक रूप उच्चरित संकेत ही शब्द हैं। साधारण अर्थों में जो कान से सुनायी दे उसे ही हम शब्द कहते हैं। प्राचीन काल में जब लिखित भाषा का निर्माण नहीं हुआ था, तब ध्वनि के आधार पर शब्दों के संकेत नियत कर

दिये गये थे। सभ्यता के विकास के साथ इन संकेतों में वृद्धि हुई और कालान्तर में वर्णमाला ने उनका रूप धारण कर लिया। इसलिए मानव की भाषा में शब्द से हमारा आशय केवल उन वर्णात्मक शब्दों से होता है जो स्वतन्त्र और सार्थक हों।

शब्दों का महत्व

किसी भाषा में शब्दों का अत्यधिक महत्व होता है। विधाता के प्रपञ्च में जहाँ तक भावाभिव्यक्ति का सम्बन्ध है तहाँ तक शब्दों का अखण्ड साम्राज्य है। शब्द रचना का सर्वस्व और व्याकरण-शास्त्र का प्राण है। वही लेखक तथा वक्ता का शस्त्र है। इसी शस्त्र के उचित प्रयोग से उसकी रचना में जान आती है और वह अपने मनोभावों को जन-साधारण तक पहुँचाने में सफल होता है। कहने का तात्पर्य यह कि अपना लक्ष्य-बेध करने के लिए लेखक को शब्द का ही सहारा लेना पड़ता है। वाक्य की सुन्दरता शब्दों के प्रयोग पर ही अवलम्बित रहती है।

शब्द भाषा विज्ञान की सम्पत्ति है। किसी भाषा का इतिहास एवं उसका क्रमिक विकास शब्दों से ही जाना जाता है। शब्द से ही भाषा की उत्कृष्टता का पता चलता है। इस प्रकार शब्द से भाषा का और भाषा की सहायता से उस समाज की अवस्था का परिचय हमें मिल जाता है जिसमें वह बोली अथवा लिखी जाती है। शब्दों की शक्ति से ही भाषा बलवती होती है। उनके समुचित सङ्गठन पर ही भाषा का सौन्दर्य अवलम्बित रहता है। इसलिए शब्द की आत्मा और उसकी शक्ति का उचित ज्ञान प्राप्त कर लेना प्रत्येक लेखक के लिए अनिवार्य है।

ध्वनि के अनुसार शब्द भेद

अभी बताया जा चुका है कि जो ध्वनि कान में सुनाई पड़ती है उसे शब्द कहते हैं। इस दृष्टि से शब्द दो प्रकार के होते हैं—एक तो ध्वन्यात्मक और दूसरे वर्णात्मक। जिन शब्दों के अक्षर स्पष्ट रूप से सुनायी नहीं पड़ते उन्हें ध्वन्यात्मक और जिन शब्दों के अक्षर पृथक-पृथक

सुनायी पड़ते हैं उन्हें वर्णात्मक कहते हैं। मानव की भाषा में ध्वन्यात्मक शब्दों को स्थान नहीं दिया जाता। इसमें केवल वर्णात्मक शब्दों की ही विवेचना होती है।

ऊपर की पंक्तियों में हम यह देख चुके हैं कि प्रत्येक भाषा में केवल वर्णात्मक शब्दों को स्थान दिया जाता है। ऐसे शब्द दो प्रकार के होते हैं—१. **सार्थक** और २. **निरर्थक**। जिस शब्द का कुछ अर्थ हो उसे सार्थक और जिसका कोई अर्थ न हो उसे निरर्थक शब्द कहते हैं। निरर्थक शब्दों को साहित्यिक भाषा में स्थान नहीं दिया जाता। इसका कारण यह है कि उनके बोलने के पहले अथवा सुनने के पीछे हमारे मन में कोई भाव या विचार उत्पन्न नहीं होता। सार्थक शब्दों की मानसिक प्रतिमा होती है। इसलिए उनके स्मरण अथवा श्रवणमात्र से उनके अनुभव के पिछले संस्कार हमारे मानस में उद्बुद्ध हो जाते हैं। यही संस्कार प्रतिमारूप में विकसित होकर हमें अर्थों का स्मरण दिलाते हैं। इसलिए साहित्यिक भाषा में केवल सार्थक शब्दों का प्राधान्य रहता है।

अर्थ के अनुसार शब्द-भेद

अर्थ-बोध के अनुसार वर्णात्मक शब्द तीन प्रकार के होते हैं। इनमें से एक को **वाचक**, दूसरे को **लाक्षणिक** और तीसरे को **व्यञ्जक** शब्द कहते हैं। यहाँ क्रमशः तीनों प्रकार के शब्दों का, संक्षेप में, उल्लेख किया जाता है।

अर्थबोधकता के अनुसार शब्द-भेद

[१] **वाचक शब्द**—जब एक शब्द के किसी अर्थ का नियमपूर्वक बोध होता है तब वह शब्द उस अर्थ का **वाचक** कहलाता है और उस वाचक शब्द के जिस अर्थ का बोध होता है वह **वाच्यार्थ** कहलाता है। जल एक पेय पदार्थ है। इस वाक्य में जल शब्द से नियमपूर्वक एक द्रव-विशेष का बोध होता है। इसलिए जल द्रव-विशेष का वाचक और द्रव-विशेष उसका वाच्यार्थ है।

वाचक शब्द तीन प्रकार के होते हैं—रूढ़, यौगिक, और

योगरूढ़। जिस शब्द के खण्ड का अर्थ न हो अथवा जिसका एक विशेष अर्थ प्रसिद्ध हो उसे रूढ़ शब्द कहते हैं। घोड़ा, राम, धन आदि शब्द रूढ़ हैं।

जिस शब्द के अर्थ का अवयवार्थ से बोध होता है उसे यौगिक शब्द कहते हैं। दिनेश यौगिक शब्द है। इसमें दिन और ईश दो अवयव हैं। इसका अर्थ है दिन का स्वामी अर्थात् सूर्य। राकेश, सुधांशु, भूपाल आदि शब्द यौगिक हैं।

जिस शब्द में यौगिक और रूढ़ दोनों शक्तियाँ सम्मिलित रहती हैं उसे योगरूढ़ कहते हैं। योगरूढ़ शब्द अपने सामान्य अर्थ को छोड़कर किसी विशेष अर्थ को प्रकाशित करता है। लम्बोदर योगरूढ़ शब्द है। इसका अर्थ है लम्बे उदरवाला, परन्तु यह शब्द केवल गणेश जी के लिए प्रयुक्त होता है। जलज, पङ्कज, चक्रपाणि, पयोद आदि ऐसे ही योगरूढ़ शब्द हैं।

[२] लाक्षणिक शब्द—जब किसी शब्द के वाच्यार्थ से किसी वाक्य का ठीक-ठीक अर्थ समझ में नहीं आता तब उस शब्द का एक ऐसा अर्थ कल्पित कर लिया जाता है जिसकी सहायता से उस वाक्य का अर्थ ठीक-ठीक निकल आता है। इस प्रकार का कल्पित अर्थ उस शब्द का लक्ष्यार्थ और वह शब्द उस अर्थ का लक्षक कहलाता है। "मैं आजकल तुलसीदास का अध्ययन कर रहा हूँ।" इस वाक्य में 'तुलसीदास' से तात्पर्य तुलसीदास की रचनाओं से है। इस वाक्य में 'तुलसीदास की रचनाएँ' लक्ष्यार्थ और तुलसीदास 'तुलसीदास की रचनाओं' का लक्षक है।

लक्षणा दो प्रकार की होती है। जब किसी लाक्षणिक शब्द में रूढ़ि के अनुसार लक्षणा होती है तब उसे निरूढ़ि लक्षणा कहते हैं। 'हैजे के कारण सारा शहर भाग गया।' इस वाक्य में 'शहर' शब्द पर विचार कीजिये। शहर जड़ है। वह भाग नहीं सकता। इसलिए लक्षणा से शहर का अर्थ है शहर में रहनेवाले व्यक्ति। यही मुख्यार्थ

है। रूढ़ि (रिवाज) के कारण शहर के निवासियों के स्थान पर शहर कह दिया गया है। यह 'निरुढ़ि लक्षणा' कहलाती है।

जब किसी लाक्षणिक शब्द अथवा पद में प्रयोजन के अनुसार लक्षणा होती है तब उसे **प्रयोजनवती** लक्षणा कहते हैं। 'प्रयाग संगम पर बसा हुआ है।' इस वाक्य में 'संगम पर' का अर्थ है 'संगम की धारा' परन्तु धारा पर किसी शहर का बसना असम्भव है। अतएव प्रयोजनवती लक्षणा के अनुसार इसका अर्थ हुआ 'संगम के किनारे।'

[३] **व्यञ्जक शब्द**—जिस शब्द से वाच्यार्थ तथा लक्ष्यार्थ के अतिरिक्त एक तीसरे अर्थ का बोध होता है वह शब्द उस अर्थ का **व्यञ्जक** और वह अर्थ उस शब्द का **व्यंग्यार्थ** कहलाता है। 'मुर्गा बोलने लगा' एक वाक्य है। इसका अभिप्राय है—सवेरा हो गया। इस वाक्य में मुर्गा बोलने का व्यंग्यार्थ है सबेरा होना।

व्यञ्जना दो प्रकार की होती है। एक तो **शाब्दी** और दूसरी **आर्थी**। शाब्दी व्यञ्जना अभिधामूला और लक्षणामूला होती है। जब अनेकार्थी शब्दों की वाचकता संयोग, वियोग, साहचर्य, विरोध आदि कारणों से एक विशेष अर्थ में नियन्त्रित हो जाती है तब वहाँ **अभिधामूला शाब्दी व्यञ्जना** होती है। 'जिस ओर हरि अर्जुन हो विजय उसी ओर होती है।' इस वाक्य में हरि और अर्जुन अनेकार्थी हैं; परन्तु परस्पर के साहचर्य से हरि का अर्थ श्रीकृष्ण और अर्जुन का अर्थ पाण्डुसुत अर्जुन ही हो सकता है।

जिस व्यंग्यार्थ के लिए लक्षणा का आश्रय लिया जाता है वह जिस शक्ति द्वारा प्रतीत होता है उसे **लक्षणा-मूला शाब्दी व्यञ्जना** कहते हैं। 'प्रयाग संगम पर बसा हुआ है।' इस वाक्य में 'संगम पर' जो लाक्षणिक पद प्रयोग किया गया है वह शीतलता और पवित्रता का द्योतक है। इस व्यंग्यार्थ की प्रतीति व्यञ्जना द्वारा ही होती है। इसलिए यहाँ लक्षणा-मूला शाब्दी व्यञ्जना है।

अभिधा और लक्षणा-द्वारा न जाने हुए व्यंग्यार्थ की प्रतीति

करनेवाले अर्थ के व्यापार को **आर्थी व्यञ्जना** कहते हैं। 'अरे-मार डाला' कहने से बचाने की याचना का बोध होता है। यहाँ शाब्दी व्यञ्जना नहीं वरन् आर्थी व्यञ्जना है।

ऊपर की पंक्तियों में वाचक, लाक्षणिक तथा व्यञ्जक शब्दों के सम्बन्ध में जो बातें बतायी गयी हैं उनका तात्पर्य यह नहीं है कि तीनों में पृथकता होती है। कहने का अभिप्राय यह कि जो शब्द वाचक होता है वह लाक्षणिक और व्यञ्जक भी हो सकता है। 'प्रयाग सङ्गम पर बसा हुआ है। इस वाक्य में जब 'सङ्गम' शब्द प्रवाह का बोध कराता है तब वह बाचक है, जब तट का बोध कराता है तब वह लाक्षणिक है और जब शीतलता तथा पवित्रता का बोध कराता है तब व्यञ्जनक है। अभ्यास और मनन से ऐसे शब्दों और उनके अर्थों की पहचान विद्यार्थियों को सरलता से हो सकती है।

अभी हमने अर्थबोधकता के अनुसार शब्द के तीन भेद किये हैं। शब्द के तीन भेद शब्द की तीन शक्तियों पर अवलम्बित रहते हैं। शब्द की जिस शक्ति-द्वारा वाच्यार्थ का बोध होता है उसे **अभिधा**, जिस शक्ति-द्वारा लक्ष्यार्थ का बोध होता है उसे **लक्षणा** और शब्द की जिस शक्ति द्वारा व्यंग्यार्थ का बोध होता है उसे **व्यञ्जना** कहते हैं। अभिधा और लक्षणा-शक्ति केवल शब्दों में रहती है, परन्तु व्यञ्जना-शक्ति शब्द और अर्थ दोनों में ही रहती है। शब्दों की इन तीन शक्तियों को **वृत्ति** कहते हैं।

शब्दों की शक्ति

रूपान्तर के विचार से शब्द के दो भेद होते हैं—एक **विकारी** और दूसरा **अविकारी**। जिन शब्दों में लिंग, वचन और कारकादि के कारण कोई विकार उत्पन्न हो जाता है उन्हें विकारी शब्द कहते हैं। विकारी शब्द चार प्रकार के होते हैं—संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण और क्रिया। किसी वस्तु के नाम को **संज्ञा** कहते हैं। गाय, बैल, राम, सोना आदि

रूपान्तर के अनुसार शब्द-भेद

संज्ञाएँ हैं। जो शब्द किसी संज्ञा के स्थान पर प्रयोग में आते हैं उन्हें **सर्वनाम** कहते हैं। तुम, वह, मैं आदि सर्वनाम हैं। जो शब्द संज्ञा की विशेषता अथवा गुण प्रकट करते हैं उन्हें **विशेषण** कहते हैं। अच्छा, बुरा, सुन्दर आदि शब्द विशेषण हैं। जो शब्द किसी काम के करने या होने का भाव प्रकट करते हैं उन्हें **क्रिया** कहते हैं। चलना, सोना आदि क्रिया शब्द हैं।

जिन शब्दों का रूप लिंग, वचन, कारकादि से प्रभावित नहीं होता उन्हें **अविकारी** शब्द कहते हैं। अविकारी शब्द भी चार प्रकार के होते हैं—क्रियाविशेषण, सम्बन्धबोधक, समुच्चबोधक और विस्मयादिबोधक। जो शब्द क्रिया की विशेषता प्रकट करते हैं उन्हें **क्रियाविशेषण** कहते हैं। धीरे-धीरे, क्रियाविशेषण है। जो शब्द सम्बन्ध बताते हैं उन्हें **सम्बन्ध-बोधक** कहते हैं। सहित, समेत आदि सम्बन्धबोधक शब्द हैं। जो शब्द दो वाक्य खण्डों अथवा शब्दों का परस्पर अन्वय बताते हैं उन्हें **समुच्चयबोधक** कहते हैं। और, अथवा, एवं आदि समुच्चयबोधक शब्द हैं। जो शब्द हर्ष, विषाद आश्चर्य, लोभ, घृणा आदि के व्यञ्जक होते हैं उन्हें **विस्मयादिबोधक** कहते हैं। ओह, वाह, अरे आदि विस्मयादिबोधक शब्द हैं। अविकारी शब्दों को व्याकरण में **अव्यय** भी कहते हैं।

शब्दों का अनुभव

ऊपर की पंक्तियों में हमने केवल शब्दों के भेदों की संक्षेप में विवेचना की है। अब हम यह देखेंगे कि शब्दों का अनुभव हमें किस प्रकार होता है। शब्दों का अनुभव हम तीन प्रकार से करते हैं। किसी शब्द का उच्चारण करने से जो अनुभव होता है उसे हम **औच्चारणानुभव** कहते हैं। किसी शब्द के सुनने से जो अनुभव होता है उसे हम **श्रावणानुभव** कहते हैं। किसी लिखित शब्द को देखने से जो अनुभव होता है उसे **चाक्षुषानुभव** कहते हैं। इन तीनों अनुभवों में से औच्चारणानुभव ही सर्वप्रधान है। इसका कारण यह है कि हमारे चिन्तन में शब्दों की औच्चारण प्रतिमाओं का ही अधिक साथ रहता है। फिर भी मानव तीनों अनुभवों का आश्रय लेकर अपना शब्द भाण्डार बढ़ाता है।

अध्याय ९

शब्द-रचना

पूर्व प्रकरण में हम शब्द और उसके भेदों पर प्रकाश डाल चुके हैं। इस अध्याय में हम यह बतायेंगे कि हिन्दी भाषा में शब्द का निर्माण किस प्रकार होता है।

हिन्दी में शब्द तीन प्रकार से बनाये जाते हैं। १. शब्दों के पूव उपसर्ग जोड़कर, २. शब्दों के अन्त में प्रत्यय लगाकर और ३. समास की रीति के अनुसार। इनके अतिरिक्त एक ही शब्द को दुहराने, दो समानार्थक अथवा विपरीतार्थक शब्दों के प्रयोग तथा किसी पदार्थ अथवा प्राणी की ध्वनि अथवा बोली के अनुकरण से भी शब्द बनाये जाते हैं। अनुकरण से बननेवाले शब्दों को हम पुनरुक्त अथवा अनुकरण-वाचक शब्द कहते हैं। हम यहाँ सबके पहले उपसर्ग से बने हुए शब्दों की चर्चा करेंगे।

शब्द-रचना की रीतियाँ

प्रायः प्रत्येक भाषा में कुछ ऐसे शब्दांश पाये जाते हैं जिनका स्वतन्त्र रूप से कोई अर्थ नहीं होता; परन्तु जब वही शब्दांश किसी सार्थक शब्द के साथ पहले जोड़ दिये जाते हैं तब उस शब्द के अर्थ में विशेषता पैदा हो जाती है। ऐसे शब्दांश उपसर्ग कहलाते हैं। हिन्दी में संस्कृत, हिन्दी तथा उर्दू के उपसर्ग मिलते हैं। यहाँ हम क्रमानुसार तत्सम्बन्धी उपसर्गों पर प्रकाश डालेंगे।

उपसर्ग से बने शब्द

१. संस्कृत के उपसर्ग—मुख्यतः २२ हैं जिनमें से २० अधिकतर हिन्दी में पाये जाते हैं।

अति—अधिक, उसपार और ऊपर का द्योतक है, जैसे—अति-

काल, अत्यन्त, अत्युक्ति, अतिशय, अतिव्याप्ति। हिन्दी में 'अति' इसी अर्थ में स्वतंत्र शब्द के समान भी प्रयुक्त होता है।

अधि—प्रधानता, समीपता और ऊँचाई का द्योतक है, जैसे—अधिकार, अधिकरण, अधिष्ठाता, अधिपति, अध्यक्ष।

अनु—सादृश्य, पश्चात् और क्रम का सूचक है, जैसे—अनुरूप, अनुगामी, अनुताप, अनुज, अनुचर, अनुमान, अनुसन्धान, अनुकरण, अनुगमन, अनुग्रह, अनुक्रम, अनुशासन, अनुस्वार।

अप—हीनता, लघुता, विरुद्धता तथा अभाव का निर्देशक है, जैसे—अपकीर्ति, अपयश, अपमान, अपभ्रंश, अपराध, अपशब्द, अपहरण, अपसव्य, अपकार, अपकर्षता, अपवाद, अपव्यय।

अभि—ओर, समीपता, अधिकता, पूर्णता तथा इच्छा का प्रकाशक है, जैसे—अभिनव, अभिप्राय, अभिमान, अभिसार, अभिमुख अभ्यागत, अभ्यास, अभ्युदय, अभिलाषा, अभिमत।

अव—अनादर, हीनता और पतन का द्योतक है, जैसे—अवगत अवगाह, अवनत, अवलोकन, अवसान, अवस्था, अवतीर्ण, अवज्ञा, अवरोहण। प्राचीन कविता में 'अव' का रूप 'औ' मिलता है।

आ—ओर, सीमा कमी, समेत तथा विपरीत का भाव प्रकट करता है, जैसे—आजानु, आरक्त, आगमन, आकर्षक, आकाश, आजन्म, आबालवृद्ध, आरम्भ, आक्रमण, आचरण, आदान, आजीवन, आरोहण।

उत् : उद्—ऊपर तथा उत्कर्ष का भाव व्यञ्जित करता है, जैसे—उत्कर्ष, उत्कण्ठा, उत्तम, उद्देश्य, उत्पन्न, उन्नति, उल्लेख, उद्गम, उद्भव, उत्थान, उत्पत्ति, उत्साह, उद्यम, उद्गार।

उप—समीपता, लघुता, सादृश्य तथा सहायक का सूचक है, जैसे उपकार, उपवेद, उपस्थिति, उपनाम, उपमन्त्री, उपभेद, उपवन, उपदेश, उपनेत्र, उपासना, उपकूल।

दुर, दुस—कठिनता, दुष्टता, निन्दा और हीनता का भाव

प्रकट करते हैं, जैसे—दुर्गम, दुर्जन, दुर्बुद्धि, दुर्मति, दुर्दशा दुर्दिन, दुर्लभ, दुर्गुण, दुराचार, दुर्बल, दुष्कर्म, दुष्प्राप्य, दुःसह (दुस्सह)

नि—भीतर, नीचे और बाहर का द्योतक है, जैसे—निकृष्ट, निदर्शन, निपात, नियुक्त, निवास, निरूपण, निमग्न, निवारण, निरोध, निषेध, निदान, निबन्ध।

निर् निश—निषेध और रहित का व्यञ्जक है, जैसे—निराकरण, निर्वास, निरपराध, निर्भय, निर्वाह, निश्चल, निर्दोष, नीरोग, निर्जीव, निर्लेप, निर्मल; हिन्दी में यह उपसर्ग बहुधा 'नि' हो जाता है।

परा—विपरीत, नाश और अनादर का सूचक है; जैसे—पराक्रम, पराभव, परामर्श, परावर्त्तन, पराजय, परास्त।

परि—सर्वतोभाव, अतिशय, और त्याग का भाव प्रकट करता है, जैसे—परिभ्रमण, परिपूर्ण, परिच्छेद, परिधि, परिखास, परिपूर्ण, परिमाण, परिवर्त्तन, परिणय, पर्याप्त, परिजन, परिक्रमा।

प्र—अतिशय, उत्कर्ष, गति, यश, उत्पत्ति, और व्यवहार का प्रकाशक है, जैसे—प्रबल, प्रसिद्ध, प्रस्थान, प्रताप, प्रकाश, प्रसन्न, प्रख्यात, प्रचार, प्रसार, प्रभु, प्रयोग, प्रमाण, प्रलय।

प्रति—प्रत्येक, बराबरी, विरोध और परिवर्तन का द्योतक है, जैसे—प्रतिनिधि, प्रतिदान, प्रतिवादी, प्रतिकूल, प्रत्युपकार, प्रत्यक्ष, प्रत्येक, प्रतिनिधि, प्रतिकार, प्रतिध्वनि, प्रतिक्षण।

वि—भिन्नता, हीनता, असमानता और विशेषता का भाव प्रकट करता है, जैसे वियोग, विकार, विमुख, विराम, विशेषता, विस्मरण, विधवा, विदेश, विज्ञान, विकास, विभाग, वियोग।

सम—संयोग तथा पूर्णता का सूचक है, जैसे—सङ्कल्प, संसर्ग, सङ्क्रम, संग्रह, संन्यास, संयोग, संरक्षण, संहार, सम्मुख, संस्कृत।

सु—सुन्दर, सहज, सुखी, बहुत और अच्छे का भाव प्रकट करता है, जैसे—सुगमता, सुवास, सुकर्म, सुकृत, स्वागत, सुयश, सुभाषित।

नोट—कभी-कभी एक ही शब्द के साथ दो-तीन उपसर्ग आते हैं।

जैसे—निराकरण, प्रत्युपकार, समालोचना।

उपसर्गवत् अव्यय तथा विशेषण—संस्कृत शब्दों में कुछ ऐसे विशेषण और अव्यय भी हैं जो उपसर्गों के समान व्यवहृत होते हैं और बहुधा स्वतंत्र रूप से प्रयोग में आते हैं :—

अ—अभाव और निषेध का सूचक है, जैसे—अगम, अज्ञान, अधर्म, अनीति। स्वरादि शब्दों के पूर्व 'अ' के स्थान से 'अन्' हो जाता है, जैसे—अनन्त, अनन्तर, अनादि, अनायास, अनाचार।

अधस्—नीचे या निम्न का बोधक है, जैसे अधोगति, अधोमुख, अधोभाग, अधःपतन, अधस्थल।

अन्तः तथा अन्तर—भीतर का बोधक है, जैसे—अन्तःकरण, अन्तर्दशा, अन्तर्धान, अन्तर्भाव, अन्तर्वेदी, अन्तर्गत, अन्तःपुर।

अमा—निकट का प्रकाशक है, जैसे—अमात्य, अमावस्या।

अलम्—सुन्दरता का बोधक है और बहुधा कृ धातु के पूर्व आता है, जैसे—अलङ्कार, अलकृत।

आविर्—प्रकट, बाहर का अर्थ बताता है, जैसे—आविर्भाव, आविष्कार।

इति—ऐसा अथवा यह का भाव प्रकट करता है, जैसे—इतिवृत्ति, इतिहास, इतिपूर्व, इतिकर्त्तव्यता। हिन्दी में 'इति' स्वतन्त्र शब्द के समान आता है।

कु, का, कद्—बुरा के अर्थ में आता है, जैसे—कुकर्म, कुरूप, कुशकुन, कापुरुष, कदाचार, कदभ्यास।

चिर—बहुत या सदैव का द्योतक है, जैसे—चिरकाल, चिरपरिचित, चिरजीव, चिरायु, चिरस्थायी।

तिरस्—तुच्छता का द्योतक है, जैसे—तिरस्कार, तिरोहित।

न—अभाव का सूचक है, जैसे—नपुंसक, नास्तिक, नग्न।

नाना—बहुत के अर्थ में आता है, जैसे—नानाप्रकार, नानारूप।

हिन्दी में 'नाना' स्वतन्त्र शब्द की भांति प्रयुक्त होता है।

पुरस्—सामने तथा आगे के अर्थ में आता है, जैसे—पुरस्कार, पुरोहित, पुरोवर्ती, पुरश्चरण।

पुरा—पहले का व्यञ्जक है, जैसे—पुरातन, पुरातत्व।

पुनर्—फिर के अर्थ में आता है, जैसे—पुनर्जन्म, पुनर्विवाह।

प्राक्—इसका अर्थ है पहले का, जैसे—प्राक्कथन।

प्रातर—सवेरे का अर्थ बताता है, जैसे—प्रातःकाल, प्रातःस्नान।

प्रादुर्—प्रकट के अर्थ में आता है, जैसे—प्रादुर्भाव।

बहिर्—बाहर का अर्थ प्रकट करता है, जैसे—बहिर्द्वार, बहिष्कार।

स—इसमें सहित का भाव है, जैसे—सजातीय, सगोत्र, सजीव।

सत—अच्छा का द्योतक है, जैसे—सज्जन, सत्कर्म, सत्पात्र।

सह—साथ का अर्थ देता है, जैसे—सहकारी, सहगमन, सहज।

स्व—अपना का द्योतक है, जैसे—स्वतन्त्र, स्वदेश, स्वधर्म।

स्वयं—खुद का अर्थ देता है, जैसे—स्वयम्भू, स्वयम्वर।

९. हिन्दी उपसर्ग—बहुधा संस्कृत उपसर्गों के अपभ्रंश हैं और तद्भव शब्दों के पूर्व आते हैं। इन्हें तत्सम शब्दों के पहले कभी न लगाना चाहिए। निम्नलिखित हिन्दी उपसर्ग मुख्य हैं :—

अ—अभाव तथा निषेध का प्रकाशक है, जैसे—अतोल, अचेत, अज्ञान, अथाह, अलग, अबेर, अमोल, अपढ़। अन—संस्कृत में स्वरादि शब्दों के पहले अ का अन् हो जाता है, परन्तु हिन्दी में अन व्यञ्जनादि शब्दों के पूर्व आता है। यह भी अभाव तथा निषेध का सूचक है, जैसे—अनधन, अनमेल, अनमोल, अनहित, अनपढ़। अध—अर्ध के अर्थ में आता है, जैसे—अधकचरा, अधपका, अधमरा अधसेरा, अधपई। उन—एक कम का सूचक है, जैसे—उन्नीस, उनतीस,

उनचास, उनसट, उनहत्तर। औ—हीनता तथा निषेध का सूचक है, जैसे—औगुन, औघट, औढर, औसर। क, कु—बुराई तथा नीचता आदि के प्रकाशक हैं, जैसे—कपूत, कुढङ्ग, कुटेव, कुखेत। दु—बुरा तथा हीन के अर्थ में आता है, जैसे—दुकाल, दुबला। नि—निषेध या अभाव का सूचक है, जैसे—निगोड़ा, निकम्मा, निडर, निधड़क, निहत्था। बिन—निषेध का सूचक है, जैसे—बिनब्याहा, बिनजाने, बिनबोया। भर—पूरे का सूचक है, जैसे—भर-पेट, भर-पूर भर-सक। स—उत्तमता और सहित का द्योतक है, जैसे—सपूत, सजग, सरस, सगोत्र।

३. उर्दू उपसर्ग—फारसी तथा अरबी भाषा के कुछ उपसर्ग, जो उर्दू भाषा में प्रचलित हैं, हिन्दी भाषा में भी आते हैं। निम्नलिखित उर्दू उपसर्ग मुख्य हैं :—

अल—निश्चित के अर्थ में आता है, जैसे—अलग़रज, अलबत्ता। कम—थोड़ा, हीन का अर्थ देता है जैसे—कमउम्र, कमज़ोर, कम हिम्मत, कमअक्ल, कमबख्त। ख़ुश—उत्तमता के अर्थ में आता है, जैसे—ख़ुशबू, ख़ुशदिल, ख़ुशहाल, ख़ुशकिस्मत। ग़ैर—निषेध-सूचक है, ग़ैरहाजिर, ग़ैरवाजिब, ग़ैरकानूनी। दर—'में' के अर्थ में आता है, जैसे—दरअसल, दरकार। ना—अभाव का सूचक है, जैसे—नामुमकिन, नापसन्द, नाराज, नालायक। ब—ओर, साथ, अनुसार का सूचक है, जैसे—बनाम, बदस्तूर, बदौलत, बजिंस। बद—बुरा के अर्थ में प्रयोग होता है, जैसे—बदनाम, बदमाश, बद-किस्मत, बदबू, बदहजमी। बर—ऊपर के अर्थ में आता है, जैसे—बरखास्त, बरदाश्त। बा—'से' या 'सहित' का अर्थ देता है, जैसे—बाकलम, बाकायदा, बाइज्जत। बिला—'बिना' के अर्थ में आता है, जैसे—बिलाशक, बिलाकसूर। बे—'बिना' के अर्थ में आता है, जैसे—बेइज्जत, बेईमान, बेचारा, बेरहम, बेवकूफ। ला—'बिना' के अर्थ में आता है, जैसे—लाचार, लापरवाह, लावारिस, लामज़हब।

सर—'मुख्य' के अर्थ में आता है, जैसे—सरकार, सरताज, सरदार, सरहद, सरपञ्च। हम—समानता का द्योतक है, जैसे—हमउम्र, हमदर्दी, हमनाम, हमराह, हमज़बान। हर—प्रत्येक अर्थ में आता है, जैसे—हररोज़, हरदम, हरसाल, हरएक।

नोट—१. संस्कृत के उपसर्ग संस्कृत तत्सम शब्दों में, हिन्दी के उपसर्ग तद्भव अथवा शुद्ध हिन्दी के शब्दों में और उर्दू के उपसर्ग उर्दू के शब्दों में ही जोड़े जाते हैं। २. एक ही शब्द में अनेक उपसर्ग प्रयुक्त हो सकते हैं। ३. कहीं एक, कहीं दो, कहीं तीन और कहीं चार उपसर्ग भी एक साथ आते हैं।

एक शब्द में अनेक उपसर्ग—एक शब्द में अनेक उपसर्ग लग सकते हैं, जैसे :—

कृ धातु से कार—आकार, प्रकार, विकार, उपकार, सरकार, प्रतिकार, निराकार, संस्कार। भू धातु से भव—सम्भव, पराभव, उद्भव, अनुभव, प्रभाव, अभाव। हृ धातु से हार—आहार, विहार, व्यवहार, संहार, उपहार। दिश् धातु से देश—आदेश, विदेश, उपदेश, सन्देश, सुदेश। चर धातु से चार—आचार, विचार, प्रचार, सञ्चार, व्यभिचार, उपहार। क्रम—अतिक्रम, उपक्रम, पराक्रम, विक्रम। मल—निर्मल, विमल, परिमल, अमल। लोचन—विलोचन, त्रिलोचन, सुलोचन। पद धातु से—सम्पदा, आपदा, सम्पत्ति, निष्पत्ति, उत्पत्ति। स्था धातु से—स्थान, सस्थान, अवस्थान, संस्था, अवस्था, व्यवस्था, अनुष्ठान। ज्ञा धातु से—आज्ञा, संज्ञा, अज्ञा। वद् धातु से—संवाद, विवाद, प्रतिवाद, प्रवाद, अपवाद, अनुवाद।

अन्यत्र हम बता चुके हैं कि जो शब्दांश शब्दों के अन्त में आते हैं उन्हें प्रत्यय कहते हैं। प्रत्यय दो प्रकार के होते हैं—कृत और तद्धित। क्रिया अथवा धातु के अन्त में जो प्रत्यय

प्रत्यय से बने शब्द लगाये जाते हैं उन्हें कृत प्रत्यय कहते हैं और उनके मेल से बने शब्द कृदन्त कहलाते हैं। संज्ञा

तथा विशेषण शब्दों के अन्त में जो प्रत्यय लगते हैं उन्हें तद्धित प्रत्यय कहते हैं और उनके मेल से बने शब्द तद्धितान्त कहलाते हैं। हम पहले कृत प्रत्यय पर विचार करेंगे।

[१] कृत प्रत्यय—कृदन्त दो प्रकार के होते हैं—एक तो संज्ञा और दूसरे विशेषण। हम यहाँ संक्षेप में संस्कृत तथा हिन्दी के कृत प्रत्ययों का उल्लेख करते हुए इन दोनों प्रकार के कृदन्त शब्दों पर विचार करेंगे।

संस्कृत कृत प्रत्यय

१. संस्कृत कृत प्रत्ययों के योग से बनी संज्ञाएं

क. भाववाचक

अ प्रत्यय से—कम+अ=काम; क्रुध्+अ=क्रोध।

अन प्रत्यय से—भू+अन=भवन, गम्+अन=गमन।

अना प्रत्यय से—विद्+अना=वेदना; वंद्+अना=वंदना।

आ प्रत्यय से—इष्+आ=इच्छा, पूज्+आ=पूजा।

न (नङ्)प्रत्यय से—यज्+न=यज्ञ; प्रच्छ+न=प्रश्न।

ति प्रत्यय से—शक्+ति=शक्ति; गम्+ति=गति।

या प्रत्यय से—विद्+या=विद्या; मृग्+या=मृगया।

ख. कर्तृवाचक

अक (ण्वुल ण्वु) प्रत्यय से—कृ+अक=कारक; गै+अक=गायक।

अन प्रत्यय से—नी+अन=नयन; गह+अन=गहन।

दा, स्थ, कृ, चर प्रत्यय से—धन+दा=धनदा; गृह+स्थ=गृहस्थ; कुम्भ+कृ=कुम्भकार, वन+चर्=वनचर।

अ प्रत्यय से—सृप्+अ=सर्प; दिव्+अ=देव।

ता प्रत्यय से—दा+ता=दाता; भुज्+ता=भोक्ता।

उ प्रत्यय से—तन्+उ=तनु; बन्ध्+उ=बन्धु।

उक प्रत्यय से—स्यन्द + उक = सिन्धुक; भिक्ष + उक् = भिक्षुक।
इ प्रत्यय से—त्यज् + ई = त्यागी; दुष + ई = दोषी।

ग. कर्मवाचक

अ प्रत्यय से—अर्थ् + अ = अर्थ।
य प्रत्यय से—कृ + य = कृत्य; शास् + य = शिष्य।

२. संस्कृत कृत् प्रत्ययों के योग से बने विशेषण

अ. भूतकालिक कृदन्त विशेषण

त प्रत्यय से—भू + त = भूत; मद् + त = मत्त।
न (ण) प्रत्यय से—खिद् + न = खिन्न; जृ + ण = जीर्ण।

ब. वर्तमानकालिक कृदन्त विशेषण

मान प्रत्यय से—विद् + मान = विद्यमान; सेव् + मान = सेव्यमान।

स. भविष्यकालिक और औचित्यबोधक कृदन्त विशेषण

तव्य प्रत्यय से—कृ + तव्य = कर्तव्य; वच् + तव्य = वक्तव्य।
अनीय प्रत्यय से—दृश् + अनीय = दर्शनीय; श्रु + अनीय = श्रवणीय।
य प्रत्यय से—दा + य = देय; पूज + य = पूज्य।

द. अन्य विशेषण

भू + ई = भावी। लघ् + उ = लघु। नश् + वर = नश्वर।

य. अन्य शब्द के साथ कृत्प्रत्ययान्त का मेल

कुम्भ + कृ (कार) कुम्भकार। मनः + हृ (हारी) = मनोहारी। भुज् + गम् (ग) = भुजंग। मनसि + जन् (ज) = मनसिज। कृत + हन् (घ्न) = कृतघ्न। सत्य + विद् (वादी) = सत्यवादी।

र उपसर्ग के साथ कृत्प्रत्यान्त शब्द

प्र+नम+क्ति=प्रणति । उत्+तृ+क्त=उत्तीर्ण । वि+श्वस+क्त=विश्वस्त । परि+श्रम+णिन=परिश्रमी । आ+सद्+क्ति=आसक्ति । प्र+सद्+क्त=प्रसन्न ।

हिन्दी कृत प्रत्यय

१. हिन्दी कृत प्रत्ययों के योग के बनी संज्ञाएँ

अ. भाववाचक—हिन्दी क्रिया के 'ना' का लोप करने अथवा 'ना' लोप करने के पश्चात् आ, आई, आन, आप, आव, आपा, आम, ई, औनी, त, ती, न्ती, न, ना, नो, र, वट, हट आदि प्रत्ययों को जोड़ने से भाववाचक कृदन्तीय संज्ञाएँ बनती हैं, जैसे —मार, दौड़, खेल; छाया, फेरा, पढ़ाई लगान, पिसान, मिलाप; मिलाव, बुढ़ापा, निकास, प्यास, बोली, हँसी, लिखौनी, पिसौनी; बचत, खपत; घटती, बढ़ती; बढ़न्ती; लेन, होना, चलनी, मिलावट, चिल्लाहट ।

ब. कर्तृवाचक—क्रिया के चिह्न 'ना' का लोप कर आ, री, का, र, इया इत्यादि को जोड़ने से कर्तृवाचक कृदन्तीय संज्ञाएँ बनती हैं जैसे—भूँजा, कटारी, उचक्का, झालर, धुनिया ।

स. कर्मवाचक—क्रिया के चिह्न 'ना' का लोप कर ना; नी इत्यादि प्रत्ययों को जोड़ने से कर्मवाचक कृदन्तीय संज्ञाएँ बनती हैं, जैसे—ओढ़ना, खैनी, ओढ़नी ।

द. करणवाचक—क्रिया के चिह्न 'ना' का लोप कर आ, आनी ई, ऊ, औटी, न, ना, नी या इत्यादि प्रत्ययों को जोड़ने से करण-वाचक कृदन्तीय संज्ञाएँ बनती हैं, जैसे—झूला, जाँता, मथानी, रेती, झाड़ू, कसौटी, बेलन, बेलना, बेलनी, ढकनी, खुरपी ।

२. हिन्दी कृत प्रत्ययों के योग से बने विशेषण

क. कर्तृवाचक विशेषण—क्रिया के चिह्न 'ना' का लोप कर

आऊ, आक, आका, आड़ी, आलू, इयाँ, उला, ऊ, एरा, ऐत ऐया, ओड़, ओड़ा, क, क्कड़, टा, दार, ना, वन, वाला, वैया, सार, हार, हारा प्रत्ययों के जोड़ने से कर्तृवाचक कृदन्तीय विशेषण बनते हैं, जैसे—टिकाऊ, तैराक, लड़ाका, खिलाड़ी, झगड़ालू, बढ़िया, सड़ियल, पढुआ, बेचू, लुटेरा, फनैत, बटैया, हँसोड़, चालाक, जाचक, भुलक्कड़, चोड़ा, मालदार, रोना, लुभावन, सुहावन, पढ़नेवाला, पढ़वैया मिलनसार, राखनहार, राखनहारा।

ख. क्रियाद्योतक विशेषण—ऐसे विशेषण दो प्रकार के होते हैं—एक भूतकालिक, दूसरा वर्तमानकालिक। भूतकालिक क्रियाद्योतक कृदन्तीय विशेषण क्रिया से 'ना' हटाकर आ प्रत्यय जोड़ने से बनाये जाते हैं, जैसे—पढ़ा, धोया। वर्तमानकालिक क्रियाद्योतक कृदन्तीय विशेषण क्रिया से 'ना' हटाकर 'ता' प्रत्यय जोड़ने से बनाये जाते हैं, जैसे—जाता, बहता। कभी-कभी 'हुआ' भी जोड़ा जाता है, जैसे—जाता हुआ, पड़ा हुआ।

नोट—भूतकालिक और वर्तमानकालिक विशेषण क्रिया आदि की विशेषता बताने के कारण अव्यय भी हो जाते हैं। ऐसे अव्यय प्रायः द्वित्व होकर आते हैं, जैसे—बैठे-बैठे, लेटे-लेटे, पढ़ते-पढ़ते, खड़े-खड़े, होते-होते, जागते-जागते।

[२] **तद्धित प्रत्यय**—हम बता चुके हैं कि संज्ञा तथा विशेषण शब्दों के अन्त में जो प्रत्यय लगाये जाते हैं उन्हें तद्धित प्रत्यय कहते हैं और उनके मेल से बने शब्द तद्धितान्त कहलाते हैं। यहाँ पहले संस्कृत तद्धित प्रत्ययान्त संज्ञाओं का उल्लेख किया जायगा।

संस्कृत तद्धित प्रत्यय

संस्कृत तद्धित के योग से बनी संज्ञाएँ

अ. जातिवाचक संज्ञाओं से बनी भाववाचक संज्ञाएँ

संस्कृत की तत्सम जातिवाचक संज्ञाओं के अन्त में ता, त्व, अ, य

आदि लगाने से भाववाचक संज्ञाएँ बनती हैं, जैसे प्रभु से प्रभुता, बन्धु से बन्धुता, मित्र से मित्रता, प्रभु से प्रभुत्व, बन्धु से बन्धुत्व, मनुष्य से मनुष्यत्व, सती से सतीत्व, मुनि से मौन, कुतुक से कौतुक, सुहृद से सौहार्द, पंडित से पाण्डित्य, सखा से सख्य।

ब. व्यक्तिवाचक संज्ञाओं से बनी अपत्यवाचक संज्ञाएँ

व्यक्तिवाचक संज्ञाओं में अ, य, आयन, इ, एय, इक, इत्यादि के मेल के अपत्यवाचक संज्ञाएँ बन जाती हैं। इनमें से एक सन्तान के अर्थ में तथा दूसरी अन्य अर्थ में आती हैं। [क] सन्तान के अर्थ में—जैसे—दशरथ से दाशरथी, वसुदेव से वासुदेव, सुमित्र से सौमित्र, दिति से दैत्य, यदु से यादव, मनु से मानव, अदिति से आदित्य, पृथा से पार्थ, पाण्डु से पाण्डव, कुन्ती से कौन्तेय, कुरु से कौरव, द्रुपद से द्रौपदी, दुहित्र से दौहित्र, जनक से जानकी, नर से नारायण, वदर से वादरायण, राधा से राधेय, रेवती से रैवतिक, चणक से चाणक्य। [ख] अन्य अर्थ में—शिव से शैव, शक्ति से शाक्त, विष्णु से वैष्णव, रामानन्द से रामानन्दी।

२. संस्कृत तद्धित के योग से विशेषण से बनी संज्ञाएँ

संस्कृत तत्सम विशेषण शब्दों के अन्त में ता, त्व, तथा आ (अण) प्रत्यय लगाने से भाववाचक संज्ञाएँ बनती हैं, जैसे—बुद्धिमान् से बुद्धिमत्ता, मूर्ख से मूर्खता, लघु से लघुता, नम्र से नम्रता, भीरु से भीरुता, मधुर से मधुरता, मूर्ख से मूर्खत्व, एक से एकत्व, वीर से वीरत्व; गुरु से गौरव, लघु से लाघव।

३. संस्कृत तद्धित के योग से संज्ञाओं से बने विशेषण

संस्कृत की तत्सम संज्ञाओं में इक, य, मत्, वत्, (मतुप), विन, मय, इत्, ल, इल्, र, यईं, इय, ईन्, इम, निष्ठ आदि तद्धित प्रत्यय लगाने से विशेषण बनते हैं, जैसे—न्याय से नैयायिक, पुराण से पौराणिक, मुख से मौखिक; तालु से तालव्य, अन्त से अन्त्य, प्राक् से

प्राच्य, ग्राम से ग्राम्य, बुद्धि से बुद्धिमान्, बुद्धिमती; श्री से श्रीमान्, श्रीमती; तेजस् से तेजस्वी, मेधा से मेधावी, प्रणय से प्रणयी; स्वर्ण से स्वर्णमय, जल से जलमय; आनन्द से आनन्दित, दुःख से दुःखित; पांसु से पांसुल, मांस से मांसल, पंक से पंकिल, जटा से जटिल; तुन्द से तुन्दिल; मुख से मुखर, मधु से मधुर; राष्ट्र से राष्ट्रीय; कुल से कुलीन, ग्राम से ग्रामीण; मल से मलिन; कर्म से कर्मनिष्ठ।

४. कुछ अन्य विशेषण

भवत् से भवदीय, अस्मद् से मदीय, तद् से तदीय, प्राचीन से प्राचीनतर, प्राचीनतम्, सेना से सैन्य, चोर से चौर, त्रिलोक से त्रैलोक्य, मरुत से मारुत, कुतूहल से कौतूहल।

५. कुछ अव्यय

दा, त्र, था, चित्, शः, शात्, तः इत्यादि प्रत्ययों से कुछ अव्यय भी बनते हैं, जैसे—एकदा, सर्वदा, सदा, कुत्र, अत्र, सर्वत्र, अन्यत्र, अन्यथा, सर्वथा, किञ्चित्, क्रमशः, अल्पशः, फलतः, स्वतः, वस्तुतः।

हिन्दी तद्धित प्रत्यय

जिस प्रकार संस्कृत तत्सम शब्दों में तद्धित प्रत्ययों को जोड़कर संज्ञाओं से संज्ञाएँ तथा विशेषण आदि बनाये जाते हैं उसी प्रकार तद्भव तथा हिन्दी के शब्दों में भी प्रत्यय जोड़कर संज्ञा और विशेषण आदि बनाये जाते हैं। तद्धित प्रत्ययान्त शब्द इस प्रकार विभाजित किये जा सकते हैं :—

१. **भाववाचक तद्धितीय संज्ञाएँ**—संज्ञाओं अथवा विशेषणों के अन्त में आई, पा, पन, वट, हट, त, स, नी आदि प्रत्ययों के योग से भाववाचक तद्धितीय संज्ञाएँ बनती हैं; जैसे—भलाई; बुढ़ापा; लड़कपन; लिखावट, कड़वाहट; रङ्गत, मिठास; चाँदनी।

२. **ऊनवाचक तद्धितीय संज्ञाएँ**—आ, वा, ई, का, टा, ड़ी या, री, ली इत्यादि तद्धित प्रत्ययों के योग के ऊनवाचक संज्ञाएँ बनती

हैं। इस प्रकार की संज्ञाएँ लघुता, ओछापन अथवा छोटापन व्यञ्जित करती हैं, जैसे—पिलुआ, बछवा, कहरवा; रस्सी, कटोरी, प्याली; बालक, ढोलक, रोंगटा, टुकड़ा, टँगरी, पटिया, कोठरी, बटुली। परन्तु अँगूठी, नक्की, छड़ी, छतरी इत्यादि ऊनवाचक नहीं हैं।

३. कर्तृवाचक तद्धितीय संज्ञाएँ—आर, इया, ई, उआ, रा, वन, वाल, वाला, इत्यादि तद्धित प्रत्ययों के योग से कर्तृवाचक संज्ञाएँ बनती हैं,—जैसे सुनार, आढ़तिया, मुखिया, तेली, योगी, भोगी, कसेरा, भँपेरा, कोतवाल, चुड़िहारा।

४. सम्बन्धवाचक तद्धितीय संज्ञाएँ—आल, औती, औटी, जा, ठी, एल इत्यादि तद्धितीय प्रत्ययों से सम्बन्धवाचक संज्ञाएँ बनती हैं, जैसे—ननिहाल, ससुराल, कठौती, बपौती, हथौटी, चमरौटी, भतीजा, भानजा, अंगीठी, अँगूठी, नकेल।

५. संज्ञाओं से बने तद्धितीय विशेषण—आ, आइन, आहा, ई, एरा, ए, ऐ, आ, ऐत, ऐल, ओं, का, ठा, तना, था, ना, रा, ल, ला, वाला, वाँ, सा, हर, ह, हरा, हा इत्यादि प्रत्ययों के संयोग से विशेषण बनते हैं, जैसे—ठंडा, भूखा, प्यासा, बनारसी, देहाती, पेटू, गर्जू, बजारू, चचेरा, जै, घरैया, लदैत, बनैल, बीसों, मायका, छठा, इतना, चौथा, अपना, मौसेरा, दूसरा, पहला, दिल्लीवाला, रासवाला, पाँचवाँ, उपासा, ऐसा, वैसा, छुतहर, सुनहरा, इकहरा, भुतहा

६. कुछ तद्धितीय अव्यय—आँ, ए, ओं, तक, न, इ, भर, यों, सों, इत्यादि तद्धित प्रत्ययों से अव्यय बनते हैं, जैसे—कहाँ, जहाँ, ऐते, केते, कैसे, जैसे, कोसों, पहरों, भीतर तक, दूधन, अब, तब, घरभर, ज्यों, परसों।

७. संज्ञाओं से बनी तद्धितीय क्रियाएँ—कई शब्दों में आ, या, ला इत्यादि प्रत्यय लगाने से क्रियाएँ बन जाती हैं। कुछ नामधातु अनियमित हैं और कुछ ध्वनि-विशेष के अनुकरण से बने हैं, जैसे—

लाज से लजाना, गरम से गरमाना, बात से बतियाना, रंग से रँगना।

८. अकर्मक क्रिया से बनी तद्धितीय सकर्मक क्रियाएँ—लदना से लादना, छूटना से छोड़ना, बिकना से बेचना, फटना से फाड़ना, घिरना से घेरना, फँसना से फाँसना।

९. क्रिया से बनी तद्धितीय प्रेरणार्थक क्रियाएँ—लजाना से लजवाना, पीना से पिलवाना, सोना से सुलवाना।

१०. तद्धितीय संयुक्त क्रियाएँ—बोल उठना, मार बैठना, सो उठना, खा चुकना, देखा करना, कह डालना, दे देना, देने लगना, जाने देना इत्यादि तद्धितीय संयुक्त क्रियाएँ हैं।

उर्दू तद्धित प्रत्यय

उर्दू भाषा के जो शब्द हिन्दी भाषा में मिल-जुल गये हैं उनमें उर्दू ही के प्रत्यय जोड़े जाते हैं। अतएव यहाँ उर्दू प्रत्यय से बने शब्दों का संक्षेप वर्णन किया जाता है।

१. उर्दू की तद्धितीय भाववाचक संज्ञाएँ—गी, ई, आई आदि प्रत्ययों के योग से बनती हैं, जैसे—जिन्दगी, बन्दगी, मर्दानगी, बुजुर्गी, ताजगी, खुदगर्जी, उस्तादी, बेहयाई, बेवफाई।

२. उर्दू की तद्धितीय कर्तृवाचक संज्ञाएँ—गर, गीर, ची, दार, बीन इत्यादि प्रत्ययों के योग से बनती हैं, जैसे—कारीगर, बाजीगर, राहगीर, मशालची, जमींदार, वफादार, खुर्दबीन।

३. उर्दू की तद्धितीय सम्बन्धवाचक संज्ञाएँ—आना, खाना, ई, दान आदि प्रत्ययों के योग से बनती हैं, जैसे जुर्माना, नजराना, मवेशीखाना, आदमी, कलमदान।

४. उर्दू के तद्धितीय विशेषण—संज्ञाओं के अन्त में आना, ई, बीन, नाक, वान, मन्द, वर, शाही, दार, बाज इत्यादि प्रत्ययों के योग से उर्दू के तद्धितीय विशेषण बनते हैं, जैसे—सालाना, इमारती, गम-

गीन, खतरनाक, मिहरबान, अक्लमन्द, ताकतवर, नादिरशाही, रिश्तेदार, दगाबाज ।

विशेष्य और विशेषण बनाने में प्रत्यय का योग

[अ] **विशेष्य से विशेषण बनाना**—एक प्रत्यय के स्थान पर दूसरे प्रत्यय के लगाने, जोड़ने अथवा निकाल देने से विशेष्य से विशेषण बन जाते हैं। इस प्रकार संस्कृत तथा हिन्दी विशेष्य से बने विशेषण नीचे दिये जाते हैं:—

१. **कृदन्त से बने विशेष्य से विशेषण**—भय से भीत, गमन से गत, खेल से खिलाड़ी।

२. **तद्धित से बने विशेष्य से विशेषण**—दया से दयालु कृपा से कृपालु, समाज से सामाजिक, इतिहास से ऐतिहासिक, नरक से नारकीय, भारत से भारतीय, देश से देशीय, पेट से पेटू।

[ब] **विशेषण से विशेष्य बनाना**—जिस प्रकार प्रत्ययों के परिवर्तन, सयोग अथवा वियोग से विशेष्य से विशेषण बन जाते हैं उसी प्रकार विशेषण से विशेष्य भी बनते हैं:—

१. **कृदन्त से बने विशेषण से विशेष्य**—हृत से हरण, स्तम्भित से स्तम्भ, भूत से भाव, लड़ाका से लड़ाई, लुटेरा से लूट।

२. **तद्धित से बने विशेषण से विशेष्य**—धनी से धन, आनन्दित से आनन्द, मायावी से माया, शारीरिक से शरीर, ऐतिहासिक से इतिहास।

[स] **पुल्लिंग विशेष्य से स्त्रीलिंग विशेष्य बनाना**—पुल्लिंग विशेष्य से स्त्रीलिंग विशेष्य बनाने के लिए ई, इया, नी, आइन, आनी, आ इत्यादि स्त्रीलिंग प्रत्यय लगाये जाते हैं, जैसे—देव से देवी, नर से नारी, कुत्ता के कुतिया, ग्वाला से ग्वालिन, तेली से तेलिन, ऊँट से ऊँटिन ऊँटनी, ठाकुर से ठकुराइन, चचा से चचानी या चाची, जेठ से जेठानी, बालक से बालिका।

[द] स्त्रीलिंग विशेष्य के पुल्लिङ्ग विशेष्य बनाना—स्त्रीलिंग विशेष्य से पुल्लिंग विशेष्य बनाने के लिए ओई, आ, आव, इत्यादि पुल्लिंग प्रत्यय लगाये जाते हैं, जैसे—बहन से बहनोई, ननद से ननदोई, भैंस से भैंसा, बिल्ली से बिलाव।

प्रत्ययवत् शब्द

संस्कृत भाषा में कई शब्द ऐसे हैं जो प्रत्यय के समान प्रयुक्त होते हैं। यहाँ कुछ ऐसे शब्द दिये जाते हैं:—

अधीन—स्वाधीन, पराधीन। **अन्तर**—देशान्तर, भाषान्तर। **अन्वित**—दोषान्वित, क्रोधान्वित। **अध्यक्ष**—सभाध्यक्ष, कोषाध्यक्ष। **अतीत**—गुणातीत, आशातीत। **अनुरूप**—गुणानुरूप, योग्यतानुरूप। **अनुसार**—कर्मानुसार, क्रमानुसार। **अर्थ**—धर्मार्थ, समालोचनार्थ। **अर्थी**—शिक्षार्थी, परमार्थी। **आक्रान्त**—पादाक्रान्त, चिन्ताक्रान्त। **आतुर**—प्रेमातुर, कामातुर। **आकुल**—शोकाकुल, चिन्ताकुल। **आचार**—शिष्टाचार, पापाचार। **आपन्न**—स्थानापन्न, दोषापन्न। **आशय**—महाशय, जलाशय। **आस्पद**—हास्यास्पद, लज्जास्पद। **आढ्य**—धनाढ्य, गुणाढ्य। **उत्तर**—लोकोत्तर, भोजनोत्तर। **कर**—प्रभाकर, दिनकर। **कार**—प्रबन्धकार, भाष्यकार। **कालीन**—समकालीन, तत्कालीन। **गम्य**—बुद्धिगम्य, विचारगम्य। **ग्रस्त**—विचारग्रस्त, विवादग्रस्त। **घात**—विश्वासघात, आत्मघात। **घ्न**—कृतघ्न, शत्रुघ्न। **चर**—जलचर, निशाचर। **चिन्तक**—शुभचिन्तक, हितचिन्तक। **जन्य**—क्षोभजन्य, अज्ञानजन्य। **ज**—अण्डज, पिण्डज। **जाल**—जगजाल, मायाजाल। **जीवी**—श्रमजीवी, कष्टजीवी। **दर्शी**—दूरदर्शी, कालदर्शी। **द**—जलद, धनद। **दायक**—सुखदायक, मङ्गलदायक। **दायी**—सुखदायी, आनन्ददायी। **धर**—महीधर, पयोधर। **धार**—कर्णधार, सूत्रधार। **धर्म**-कुलधर्म, सेवाधर्म। **नाशक**—कृमिनाशक, धननाशक। **निष्ठ**—धर्मनिष्ठ, कर्त्तव्यनिष्ठ। **परायण**—धर्मपरायण, कर्त्तव्यपरायण। **बुद्धि**—धर्मबुद्धि, पुण्यबुद्धि।

भाव—मित्रभाव, द्वेषभाव । भेद—पाठभेद, अर्थभेद । युत—श्रीयुत, धर्मयुत । रहित—ज्ञानरहित, धनरहित । रूप—न्यायरूप, मायारूप । शील—धर्मशील, सहनशील । शाली—भाग्यशाली, ऐश्वर्यशाली । शून्य—ज्ञानशून्य, बुद्धिशून्य । साध्य—द्रव्यसाध्य, कष्टसाध्य । स्थ—गृहस्थ, तटस्थ । हर—पापहर, रोगहर । हीन—कर्महीन, बुद्धिहीन । ज्ञ—धर्मज्ञ, सर्वज्ञ ।

तुलनासूचक प्रत्यय—तुलना के अर्थ में तर तथा तम प्रत्ययों का प्रयोग होता है । इस प्रकार के प्रत्यय विशेषणों में लगाये जाते हैं । जैसे—मधुर से मधुरतर, मधुरतम; प्राचीन से प्राचीनतर, प्राचीनतम; लघु से लघुतर, लघुतम; स्वच्छ से स्वच्छतर, स्वच्छतम ।

समास से बने शब्द

अब तक हमने उन शब्दों का वर्णन किया है जो एक धातु अथवा क्रिया में कृत प्रत्यय लगाकर अथवा एक सिद्ध शब्द में तद्धित प्रत्यय लगाकर बनाये जाते हैं । इनके अतिरिक्त दो अथवा अधिक सिद्ध शब्द मिलाकर भी नये शब्द बनाये जाते हैं । जिस प्रक्रिया से ऐसे नये शब्द बनाये जाते हैं उसको **समास** कहते हैं । समास छः प्रकार के होते हैं । १. अव्ययी भाव, २. तत्पुरुष, ३. कर्मधारय, ४. द्विगु, ५. बहुव्रीह और ६. द्वन्द्व समास । समस्त शब्दों का सम्बन्ध व्यक्त करने की रीति को **विग्रह** कहते हैं । हम निम्नलिखित पंक्तियों में समास-भेद का क्रमानुसार वर्णन करेंगे ।

समास और उसके भेद

[१] **अव्ययीभाव समास**—जिस समास में पहला शब्द प्रधान होता है और जो समूचा शब्द क्रिया विशेषण अव्यय होता है उसे अव्ययी भाव समास कहते हैं । संस्कृत में अव्ययी भाव समास का पहला शब्द संज्ञा अथवा विशेषण होता है । हिंदी में संज्ञा तथा अन्य शब्द-भेदों की द्विरुक्ति से भी अव्ययी भाव समास बनता है, जैसे—

१. **संस्कृत में**—यथाविधि, यावज्जीवन, आजन्म, आजानु, प्रतिदिन, उपकूल, अनुकूल, अधर्म, निर्विघ्न। २. **हिन्दी में**—निधड़क, भरपेट, अनजाने, हाथोंहाथ, एकाएक। ३. **उर्दू में**—हर रोज, बेशक, बखूबी नाहक। **हिन्दुस्तानी में**—हरघड़ी, हरदिन, बेकाम, बेखटके।

[२] **तत्पुरुष समास**—जिस समास में दूसरा शब्द प्रधान होता है उसे तत्पुरुषसमास कहते हैं। इस समास में पहला शब्द बहुधा संज्ञा अथवा विशेषण होता है और इनके विग्रह में इस शब्द के साथ कर्ता और सम्बोधनकारकों के अतिरिक्त शेष कारकों की विभक्तियाँ लगती हैं, जैसे—१. **कर्म तत्पुरुष**—स्वर्गप्राप्त, आशातीत, देशगत, मनचोर। २. **करण तत्पुरुष**—ईश्वरदत्त, तुलसीकृत, भक्तिवश, मदान्ध, कष्ट-साध्य, कपड़छन, मुँहमाँगा मदमाता, ३. **सम्प्रदान तत्पुरुष**—कृष्णार्पण, देश-भक्ति, बलिपशु, रणनिमन्त्रण, पाठशाला, ठकुरसुहाती ४. **अपादान तत्पुरुष**—जन्मान्ध, ऋणमुक्त, पदच्युत; जाति-भ्रष्ट, धर्मविमुख, भवतारण, गुरुभाई, ५. **सम्बन्ध तत्पुरुष**—राजपुत्र, राजमन्दिर, पराधीन, घुड़दौड़, अमचूर, मृगछौना, ६. **अधिकरण-तत्पुरुष**—ग्रामवास, निशाचर, कलाप्रवीण, गृहप्रवेश, आपबीती।

[३] **कर्मधारय समास**—जिस समास में पूर्व पद विशेषण और उत्तर पद उसी विशेषण का विशेष्य हो अथवा दोनों पद विशेषण हों उसे कर्मधारयसमास कहते हैं। इसके दो भेद हैं—१. **विशेषतावाचक** २. **उपमानवाचक**।

१. **विशेषतावाचक कर्मधारय**—जिस समास से विशेष्य-विशेषण भाव सूचित हो उसे विशेषतावाचक समास कहते हैं, जैसे—सद्गुण, परमानन्द, भलामानस, जन्मान्तर, पुरुषोत्तम, शीतोष्ण, शुद्धाशुद्ध, धर्मबुद्धि, दुर्वचन, निराशा, घृतान्न, छायातरु।

२. **उपमानवाचक कर्मधारय**—जिसमें उपमानोपमेय भाव जाना जाता है उसे उपमानवाचक कर्मधारय कहते हैं, जैसे—चन्द्रमुख, प्राणप्रिय, चरणकमल, पाणिपल्लव, पुरुष-रत्न, साधु-समाज-प्रयाग।

[४] द्विगु समास—पहले बताया जा चुका है कि जिस समास में उत्तर पद मुख्य और पूर्वपद संख्यावाचक हो उसे द्विगु समास कहते हैं, जैसे—त्रिभुवन, पट्पदा, नवग्रह, पंसरी, चौबाला।

[५] द्वन्द्व समास—जिस समास में पूर्व और उत्तर दोनों पद प्रधान होते हैं उसे द्वन्द्व समास कहते हैं, जैसे—राधा-कृष्ण, कन्द-मूलफल। तन-मन-धन। कपड़ा-लत्ता, लूट-मार, गोला-बारूद।

[६] बहुब्रीहि समास—जिस समास में कोई भी पद प्रधान नहीं होता और जो अपने पदों से भिन्न किसी संज्ञा का विशेषण होता है उसे बहुब्रीहि समास कहते हैं। समास के विग्रह में सम्बन्धवाचक सर्व-नाम के साथ कर्त्ता और सम्बोधन कारकों के अतिरिक्त शेष जिन कारकों की विभक्तियां लगती हैं उन्हीं के नामों के अनुसार इस समास का नाम होता है। यहां केवल उन्हीं समासों के नाम दिये जाते हैं जो हिन्दी में व्यवहृत होते हैं, जैसे—कृतकार्य, दत्तचित्त, निर्जन, दशानन, प्रफुल्ल कमल, कहा कही, पश्चिमोत्तर, निर्दय, विधवा, निर्धन।

समास के सामान्य नियम—हिन्दी समास जो पहले से बने हैं वही भाषा में प्रचलित हैं। शिष्ट लेखक नये शब्द नियमानुसार बना सकते हैं। एक समास में आनेवाले शब्द एक ही भाषा के होने चाहिए। इस नियम का अपवाद भी हैं, जैसे—रेलगाड़ी, धन-दौलत। एक ही समास अर्थभेद अथवा पूर्वापर संबन्ध से कई प्रकार का होता है, जैसे—सत्यव्रत शब्द सत्य और व्रत के अर्थ में द्वन्द्व समास, सत्य ही व्रत के अर्थ में कर्मधारय समास, सत्य का व्रत के अर्थ में तत्पुरुष समास और सत्य है व्रत जिसका के अर्थ में बहुब्रीहि समास है।

पुनरुक्ति से बने शब्द

उपसर्ग, प्रत्यय तथा समास से बने हुए शब्दों के अतिरिक्त किसी शब्द को दुहराने से भी शब्द बनते हैं। ऐसे शब्द तीन प्रकार के होते हैं। निम्नलिखित पंक्तियों में इनका उल्लेख किया जाता है:—

[१] पूर्ण पुनरुक्ति—जब कई-एक शब्द एक ही साथ लगातार दो अथवा तीन बार प्रयुक्त होते हैं तब उन सब को पूर्ण पुनरुक्ति शब्द कहते हैं। ऐसे शब्द कई प्रकार के होते हैं :—

[अ] संज्ञा की पुनरुक्ति—१. अतिशयता के अर्थ में हँसी-हँसी, पानी-पानी। प्रयोग—वह शर्म से पानी पानी हो गया। २. वस्तुओं के पृथक निर्देश के अर्थ में—घर-घर, रोम रोम, बूँद-बूँद, कौड़ी-कौड़ी प्रयोग—कौड़ी-कौड़ी माया जोड़ी। ३. परस्पर संबन्ध के अर्थ में मित्र-मित्र, ठठेर-ठठेर। प्रयोग—मित्र मित्र का व्यवहार। ४. एक जातीयता के अर्थ में—लड़के-लड़के, फूल-फूल। प्रयोग—फूल फूल अलग कर दो। ५. भिन्नता के अर्थ में—आदमी-आदमी, बात-बात, रंग-रंग। प्रयोग—रंग-रंग के फूल। ६. रीति के अर्थ में—पांव-पांव, लौटे-लौटे। प्रयोग—पाँव-पाँव चलना।

[ब] सर्वनाम की पुनरुक्ति—१. प्रत्येक के अर्थ में—अपना-अपना; निज-निज। प्रयोग—अपना-अपना सब चाहते हैं। २. भिन्नता के अर्थ में जो-जो, जिस-जिस, तिस-तिस, किस-किस, वही-वही, सो-सो, कोई-कोई, कौन-कौन, क्या-क्या। प्रयोग—जो-जो तुमने कहा वही मैंने सुना। ३. न्यूनता के अर्थ में—कुछ-कुछ। प्रयोग—मैं कुछ-कुछ सुन रहा हूँ।

[स] विशेषण की पुनरुक्ति—१. विभिन्नता के अर्थ में—कौन कौन, क्या-क्या, किस-किस, जो-जो, कोई-कोई, हरी-हरी, नये-नये। प्रयोग—जो जो आदमी आये हैं उन्हें खिलादो २. एक जातीयता के अर्थ में—बड़े बड़े, छोटे-छोटे। प्रयोग—बड़े-बड़े आदमी कुर्सी पर बैठे हैं। ३. अतिशयता के अर्थ में—काले-काले, फूले-फूले, ऊँचे-ऊँचे। प्रयोग—ऊँचे-ऊँचे घर। ४. न्यूनता के अर्थ में—खट्टी खट्टी, छोटे छोटे,। प्रयोग—उसके छोटे-छोटे पाँव बड़े सुन्दर हैं। ५. क्रम के अर्थ में—एक एक, दो दो, चार-चार। प्रयोग—एक-एक आदमी करके आया।

[द] क्रिया की पुनरुक्ति—१. हठ के अर्थ में—वह आयेगा, आयेगा, फिर आयेगा। २. संशय के अर्थ में—तुम आयेंगे आयेंगे कहते हो, परन्तु आते नहीं। ३. आदर इत्यादि के अर्थ में—आइए-आइये, देखो-देखो, जाइए-जाइए। ५. अन्य क्रियायों की पुनरुक्ति—देखता-देखता, मारा-मारा, लिखते-लिखते, बचाये न बचेगा, उठाये न उठेगा। प्रयोग—मैं पूछता पूछता आया हूँ।

[ध] क्रियाविशेषण की पुनरुक्ति—धीरे-धीरे, जब-जब, ऊपर-ऊपर, पास-पास, आगे-आगे, अभी-अभी। प्रयोग—वह कहीं-कहीं पाया जाता है।

[र] विस्मयादिबोधक अव्ययों की पुनरुक्ति—अरे अरे! हाय-हाय! राम राम!

[ल] विभक्तियुक्त पुनरुक्ति—आगे ही आगे, साथ ही साथ, कुल का कुल, घर का घर, बाहर का बाहर, कहीं का कहीं। प्रयोग—तुमने वह पुस्तक कहीं की कहीं रख दी।

[२] अपूर्ण पुनरुक्त शब्द—ऐसे शब्द दो रीतियों से बनते हैं :—

[अ] दो सार्थक शब्दों के मेल से—१. संज्ञा—बीच-बचाव, हलचल, बाल-बच्चे, काम-काज भाला-पट्टी, २. विशेषण—लूला-लँगड़ा, ऐसा-वैसा, काला-कलूटा, भरा-पूरा। ३. क्रिया—समझाना-बूझना, हिलना-डोलना, लड़ना-भिड़ना ४. अव्यय—यहाँ वहाँ जहाँ-तहाँ, जैसे-तैसे, दायें-बायें।

[ब] सार्थक और निरर्थक शब्द के मेल से—संज्ञा—टाल-मटोल, पूछ-ताछ, झाड़ूझाड़ू, भाड़-भाड़। २. विशेषण—टेढ़ा-मेढ़ा, सीधा-साधा, भोला-भाला, ठीक-ठाक। ३. क्रिया—देखना-भालना, रोना-धोना, होना-हवाना, धोना-धाना। ५. अव्यय—औने-पौने, आमने-सामने, आसपास।

[स] दो निरर्थक शब्दों के मेल से—अटरसटर, अंट संट

अगड़-बगड़, टीम-टाम, चीं चपड़, हट्टा-कट्टा, सटर-पटर।

[३] अनुकरणवाचक शब्द—[अ] संज्ञा—भनभन, सनसन, चीचीं, गड़बड़, पटपट, झनझन, गड़गड़ाहट, भड़भड़ाहट, [ब] विशेषण—गड़बड़िया, खटपटिया, भड़भड़िया, [स] क्रिया—हिनहिनाना, सनसनाना, मिनमिनाना, पटपटाना, झनझनाना। [द] क्रियाविशेषण—झटपट, तड़पड़, थरथर, दनादन।

नोट—टाँय टाँय फिस, लबड़धौंधौ, आदि अनर्गल शब्द कहलाते हैं।

सहचर शब्द

सहचर शब्द द्वन्द्व समास से बनते हैं। ये प्रायः तीन प्रकार के होते हैं। १. विपरीतार्थबोधक सहचर शब्द—आय-व्यय, जन्म-मृत्यु, जयपराजय, जीवन-मरण, स्वर्ग-नरक, २. एकार्थ-बोधक सहचर शब्द—बल-विक्रम, धन-दौलत, श्रद्धा-भक्ति, जीव-जन्तु, मान-मर्यादा, मणि मुक्ता, आकार-प्रकार। ३. सजातीय सहचर शब्द—अहार-विहार, अन्न-वस्त्र, अस्त्र-शस्त्र साज-बाज, बाजा-गाजा, रंग-ढंग।

सन्धि से बने शब्द

दो वर्णों के आपस में मिल जाने से जो विकार होता है उसे संधि कहते हैं। दो वर्णों के मिलने को संयोग भी कहते हैं। संयोग और संधि में यह भेद है कि संयोग में अक्षर नहीं बदलते अर्थात् जैसे के तैसे बने रहते हैं; परन्तु सन्धि में उच्चारण के अनुसार अक्षरों के मिल जाने पर उनके रूप में कुछ न कुछ परिवर्तन हो जाया करता है। जैसे—पत्थर, टक्कर, लक्ष्मी, इन्द्र संयोग है। धर्म्मार्थ, दिग्गज, निष्फल सन्धि हैं।

सन्धि और संयोग

सन्धि के भेद—१. दो स्वरों के आपस में मिलने को स्वर सन्धि कहते हैं। २. व्यञ्जन वर्ण के बाद स्वर या व्यञ्जन वर्ण आकर

मिले तो व्यञ्जन सन्धि होती है। ३. विसर्ग के साथ स्वर या व्यञ्जन की सन्धि को विसर्ग सन्धि कहते हैं।

[१] स्वर सन्धि —(१) दो सवर्ण स्वर मिलकर दीर्घ हो जाते हैं। जैसे—परम + अर्थ = परमार्थ, विद्या + आलय = विद्यालय, गिरि + इन्द्र = गिरीन्द्र, नदी + ईश = नदीश, भानु + उदय = भानूदय, वधू + उत्सव = वधूत्सव।

(२) अ, या, आ, के परे इ या ई रहे तो दोनों मिल कर ए हो जाते हैं, जैसे—देव + इन्द्र = देवेन्द्र, परम + ईश्वर = परमेश्वर, महा + इन्द्र = महेन्द्र, रमा + ईश = रमेश।

(३) यदि अ या आ के परे उ या ऊ हों तो वे दोनों मिलकर ओ हो जाते हैं, जैसेः—हित + उपदेश = हितोपदेश, जल + ऊर्मि = जलोर्मि, महा + उत्सव = महोत्सव, महा + ऊर्मि = महोर्मि।

(४) यदि अ या आ के परे ऋ हो तो वे दोनों मिलकर अर् हो जाते है, जैसः—देव + ऋषि = देवर्षि, महा + ऋषि = महर्षि।

(५) यदि अ या आ के बाद ए या ऐ हो तो दोनों मिलकर ऐ हो जाते हैं, जैसे—एक + एक = एकैक, मत + ऐक्य = मतैक्य, विद्या + एव = विद्यैव, महा + ऐरावत = महैरावत।

(६) अ या आ के बाद ओ या औ हो तो दोनों मिलकर औ हो जाते हैं, जैसे—जल + ओघ = जलौघ, परम + औषध = परमौषध, महा + औषधि = महौषधि, महा + औदार्य = महौदार्य।

(७) इ या ई के परे यदि कोई असवर्ण स्वर आये तो इ या ई बदल कर य् हो जाता है, जैसे—यदि + अपि = यद्यपि, अति + आचार अत्याचार, अभि + उदय = अभ्युदय, नि + ऊन = न्यून, प्रति + एक = प्रत्येक।

(८) यदि उ या ऊ के परे कोई असवर्ण स्वर आये तो दोनों मिल कर व हो जाते हैं, जैसे—अनु + अय = अन्वय, अनु + इत = अन्वित, अनु + एषण = अन्वेषण।

(६) यदि ए के परे कोई भिन्न स्वर हो; तो ए के स्थान में अय् हो जाता है, जैसे—शे + अयन = शयन।

(१०) यदि ऐ के परे कोई भिन्न स्वर हो, तो ऐ के स्थान में आय हो जाता है, जैसे:—विने + अक = विनायक, गै + अक = गायक।

(११) यदि ओ के परे कोई भिन्न स्वर हो तो ओ के स्थान में अव हो जाता है, जैसे—भो + अन = भ् + अव् + अन = भवन, पो + इत्र = प + अव् + इत्र = पवित्र, गो + ईश = ग + अव् + ईश = गवीश।

(१२) यदि औ के परे कोई भिन्न स्वर हो, तो औ के स्थान में आव हो जाता है, जैसे—पौ + अक = प् + आव् + अक = पावक, नौ + इक = न् + आव् + इक = नाविक, भौ + उक = भ् + आव् + उक = भावुक।

[२] व्यञ्जन सन्धि (१) त् या द् के परे च या छ हो अथवा ज या झ हो तो त् या द् के स्थान में क्रम से च् और ज् हो जाते हैं, जैसे—उत् + चरण = उच्चारण। उत् + छिन्न = उच्छिन्न। सत् + जन = सज्जन।

(२) यदि पद के अन्त में त् या द् हो और इनके परे श वर्ण हो तो त् या द् के स्थान में च हो जाता और श बदलकर छ हो जाता है, जैसे—उत् + शिष्ट = उच्छिष्ट।

(३) यदि पद के अन्त में त् या द् और इनके परे ह हो तो त् या द् के स्थान में द और ह के स्थान में ध हो जाता है, जैसे—उत् + हत = उद्धत।

(४) पदान्त त् के बाद यदि कोई स्वर आये तो त् बदलकर द् हो जाता है, जैसे—जगत् + ईश = जगदीश, महत् + औषध = महौषध।

(५) यदि पद के अन्त में द् हो और इसके बाद न या म आये,

तो द् विकल्प से न् में बदल जाता है। यदि इस द् के बाद मय या मात्र आये तो द् सदा न् में बदल जाता है, जैसे—तद्+मय=तन्मय।

(६) यदि पद के अन्त में किसी वर्ग का प्रथम अक्षर हो और उसके बाद मय अथवा मात्र आये, तो वर्ग पञ्चम अक्षर हो जायगा, जैसे—वाक्+मय=वाङ्मय; चित्+मय=चिन्मय।

(७) यदि त और थ के पहले ष वर्ण आये, तो त और थ क्रमशः ट और ठ हो जाते हैं, जैसे—आकृष+त=आकृष्ट, षष्+थ=षष्ठ।

(८) यदि पद के अन्त में क् हो और इसके परे कोई स्वर अथवा किसी वर्ग का तृतीय या चतुर्थ वर्ण हो, किंवा य, र, ल, व, इनमें से कोई अक्षर आये, तो पदान्त का क् बदल कर ग् हो जाता है, जैसे—दिक्+अन्त=दिगन्त, वाक्+आडम्बर=वागाडम्बर।

(६) यदि पद के अन्त में किसी वर्ग का प्रथम अक्षर हो और उसके परे न या म हो, तो वर्ग का वह प्रथम अक्षर अपने वर्ग का तृतीय अथवा पञ्चम अक्षर हो जाता है, जैसे—दिक्+नाग=दिङ्नाग, दिग्नाग; जगत्+नाथ=जगन्नाथ, जगद्नाथ।

(१०) न के पूर्व च् या ज् वर्ण आयें, तो न बदलकर ञ हो जाता है, जैसे—यज्+न=यज्ञ, याच्+ना=याञ्ञा।

(११) म् के परे स्पर्श वर्ण आने से विकल्प से उस वर्ग का पञ्चम अक्षर अथवा अनुस्वार हो जाता है, जैसे—सम्+कल्प=संकल्प या सङ्कल्प।

(१२) पदान्त म् के परे यदि अन्तःस्थ अथवा ऊष्म वर्ण आये तो म् का अनुस्वार हो जाता है, जैसे—सम्हार+=संहार।

(१३) छ वर्ण के पूर्व यदि कोई स्वर रहे, तो छ का च्छ हो जाता है, जैसे—आ+छादन=आच्छादन।

[३] विसर्ग संधि (१) यदि विसर्ग के परे च या छ हो तो विसर्ग का श् हो जाता है, जैसे—निः+चल=निश्चल, निः+छल=निश्छल।

(२) यदि विसर्ग के बाद त या थ हो, तो विसर्ग का स् हो जाता है, जैसे - मनः+ताप=मनस्ताप।

(३) यदि विसर्ग के पहले अ हो और आगे किसी वर्ग का तृतीय, चतुर्थ अथवा पञ्चम वर्ण किंवा य, र, ल, व, ह, इनमें से कोई वर्ण हो, तो विसर्ग और पूर्ववर्ती अ दोनों मिलकर ओ हो जाते हैं, जैसे—मनः+योग=मनोयोग; तेजः+राशि=तेजोराशि।

(४) यदि विसर्ग के पहले अ, आ को छोड़कर कोई दूसरा स्वर हो और आगे किसी वर्ग का तृतीय, चतुर्थ या पञ्चम वर्ण, य, र, ल, व, ह या अन्य कोई स्वर हो, तो विसर्ग के स्थान में र् हो जाता है; जैसे—निः+धन=निर्धन; निः+गुण—निर्गुण।

(५) यदि विसर्ग के पहले अ, आ को छोड़कर कोई दूसरा स्वर रहे और आगे र हो, तो विसर्ग का लोप हो जाता है और उसके पहले का ह्रस्व स्वर दीर्घ हो जाता है; जैसे—निः+रोग=नीरोग; निः+रस=नीरस।

(६) यदि विसर्ग के पूर्व इ अथवा उ हो और आगे क, ख और प, फ हो, तो विसर्ग ष हो जाता है, जैसे—निः+कपट=निष्कपट।

नोट—'दुःख' शब्द का विसर्ग ज्यों का त्यों रहता है।

(७) यदि विसर्ग के बाद श्, ष् या स् हो तो विसर्ग ज्यों का त्यों रहता है अथवा उसके स्थान में विसर्ग के आगे का वर्ण हो जाता है, जैसे—निः+सन्देह=निःसन्देह या निस्सन्देह।

(८) यदि किसी शब्द के आदि में स हो और उसके पहले अ और आ को छोड़कर कोई स्वर अथवा क् या र् आये, तो स का ष हो जाता है, जैसे—नि+सिद्ध=निषिद्ध, वि+सम=विषम।

सूचना—सन्धि का सम्बन्ध संस्कृत व्याकरण से है; अतः इसकी विवेचना यहाँ पूर्ण रूप से नहीं की गई है। हिन्दी में शुद्ध संस्कृत शब्दों और सामासिक पदों का भी उपयोग होता है, इसलिए थोड़े से नियम ही यहां दिये गये हैं।

अध्याय १०

हिन्दी भाषा का शब्द-समूह

प्रत्येक भाषा में शब्दों का अत्यधिक महत्त्व होता है। शब्दों से भाषा अनुप्राणित होती है और उसकी लोक-प्रियता बढ़ती है। अतएव किसी भाषा का समुचित ज्ञान प्राप्त करने के लिए उसकी शब्दावली पर विचार करना अत्यन्त आवश्यक है। जब हिन्दी भाषा की शब्दावली पर विचार करते हैं तब हमें पता चलता है कि उसमें कई भाषाओं के शब्द घुल-मिल गये हैं। यह बात केवल हिन्दी के सम्बन्ध में नहीं कही जा सकती; शब्द-समूह की दृष्टि से प्रत्ये जीवित भाषा एक प्रकार से खिचड़ी ही होती है। अतः अन्य समस्त भाषाओं के समान ही हिन्दी शब्द-समूह में अनेक जीवित तथा मृत भाषाओं के शब्द पाये जाते हैं। अपनी सुविधा के अनुसार हम हिन्दी शब्द-समूह को चार श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं :—

हिन्दी शब्द-समूह का वर्गीकरण

(१) आर्य भाषाओं के शब्द २) अनार्य भाषाओं के शब्द (३) विदेशी भाषाओं के शब्द और (४) प्रान्तीय भाषाओं के शब्द।

१. आर्य भाषाओं के शब्द—हिन्दी शब्द-समूह में उन शब्दों की संख्या सबसे अधिक है जो प्राचीन आर्य भाषाओं से सम्बन्ध रखते हैं। ऐसे शब्द तीन प्रकार के हैं–तत्सम, अर्ध तत्सम, और तद्भव।

(क) तत्सम शब्द—साहित्यिक हिन्दी में ऐसे शब्दों की संख्या अत्यधिक है जो अपने विशुद्ध रूप में संस्कृत भाषा से आये हैं। इन शब्दों को हम तत्सम कहते हैं। आधुनिक साहित्यिक हिन्दी में तत्सम शब्दों की संख्या बढ़ती जा रही है। अग्नि, स्वामी, वत्स, पिता, भ्राता, रात्रि तत्सम शब्द हैं।

(ख) **अर्ध तत्सम शब्द**—कुछ ऐसे संस्कृत शब्द हैं जो प्राकृत-भाषा बोलनेवालों के उच्चारण से बिगड़ते-बिगड़ते विकृत हो गये हैं। ऐसे संस्कृत शब्दों को **अर्धतत्सम** कहते हैं। कारज, अच्छर, रात, दई क्रमशः कार्य, अक्षर, रात्रि और दैव के अर्ध तत्सम रूप हैं।

(ग) **तद्भव शब्द**—साधारण बोल-चाल में हिन्दी भाषा-भाषी ऐसे शब्दों का प्रयोग करते हैं जो प्राचीन आर्यभाषाओं से मध्यकालीन भाषाओं में होते हुए चले आ रहे हैं। व्याकरण के विचार से ऐसे शब्द **तद्भव** हैं। *तद्भव शब्द या तो सीधे प्राकृत से हिन्दी भाषा में* आ गये हैं या प्राकृत द्वारा संस्कृत से निकले हैं। आग, काम, काज पंख, खेत, किसान इत्यादि शब्द तद्भव हैं।

बहुत से शब्द तीनों रूपों में मिलते हैं, परन्तु कई शब्दों के सब रूप नहीं पाये जाते। हिन्दी क्रिया-शब्द प्रायः सब के सब, तद्भव हैं। यही दशा सर्वनामों की भी है।

तत्सम और तद्भव शब्दों में **रूप की विभिन्नता** के साथ साथ **अर्थ की विभिन्नता** भी होती है। तत्सम शब्द प्रायः सामान्य अर्थ में आता है और तद्भव शब्द विशेष अर्थ में, जैसे—स्थान और थाना। कभी-कभी तत्सम शब्द से गुरुता का अर्थ निकलता है और तद्भव से लघुता का, जैसे—दर्शन और देखना। इसी प्रकार तत्सम के दो अर्थों में से तद्भव से केवल एक ही अर्थ सूचित होता है, जैसे—वंश का अर्थ है कुटुम्ब और बांस, परन्तु बाँस से केवल एक ही अर्थ का बोध होता है।

२. अनार्य भाषाओं के शब्द—हिन्दी भाषा में बहुत से ऐसे भी शब्द पाये जाते हैं जो प्राचीन काल में भारत के आदिम निवासियों की बोलियों में से ले लिये गये थे। इन शब्दों को **देशज** कहते हैं। पेट, कोड़ी, कौड़ी, पगड़ी, खिड़की, डोंगी आदि देशज हैं।

३. विदेशी भाषाओं के शब्द—सैकड़ों वर्षों तक विदेशी शासन में रहने के कारण हिन्दी पर कुछ विदेशी भाषाओं का भी प्रभाव पड़ा है।

यह प्रभाव दो श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है:—१. मुसलमानी और २. युरोपीय।

[१] **मुसलमानी प्रभाव**—१००० ई० के लगभग मुसलमानों ने उत्तरी भारत के अधिकांश भाग पर अपना अधिकार जमा लिया था। अतः उनके प्रभाव से तत्कालीन हिन्दी में बहुत से शब्द सम्मिलित हो गये थे। रासो तक में, फारसी शब्दों की संख्या कम नहीं है। इससे ज्ञात होता है कि हिन्दी में विदेशी भाषा के शब्दों की खपत पहले से ही प्रारंभ हो गई थी। ज्यों-ज्यों मुसलमानों का प्रभुत्व बढ़ता गया त्यों-त्यों उनकी भाषाओं के भी शब्द भारतीय भाषाओं में आते गये। अठारहवीं शताब्दी तक तो गाँव की बोली में भी विदेशी शब्दों का प्रचलन हो गया था। ऐसी दशा में हिन्दी साहित्य का शब्द-समूह उनसे अछूता न रह सका। फल-स्वरूप हिन्दी में इस समय अरबी, फारसी तथा तुर्की भाषा के बहुत से शब्द पाये जाते हैं।

क. **अरबी भाषा के शब्द**—एतराज, सिफारिश, अदालत, मुकद्दमा, मालूम, अदना, माफी, आदत, बाद, फुरसत, हक, असबाब, हकीम, अजनबी, हुक्म इत्यादि। ख. **फारसी भाषा के शब्द**— आदमी, दूकान, चाकू, कमर, शर्म, होश, आजाद, जोर, गुल, दरबार, निशान, अरमान, दोस्त, रास्ता, खून इत्यादि। ग. **तुर्की भाषा के शब्द**—तोप, लाश, तमगा, कोतल, उर्दू, बावर्ची, आलमारी, कुमक, काबू, कालीन, आगा इत्यादि।

[२] **युरोपीय प्रभाव**—यवन काल में ही भारत के धन-धान्य पर युरोप-निवासियों की दृष्टि पड़ी और लगभग १५०० ई० से उन्होंने व्यापार के बहाने भारत को अपनाना आरम्भ कर दिया, परन्तु तीन सौ वर्ष तक हिन्दी भाषा-भाषी उनके सम्पर्क से विमुख रहे। जब मुगल साम्राज्य की नींव जर्जर हो गयी और अँगरेजी शासन का प्रादुर्भाव हुआ तब हिन्दी साहित्य विदेशी भाषा के प्रभाव से अछूता न रह सका। फलतः उसमें पोर्चुगीज तथा अँगरेजी शब्दों ने अपना स्थान बना लिया।

क. पोर्च्युगीज़ के शब्द—कमरा, नीलाम, गिर्जा, फ़र्म, पादरी, मेज, गोदाम इत्यादि। ख. अंगरेज़ी के शब्द—प्रेस, कलेक्टर, काउंसिल, थियेटर, टिकट, मास्टर, स्कूल, रजिस्टर, रेल, ट्रेन, बटन, इञ्च, बाल, लाम, फुट, फंड, बिल, टेनिस, पेंसिल इत्यादि।

४. प्रान्तीय भाषाओं के शब्द—विदेशी शब्दों के अतिरिक्त मराठी और बँगला से भी कुछ शब्द हिन्दी में आये हैं।

क. मराठी के शब्द—प्रगति, लागू, चालू, बाड़ा, बाजू, इत्यादि। ख. बँगला के शब्द—उपन्यास, प्राणपण; चूड़ान्त, भद्र लोग, गल्प, नितान्त।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी शब्द-समूह पर कई विदेशी भाषाओं का प्रभाव पड़ा है और उनमें नवीन विचारों को स्फूर्ति मिली है। अब हमें अर्थ की दृष्टि से हिन्दी शब्द-समूह पर विचार करना चाहिए।

पर्यायवाची शब्द

एक शब्द के लिए उसी अर्थ में जो दूसरे शब्द आते हैं उन्हें प्रतिशब्द अथवा पर्यायवाची शब्द कहते हैं। प्रतिशब्द-द्वारा अर्थ और व्याख्या करने में बड़ी सुविधा होती है, पर ध्यान रखना चाहिए कि लिखते समय प्रतिशब्द मूल शब्द से अधिक सरल और व्यावहारिक हों। यह न भूलना चाहिए कि विशेष्य का प्रतिशब्द विशेष्य और विशेषण का विशेषण हो। एक बात और है। प्रत्येक भाषा में बहुत से शब्द ऐसे होते हैं जिनका मोटा अर्थ तो एक ही होता है, परन्तु उनके तात्पर्य भिन्न होते हैं। ऐसी दशा में यदि एक शब्द के स्थान पर बिना सोचे समझे, दूसरा शब्द रख दिया जाय तो पाठक के हृदय में एक खटक सी उत्पन्न हो जाती है। सफल रचनाकार को ऐसे शब्दों का आश्रय लेना चाहिए जो प्रसंगानुसार और उसकी विचार धारा के सच्चे प्रतीक हों। उसे सदैव यह स्मरण रखना चाहिए कि प्रत्येक शब्द किसी विचार का प्रकाशक होता है और उसके भाव के साथ बहुत से सहचर भाव

रहते हैं। विशेष-विशेष स्थान पर विशेष-विशेष सहचर भाव का उदय होता है। चिन्ता शक्ति की वृद्धि के साथ साथ नवीन विचारों के प्रकाशनार्थ नये शब्दों का प्रयोजन होता है। सहचर भावों से पुराने शब्दों से नये शब्द बनते हैं और चिन्ता के प्रकाश के निमित्त उन शब्दों का व्यवहार होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि किसी शब्द का प्रयोग करने से पहले उसका अर्थ समझ लेना आवश्यक है। यहाँ कुछ पर्यायवाची शब्दों के नमूने दिये जाते हैं :—

[अ]

अङ्ग—विग्रह, शरीर, मूर्ति, अवयव, देह, कलेवर, गात्र, तन, काय, वपु, गात, जिस्म। **अग्नि**—आग, वह्नि, पावक, अनल, वैश्वानर, जातवेद, रोहिताश्व, वायुसख, दहन, हव्यवाहन, हुताशन, दव, कृष, धूम्रकेतु, ज्वलन, कृशानु।

[जल की अग्नि को **बड़वाग्नि**, जंगल की अग्नि को **दावाग्नि** तथा पेट की अग्नि को **जठराग्नि** कहते हैं।]

अनी—सेना, फौज, दल, कटक, चमू।

असुर—दनुज, दानव, दैत्य, राक्षस, इन्द्रारि, निश्चर, निशाचर, रजनीचर, तमीचर, मनुजाद। **अनुपम**—अपूर्व, अनोखा, अद्भुत, अनूठा, अद्वितीय, अतुल। **अमृत**—पीयूष, सुधा, अमिय। **अरण्य**—जंगल, विपिन, वन। **अश्व**—वाजि, हय, घोटक, घोड़ा, वाह, सैन्धव, तुरग, गन्धर्व, रविपुत्र।

[आ]

आँख—नेत्र, लोचन, नयन, चक्षु, दृग, अक्षि, चख, दीदा। **आकाश**—द्यौ, व्योम, अभ्रक, गगन, अभ्र, अम्बर, नभ, अन्तरिक्ष, ख, आसमान, अनन्त, पुष्कर, शून्य, अनंग, दिव, वियत। **आनन्द**—मोद, प्रमोद, हर्ष, आमोद, सुख, विहार, चैन, प्रसन्नता, आह्लाद, उल्लास।

[इ]

इच्छा—आकांक्षा, ईप्सा, उत्कण्ठा, अभिलाषा, चाह, कामना, मनोरथ, लालसा, स्पृहा, ईहा, वाञ्छा, लिप्सा, काम। इन्द्र—सुरपति, शचीपति, मघवा, पाकशासन, शक्र, पुरन्दर, वासव, पुरहुत, मेघवाहन, पाकरिपु, जिष्णु, महेन्द्र, देवराज। इंद्राणी—शची, पुलोमजा, इन्द्रवधू, ऐन्द्री, शतावरी, जयवाहिनी, महेन्द्री।

[क]

कपड़ा—वस्त्र, दुकूल, पट, वसन, अम्बर, चीर। कमल—शम्बर, पारिजात, सरोज, जलज, अम्भोज, अब्ज, महोत्पल, पङ्कज, अरविन्द, उत्पल, पद्म, कञ्ज, राजीव, शतदल, अम्बुज, कोकनद, इन्दीवर, अम्भोरुह, कुवलय, पुण्डरीक, पङ्करुह, सरसिज, नलिन, सरसीरुह, तामरस, वारिज, पाथोरुह। कामदेव—कुशमेश, मदन, मन्मथ, मार, कन्दर्प, अनंग, पञ्चशर, शम्बरारि, मनसिज, पुष्पधन्वा, स्मर, मनजात, पुष्पचाप, रतिसखा, नन्दी, मनोभव, अतनु, आत्मज, आत्मभू, पुहुपचाप, कबन्ध, काम, कुसुमबाण, मीनकेतु, रतिपति, विश्वकेतु, मनोज, मयन। किरण—मरीचि, मयूख, अंशु, कर, रश्मि, किरन। कुबेर—किन्नरेश, यक्षराज, धनद, धनाधिप, राजराज। क्रोध—कोप, अमर्ष, रोष, गुस्सा।

[ग]

गणेश—लम्बोदर, एकदन्त, मूषकवाहन, गजवदन, गजानन, विनायक, गणपति, विघ्ननाशक, भवानीनन्दन, महाकाय, विघ्नराज, धूम्रकेतु, मोदक-प्रिय, मोददाता, जगवन्द्य, विद्यावारिधि, गणाधिप, गिरिजानन्दन, गौरीसुत। गंगा—जाह्नवी, देवनदी, सुरसरि, भागीरथी, मन्दाकिनी, देवापगा, भुवनन्दा, त्रिपथगा, सुरापगा, नदीश्वरी, विष्णुपदी, देवनदी। गेह—घर, गृह, निकेतन, भवन, सदन, आगार, मन्दिर, अयन, आयतन, आवास, शाला, निलय, धाम, आलय, ओक, निकेत।

[च]

चतुर—विज्ञ, दक्ष, प्रवीण, निपुण, पटु, नागर, सयाना, कुशल, चंगा, होशियार। चन्द्र—चाँद, इन्दु, चन्द्रमा, औषधीश, हिमांशु, सुधांशु, राकापति, द्विजराज, विधु, सुधाकर, सुधाधर, राकेश, शशि, सारङ्ग, निशाकर, तारापति, मयङ्क, निशापति, रजनीपति, क्षपानाथ, सोम, मृगाङ्क, कलानिधि, शशाङ्क। चाँदनी—चन्द्रिका, कौमुदी, ज्योत्स्ना, चन्द्रमरीची, अमृततरंङ्गिणी।

[ज]

जल—नीर, सलिल, उदक, पानी, अम्बु, तोय, जीवन, वारि, पय, अमृत, घनरस, मेघपुष्प, सर्वमुख, कबन्ध, रस, पाथ, शम्बर, अप, सारङ्ग, पानीय, वन। जमुना—सूर्यसुता, सूर्यतनया, कालिन्दी, अर्कजा, तरणिजा, कृष्णा, रविसुता, यमुना, रवितनया, रविनन्दिनी।

[द]

दास—अनुचर, चाकर, सेवक, नौकर, भृत्य, किङ्कर, परिचारक। दुःख—पीड़ा, व्यथा, कष्ट, संकट, शोक, क्लेश, वेदना, यातना, यन्त्रणा, खेद, क्षोभ, विषाद, सन्ताप, उत्पीड़न। दुर्गा—चण्डिका, अभया, कालिका, शाम्भवी, कुमारी, कल्याणी, कामाक्षी, रोहिणी, सुभद्रा, महागौरी, चामुण्डा, सिंहवाहिनी, वागीश्वरी, धात्री, अजा। देवता—सुर, अमर, देव, निर्जर, विबुध, त्रिदश, आदित्य, गीर्वाण। द्रव्य—धन, वित्त, सम्पदा, विभूति, दौलत, सम्पत्ति।

[न]

नदी—सरिता, तटिनी, आपगा, निम्नगा, निर्झरणी, कूलङ्कषा, जलमाला, अपगा, नद, तरङ्गिणी। नरक—यमालय, यमलोक, यमपुर, दुर्गति, सङ्घात, रौरव। नौका—नाव, तरिणी, जलयान, जलपात्र, पठावनी, तरी, बेड़ा, डोंगी, वनवाहन, पतंग।

[प]

पत्नी—भार्या, दारा, सहधर्मिणी, गृहिणी, वधू, बहू, कलत्र, प्राण-

प्रिया, वल्लभा, तिय, जोय, वामा, वामांगी, तिया, अर्धाङ्गिनी, कलत्री। पति—भर्त्ता, वल्लभ, स्वामी, बालम, अधिपति, भरतार, आर्य, ईश। पवन—हवा, वायु, समीर, मारुत, बात, बयार, अनिल, प्रकम्पन, समीरण, जगत्प्राण, पवमान, प्रभञ्जन, नभप्राण, मृगवाहन। पक्षी—विहग, विहंग, खग, पखेरू, परिन्द, चिड़िया, शकुन्त, अण्डज, पतंग, द्विज, शकुनि। पर्वत—भूधर, शैल, अचल, महीधर, गिरि, नग, भूमिधर, महीधर, मेरु, तुंग, अद्रि, पहाड़। पण्डित—सुधी, विद्वान, कोविद, बुध, धीर, मनीषी, प्राज्ञ, विचक्षण। पत्थर—प्रस्तर, पाषाण, उपल, अश्म, पाहन। पार्वती—उमा, गौरी, ईश्वरी, शिवा, भवानी, रुद्राणी, अम्बिका, आर्या, दुर्गा, अपर्णा, सर्वमंगला, गिरिजा, सती, शैलसुता, अभया, पतिव्रता। पुत्र—तनय, सूनु, सुत, बेटा, लड़का, आत्मज, नन्द, पूत। पुत्री—तनया, सुता, बेटी, लड़की, आत्मजा, दुहिता, नन्दिनी, तनुजा। पृथ्वी—भू, इला, भूमि, पुहुमि, धरा, रत्नावली, उर्वी, वसुमती, धरती, धरणी, वसुधा, श्यामा, बीजप्रसू, वसुन्धरा, अवनि, मेदिनी, क्षौणी, क्षिति, जगती, धरित्री। प्रकाश—प्रभा, छवि, द्युति, ज्योति, चमक, विकास। पुष्प—फूल, सुमन, कुसुम, प्रसून, मञ्जरी, लतान्त।

[ब]

बाण—तीर, शर, विशिख, आशुग, शिलीमुख, नाराच, इषु। बिजली—चञ्चला, चपला, विद्युत, सौदामिनी, दामिन, घनादाम, तड़ित, छटा, बीजुरी, क्षणप्रभा, घनवल्ली, शम्पा, अशनि। ब्रह्मा—आत्मभू, स्वयंभू, चतुरानन, पितामह, हिरण्यगर्भ, लोकेश, विधि, विधाता, स्रष्टा, प्रजापति, अब्जयोनि, कमलासन, अज, कर्त्तार, विरञ्चि, अण्डज, सदानन्द, प्रजापति, नाभिजन्म।

[म]

मधुकर—भौंरा, भ्रमर, भृंग, षट्पद, अलि, द्विरेफ, भँवर, मधुप। मछली—मत्स्य, शकुची, झख, मीन, मकर, जलजीवन, अण्डज।

महादेव—शम्भु, ईश, पशुपति, शिव, महेश्वर, शङ्कर, चन्द्रशेखर, भव, भूतेश, गिरीश, हर, पिनाकी, मदनारि, कपर्दी, शितिकण्ठ, वामदेव, त्रिलोचन, कैलाशनाथ, भूतनाथ, नीलकंठ, गिरिजापति। **मेघ**—अभ्र, धाराधर, बलाहक, घन, जलधर, वारिद, जीमूत, बादल, नीरद, वारिधर, पयोद, अम्बुद, पयोधर, पुरजन, जगजीवन। **मोक्ष**—मुक्ति, कैवल्य, निर्वाण, अपवर्ग, परमधाम, परमपद।

[य]

यम—सूर्यपुत्र, जीवनपति, अन्तक, धर्मराज, कोपन्त, शमन, दंडधर, कीनाश, कृतान्त, श्राद्धदेव, जीवितेश, यमुना-भ्राता, हरि।

[र]

रात—शर्वरी, कादम्बरी, निशा, रैन, रात्रि, रजनी, यामिनी, निशीथ, त्रियामा, विभावरी, तमिस्रा, तमसा। **राजा**—नृप, भूप, महीप, महीपति, नरपति, नरेश, भूपति, राव, नरेन्द्र, सम्राट। **रमा**—कमला, पद्मा, पद्मासना, लक्ष्मी, हरिप्रिया, इन्दिरा, लोकमता, क्षीरोदतनया, समुद्रजा, भार्गवी, श्री।

[व]

विष्णु—गरुड़ध्वज, अच्युत, जनार्दन, चक्रपाणि, विश्वम्भर, मुकुन्द, नारायण, हृषीकेश, दामोदर, केशव, माधव, गोविन्द, लक्ष्मीपति, विधु, विश्वरूप, जलशायी, वनमाली, उपेन्द्र, पीताम्बर, चतुर्भुज, मधुरिपु।

[स]

सब—सर्व, समस्त, निखिल, अखिल, सकल, समग्र, पूर्ण, संपूर्ण **समुद्र**—सागर, जलधि, पारावार, सिन्धु, नीरनिधि, उदधि, नदीश, पयोधि, अर्णव, पयोनिधि, रत्नाकर, अब्धि, वारीश, जलधाम, नीरधि। **समूह**—समुदाय, निकर, वृन्द, गण, संघ, पुञ्ज, राशि, समुच्चय, कलाप, यूथ, दल, झुंड, मंडली, टोली, जत्था। **सरस्वती**—ब्राह्मी, भारती, भाषा, वाचा, गिरा, वाणी, शारदा, इला, वीणापाणि, वागीश,

महाश्वेता, विधात्री, श्री, ईश्वरी, वागेश्वरी। सर्प—अहि, भुजंग, विषधर, व्याल, फणी, उरग, पन्नग, नाग, साँप। सोना—सुवर्ण, स्वर्ण कञ्चन, हाटक, कनक, हिरण्य, हेम, जातरूप, चमीकर। सूर्य—मार्तंड, दिनकर, रवि, छायानाथ, भास्कर, मरीच, निदाघकर, प्रभाकर कमलबन्धु, सविता, पतंग, दिवाकर, हंस, आदित्य, अर्क, भानु, अंशुमाली, ग्रहपति, सहस्रांशु, तरणि। सिंह—शार्दूल, व्याघ्र, पञ्चमुख, मृगराज, वनस्पति, मृगेन्द्र, केशरी, केहरि, पारीन्द्र, केशी, महावीर, नाहर, मृगारि, शेर, पुंडरीक, बब्बर, नखायुध, बहुबल। सुन्दर—रुचिर, चारु, सुहावना, मनोहर, रमणीक, चित्ताकर्षक, ललित, कमनीय, उत्तम, उत्कृष्ट, ललाम, रम्य, सुरम्य, कलित, मञ्जुल, मनोज्ञ, मनभावन। स्त्री—अबला, नारी, वनिता, महिला, ललना, कान्ता, रमणी कलत्र, अंगना, कामिनी, प्रमदा। स्वर्ग—द्यौ, सुरलोक, नाक, दिव, अवगाह, फलोदय, देवलोक। सिंधुर—गज, हस्ती, द्विप, करी, कुंजर, दन्ती, हाथी, कुम्भी, नाग, द्विरद, वारण, मतंग, वितुंड।

एकार्थक शब्दों में सूक्ष्म भेद

हिन्दी भाषा में बहुत से ऐसे शब्द हैं जिनमें साधारण रीति से कोई भेद नहीं जान पड़ता, परन्तु उनमें अर्थगत भेद अवश्य है। अतः ऐसे शब्दों को वाक्यों में प्रयोग करते समय सावधान रहना चाहिए। विद्यार्थियों की सुविधा के लिए यहाँ कुछ नमूने दिये जाते हैं।

अज्ञ, मूर्ख : जिसे कुछ ज्ञान न हो अज्ञ और जो जड़बुद्धि हो वह मूर्ख है।

अज्ञान, अनभिज्ञ : स्वाभाविक बुद्धिरहित अज्ञान और अनुभवशून्य अनभिज्ञ है।

अभिज्ञता, बहुदर्शिता, विज्ञता, वेदन, ज्ञान, पारंगत : विषय का साधारण ज्ञान अभिज्ञता, चारों ओर से समझने की शक्ति बहुदर्शिता, विषय का अधिक ज्ञान विज्ञता, पदार्थों के संबन्ध में इन्द्रियों-द्वारा होने वाला अनुभव वेदन, इन्द्रियों द्वारा प्राप्त अनुभव जब हृदय

में व्याप्त हो जाय तब ज्ञान और विषय की पूर्ण रूप से जानकारी रखनेवाला **पारंगत** है।

अलौकिक, असाधारण, अस्वाभाविक : जो लोक में दुर्लभ हो वह **अलौकिक** है; जिसमें साधारण से विशेषता हो वह **असाधारण** और जो मनुष्य की प्रकृति के प्रतिकूल हो वह **अस्वाभाविक** है। अलौकिक का अस्वाभाविक होना सम्भव है, परन्तु अस्वाभाविक का अलौकिक होना सम्भव नहीं है।

अमूल्य, दुर्मूल्य, बहुमूल्य : जिस वस्तु का कोई मूल्य निर्धारण न किया जा सके वह **अमूल्य**, जिस वस्तु का मूल्य उचित से अत्यन्त अधिक हो वह **दुर्मूल्य**, और जिस वस्तु का मूल्य उचित किन्तु बहुत हो वह **बहुमूल्य** है। विद्या अमूल्य, अकाल पड़ने पर अनाज दुर्मूल्य और हीरा बहुमूल्य है।

अस्त्र शस्त्र, : जो किसी यन्त्र द्वारा चलाया जाय वह **अस्त्र** और जो पास-पास खड़े होकर हाथ से चलाया जाय वह **शस्त्र** है। तोप, बन्दूक अस्त्र हैं; लाठी और तलवार शस्त्र हैं।

अहंकार, अभिमान, दर्प, गर्व, गौरव, दम्भ, मान : अपने को उचित से अधिक समझना **अहंकार**, प्रतिष्ठा में अपने को बड़ा और दूसरों को छोटा समझना **अभिमान**, किसी नियम की पर्वाह न करना **दर्प**, रूप, यौवन, कुल, विद्या और धन के कारण अभिमान करना **गर्व**, अपनी महत्ता का यथार्थ ज्ञान **गौरव**, किसी अयोग्य व्यक्ति का बाह्याडम्बर **दम्भ**, और अपने को पूज्य समझना **मान** है।

अर्पित, प्रदान : छोटों की ओर से बड़ों को देना **अर्पित** और बड़ों की ओर से छोटों को देना **प्रदान** कहलाता है।

आचार, व्यवहार : साधारण बर्ताव को **आचार**, किसी विशेष व्यक्ति के प्रति होने वाले बर्ताव को **व्यवहार** कहते हैं।

आधि, व्याधि : मानसिक पीड़ा को **आधि** और शारीरिक पीड़ा को **व्याधि** कहते हैं।

आनन्दित, आह्लादित, आमोदित, उल्लसित, हर्षित, पुलकित, रोमाञ्चित : आनन्द स्थायी तथा गम्भीर और **आह्लाद** क्षणिक तथा तीव्र होता है। इन्द्रियों की तृप्ति से मनुष्य **आमोदित** होता है। धर्म का विचार कर लोग **आनन्दित** होते हैं। **आह्लाद** मानसिक कारण से और **आमोद** मानसिक तथा शारीरिक दोनों कारणों से उत्पन्न होता है। **उल्लास** में विजयानुभूति होती है। आनन्द होने पर लोग **हर्षित** होते हैं। आनन्द अथवा आह्लाद से लोग **रोमाञ्चित** होने पर **पुलकित** होते हैं। भय आदि से भी लोग **रोमाञ्चित** होते हैं।

आयु, अवस्था—आयु समस्त जीवन काल को कहते हैं। जन्म से मरण तक का सारा समय **आयु** है। जन्म से **अवस्था** की गणना की जाती है। 'इस समय मेरी आयु ४० वर्ष है' कहना अशुद्ध है। यहाँ आयु के स्थान पर अवस्था शब्द का प्रयोग करना चाहिए।

आशङ्का, शङ्का, भय, आतंक, त्रास : भविष्य में होनेवाले अमङ्गल की सम्भावना से मन में जो क्लेश जनक भाव उत्पन्न होता है वह **आशङ्का** और इस प्रकार का अनिष्ट सूचना के भाव को **शङ्का** कहते हैं। भय से मन का संकोच सूचित होता है। भय के ज्ञात, अज्ञात या सन्दिग्ध विषय को त्रास कहते हैं। भय के कारण शरीरादि में जो चञ्चलता उत्पन्न होती है उसे **आतङ्क** कहते हैं।

उत्साह, उद्योग, आयास, प्रयास, यत्न, चेष्टा : उत्साह होने पर काम करने की इच्छा होती है और उसे पूरा करने के लिए मनुष्य **उद्योग** करता है। इस प्रकार की इच्छा को **आयास** बलवती रखता है। तब कार्य-सम्पन्न करने का **प्रयास** होता है। **यत्न** से कार्य प्रारम्भ और **चेष्टा** से कार्य पूर्ण किया जाता है।

उपकरण, उपादान : वह सामग्री जिसकी सहायता से कोई कार्य सिद्ध हो **उपकरण** और वह सामग्री जिससे कोई पदार्थ बने **उपादान** कहलाता है।

कष्ट, क्लेश, दुःख, वेदना, व्यथा, यातना, यन्त्रणा : जब मन

और शरीर दोनों को समान रूप से असुविधा जान पड़े तब कष्ट होता है। केवल शारीरिक कष्ट को **क्लेश** कहते हैं। दुःख मानसिक अवस्था से सम्बन्ध रखता है। **वेदना** एक प्रकार की स्वतन्त्र अनुभूति है। **व्यथा** आघात से उत्पन्न होती है। वेदना की अपेक्षा व्यथा अधिक बलवती होती है। तीव्र व्यथा का नाम **यातना** है। दुःख का भार जान पड़ने पर **यन्त्रणा** होती है।

तट, तीर, पुलिन, सैकत : समुद्र, नदी या तालाब के पास की ज़मीन **तट**, पानी से लगी ज़मीन **तीर**, किनारे की तर ज़मीन **पुलिन**, नदी के किनारे की बलुही जमीन **सैकत** कहलाती है।

निन्दा, अपवाद, कलङ्क, अपयश : सत्य दोषारोपण को **निन्दा** और मिथ्या दोषारोपण को **अपवाद** कहते हैं। निन्दा और अपवाद का परिणाम **कलङ्क** है। निन्दा या अपवाद क्षणिक, परन्तु **अपयश** स्थायी होता है। कलङ्क स्थायी और क्षणिक दोनों होता है।

प्रेम, स्नेह, प्रणय, भक्ति, श्रद्धा : समान आयुवालों में जो प्रीति होती है वह **प्रेम**, बड़ों की छोटों पर जो प्रीति होती है वह **स्नेह**, और छोटों की बड़ों में जो प्रीति होती है वह **भक्ति** कहलाती है। दाम्पत्य प्रीति **प्रणय** और सद्विषय में निष्ठा **श्रद्धा** कहलाती है।

पूजा अर्चना : श्रद्धेय जनों के निकट भक्तिपूर्ण अवनति स्वीकार करना **पूजा** और देवमूर्ति का धूप, दीप, पुष्पादि से सत्कार करना **अर्चना** कहलाती है। पूजा मानसिक और बाह्य, परन्तु अर्चना केवल बाह्य क्रिया है।

प्रार्थना, निवेदन : **प्रार्थना** किसी प्रकार की आकांक्षा से प्रेरित होकर की जाती है; **निवेदन** में आकांक्षावाला तत्व गौण अथवा सुप्त रहता है।

बन्धु, सुहृद, मित्र, सखा : जो वियोग न सह सके वह **बन्धु**, जो प्रेमी सदा राहमत रहे वह **सुहृद**, जिनकी क्रिया समान हो वे **मित्र**, जिनके प्राण एक हों वे **सखा** होते हैं।

भजन, उपासना, आराधना : देवता की मानसिक वन्दना **भजन**, उसकी निकटता की अनुभूति के लिए जो क्रिया की जाय वह **उपासना** और उसके निकट दया-याचना करना **आराधना** कहलाती है।

भ्रम, प्रमाद : सावधान न रहने से जो चूक हो जाय वह **भ्रम** है; मूर्खता से अथवा जान बूझकर परवाह न करने से जो चूक हो जाय वह **प्रमाद** है।

मन, चित्त, बुद्धि : संकल्प-विकल्प करनेवाला **मन**, बातों को स्मरण-विस्मरण करनेवाला **चित्त**, कर्त्तव्य का निश्चय करनेवाली **बुद्धि** है।

ऋषि, मुनि : धर्म और तत्त्व पर विचार करनेवाले **मुनि**, वेद-मन्त्रों की व्याख्या करने वाले **ऋषि** कहलाते हैं।

मन्त्रणा, परामर्श, युक्ति : गुप्त कर्त्तव्य-निर्धारण **मन्त्रणा**, फलाफल का विचार करके जो मत प्रकट किया जाय वह **परामर्श** और एक से अधिक लोगों के परामर्श को **युक्ति** कहते हैं।

विलाप, प्रलाप, अवसाद : वाणी-द्वारा प्रकट किया हुआ शोक **विलाप**, टूटे-फूटे अस्पष्ट शब्दों-द्वारा प्रकट किये हुए वाक्य **प्रलाप** और दारुण विषाद से ग्रस्त मन की अस्वाभाविक परिस्थिति को **अवसाद** कहते हैं। शोक का परिणाम विलाप और विषाद का अवसाद कहलाता है।

व्यायाम, श्रम, आयास, परिश्रम : अङ्ग-सञ्चालन का नाम **व्यायाम**, शरीर की शक्ति लगाकर कार्य करना **श्रम**, मन की शक्ति लगाकर काम करना **आयास** और शरीर तथा मन दोनों से कार्य करना **परिश्रम** कहलाता है।

स्पर्धा, ईर्ष्या, द्वेष, हिंसा : उन्नति में दूसरों से बढ़ जाने की इच्छा **स्पर्धा**, दूसरों की सफलता देखकर जलना **ईर्ष्या**, कारणवश दूसरों से शत्रुता या घृणा **द्वेष** और किसी का अनिष्ट करने की इच्छा **हिंसा** कहलाती है।

संकोच, लज्जा, ग्लानि, व्रीड़ा : किसी कार्य करने में टाल-मटोल संकोच, प्रकट होने के भय से बुरे काम में प्रवृत्ति होना लज्जा, कोई बुराई करने पर लज्जावश जो पश्चात्ताप होता है वह ग्लानि और लोगों के सामने कोई काम प्रकट करने में जो बाधा डालती है उसे व्रीड़ा कहते हैं।

सहानुभूति, अनुकंपा, अनुग्रह, दया, कृपा, करुणा, समवेदना : दूसरों का दुःख देखकर अपने को जो दुःख हो उसे **अनुकम्पा**, दूसरों का दुःख दूर करने की स्वाभाविक इच्छा **दया**, दूसरों का दुःख दूर करने के लिए जो आकुलता हो वह **करुणा**, दूसरों का दुःख दूर करने की चेष्टा को **कृपा**, इष्ट-सम्पादन को **अनुग्रह**, समान रूप से किसी बात का अनुभव करना **सहानुभूति**, और अन्य के साथ तुल्य वेदना का अनुभव करना **समवेदना** कहलाती है।

सहसा, हठात, अकस्मात्, अतर्कित : जिस घटना की एक घड़ी पूर्व कल्पना तक मन में न हो वह **सहसा**, अकारण या आगे-पीछे विवेचना किये बिना जो कार्य हो उसे **हठात्**, जिस कार्य के विषय में यह न कहा जा सके कि वह किस प्रकार और कहाँ हुआ वह **अकस्मात्** और जिसके सम्बन्ध में विवेचना करने का अवसर ही न मिले वह **अतर्कित** कहलाता है।

संतोष, तृप्ति, शांति : जो पास है उसीको बहुत कुछ मान लेना संतोष और आकांक्षा की निवृत्ति को **तृप्ति** कहते हैं। तृप्ति क्षणिक और शान्ति स्थायी है। तृप्ति थोड़े आयास से प्राप्त होती है, परन्तु शान्ति साधन का फल है। इन्द्रियाँ तृप्त होती हैं; मन शान्त होता है।

सेवा, शुश्रूषा और परिचर्या : बड़ों की परिचर्या **सेवा** है, रोगी या दुःखी की परिचर्या **शुश्रूषा** है। परिचर्या सेवा के लिए साधारण शब्द है।

त्रुटि, ह्रास : किसी काम में कोई कमी रह जाय वह **त्रुटि** है; बने बनाये काम का कोई अङ्ग बिगड़ जाय वह **ह्रास** है।

प्रत्येक भाषा में ऐसे बहुत से शब्द होते हैं जिनके अनेक अर्थ होते हैं। संस्कृत शब्दों में यह बात विशेष रूप से पायी जाती है। ऐसे शब्द को अनेकार्थी शब्द कहते हैं और उनका अर्थ प्रसङ्ग अनुसार लगाया जाता है। नीचे कुछ अनेकार्थी शब्द दिये जाते हैं :—

अनेकार्थी शब्द

अङ्क—गोद, सख्या के अङ्क, नाटक के अङ्क, परिच्छेद, चिह्न। अक्ष—पहिया, धुरी, चौसर का पाँसा, रथ, आँख, सर्प, ज्ञान, मंडल, एक बाट, आत्मा। अर्क—सूर्य, मदार का पौधा, इन्द्र, ताम्र, स्फटिक, पण्डित, बड़ा भाई, रविवार। अक्षर—अकारादि वर्ण, विष्णु, ब्रह्मा, शिव, मोक्ष, गगन, धर्म, तपस्या, जल, नाश रहित, सत्य। अग्र—आगे, पहले, अगुवा, मुख्य, सिरा, एक राजा का नाम, श्रेष्ठ। अज—ब्रह्मा शिव, दशरथ के पिता, बकरा, मेष राशि। अनन्त—विष्णु, सर्पों का राजा ब्रह्म, आकाश, अविनाशी, अन्तहीन। अन्तर—आकाश, मध्य छिद्र, अवसर, अवधि, अन्तर्द्धान, व्यवधान। अपवाद—कलङ्क, किसी नियम का न लगना। अमृत—जल, पारा, दूध, अन्न, स्वर्ण, गिलोय। अम्बर—वस्त्र, अकाश। अरुण—सूर्य, सूर्य का सारथी, रक्त वर्ण। अर्थ—धन, मतलब, कारण। आत्मा—स्वरूप, ब्रह्म, परमात्मा, सूर्य, अग्नि। उत्तर—जवाब, उत्तर दिशा। कनक—सोना, धतूर। कर—हाथ, किरण, सूँड़, टैक्स। गो—सूर्य, बैल, गोमेध यज्ञ, एक ऋषि का नाम, दिशा, भारती, भूमि, गाय, स्वर्ग, वज्र, अम्बुकिरण, आँख, बाण, केश। गुण—स्वभाव, कौशल, शील, रस्सी, गुन। घन—बादल, घना, गणित में किसी संख्या को उसी संख्या से दो बार गुणा करना। जलज—कमल, मोती, मछली, शंख, सिवार, चन्द्रमा। जीवन—जल, प्राण। तात—पिता, भाई, मित्र, बड़ा, गरम, पूज्य, प्यारा। तारा—नक्षत्र, आँख की पुतली, बालि की स्त्री, बृहस्पति की स्त्री, देवी विशेष। दण्ड—डंडा, सजा। दल—समूह, पत्ता, पक्ष। द्विज—ब्राह्मण, पक्षी, चन्द्रमा, दांत। धात्री—माता, आँवला, पृथ्वी, उपमाता। नाग—

सर्प, हाथी, नागकेशर । निदेश—कथा, अनुमति, आदेश, आधार, पात्र, समीप, उक्ति, शिक्षा । पक्ष—पन्द्रह दिन का समय, ओर, पंख, बल, सहाय । पतंग—पक्षी, सूर्य, चंग, पतिगा । पद—पैर, स्थान, उद्यम, रक्षा, चौथा भाग, देश, वस्तु, छंद का एक चरण, उपाधि । पत्र—पत्ता, पंख, चिट्ठी । पोत—बच्चा, नाव, स्वभाव, वस्त्र, गुड़िया । फल—नतीजा, पेड़ का फल, तलवार या चाकू का फल । बल—शक्ति, सेना, बलराम । बलि—राजा बलि, बलिदान, उपहार, कर । भूत—प्राणि, प्रेत, बीता समय, पृथ्वी आदि पंचभूत । मधु—शहद, शराब । मान—सम्मान, अभिमान, तोल, नाप । मित्र—दोस्त, सूर्य । रस—पौधे का दूध, सार, आनन्द, स्वाद, जल, प्रेम, पारा । राग—प्रेम, रंग, गाने का राग । वन—जंगल, जल । विग्रह—लड़ाई, शरीर । विधि—ब्रह्मा, ईश्वर, भाग्य, रीति । वर्ण—अक्षर, ब्राह्मण आदि जातियाँ, रंग । सारङ्ग—राग विशेष, मोर, सर्प, मेघ, हरिण, पानी, देश-विशेष, पपीहा हाथी, राजहंस, कोयल, कामदेव, वर्ण धनुष, भौंरा, मधुमक्खी, कपूर, कमल, भूषण, फूल, छत्र, शोभा, रात, दीपक, स्त्री, शंख, वस्त्र । हरि—विष्णु, इन्द्र, सर्प, मेंढक सिंह, घोड़ा, सूर्य, चाँद, तोता, बानर, यमराज, हवा, ब्रह्मा, शिव, किरण, मोर, कोयल, हंस, आग, पहाड़, गज, कामदेव, हरा रंग ।

हिन्दी भाषा में कुछ ऐसे शब्द भी प्रयुक्त होते हैं जिनके उच्चारण लगभग एक से होते हैं; परन्तु उनके रूप में किञ्चित् भेद होता है । ऐसे शब्द यहाँ दिये जाते हैं । अन्त—समाप्त, अन्त्य—

समोच्चारित शब्द

नीच । अंस—कन्धा, अंश—हिस्सा । अर्घ—जलदान, मूल्य, अर्घ्य—पूजनीय तथा पूजा-द्रव्य । अनल—आग, अनिल—हवा । अन्न—अनाज, अन्य—दूसरा । अनिष्ट—बुराई, अनिष्ठ—निष्ठाहीन । अवलम्ब—सहारा, अविलम्ब—शीघ्र । अशित—खाया हुआ, असित—काला

अपभंग—बुरा व्यवहार ; उपभोग—आस्वादन । अपेक्षा—इच्छा, उपेक्षा—निरादर । अनु—एक उपसर्ग, अणु—कन । अशक्त—शक्तिहीन, आसक्त—मोहित । अभिहित—उक्त, माननीय, अविहित—अनुचित । अभिज्ञ—जाननेवाला; अनभिज्ञ—अनजान । अभिराम—सुन्दर, अविराम—लगातार । आकर—खान आकार—सूरत । आदि—वगैरह, आधि—पीड़ा । आहुत—यज्ञ, आहूत—निमन्त्रित । इत—इस ओर, इति—समाप्ति, ईति—आपदा। उद्धत—उद्दण्ड, उद्यत—तैयार । कुल—वंश, कूल—तीर । कृत—किया हुआ, क्रीत—खरीदा हुआ, कृत्य—काम । केसर—अयाल, केशर—कुंकुम । गड़ना—चुभना, गणना—गिनती । ग्रह—सूर्य-चन्द्र आदि, गृह—घर । जलज—कमल, जलद—बादल । चिर—दीर्घ, चीर—वस्त्र । छत्र—छतरी, क्षत्र—क्षत्रिय । छात्र—विद्यार्थी, क्षात्र—क्षत्रिय । जरा—बुढ़ापा, ज़रा—थोड़ा । तरणी—नौका, तरणि—सूर्य, तरुणी—जवान स्त्री । दार—पत्नी, द्वार—दरवाजा । दारा—पत्नी, द्वारा—हेतु । दिन—दिवस, दीन—निर्धन । द्विप—हाथी, द्वीप—टापू । दूत—सम्वाददाता, द्यूत—जुआ । द्वेश—राज्य, द्वेष—शत्रुता । नीर—पानी, नीड़—घोसला । नारी—स्त्री, नाड़ी—नब्ज । परुष—कठोर, पुरुष—आदमी । प्रकार—रीति, प्राकार—किले का एक अङ्ग । प्रतिहार—द्वारपाल, प्रत्याहार—निवारण । प्रथा—रीति, पृथा—अर्जुन की माता । प्रसाद—प्रसन्नता, प्रासाद—महल । प्रमाण—सबूत, परिमाण—मात्रा, परमाणु—कणमात्र । प्रणाम—नमस्कार करना. परिणाम—नतीजा । प्रकृत—यथार्थ, प्रकृति—स्वभाव । प्रहार—मारना, परिहार—त्यागना । प्रवाह—बहाव, परवाह—चिन्ता । पाणि—हाथ, पानी—जल । भवन—घर, भुवन—संसार । बलि—बलिदान, बली—वीर । मूल—जड़, मूल्य—कीमत । मात्र—केवल, मातृ—माता । मनोज—कामदेव, मनोज्ञ—सुन्दर । यक्ष—वन-देवता,

अक्ष—धुरी । लक्ष—लाख, लक्ष्य—निशाना । वसन—कपड़ा, व्यसन—बुरी आदत । विष—ज़हर, विस—कमल नाल । वृन्त—डण्ठल, वृन्द—समूह । शङ्कर—महादेव, संकर—मिला हुआ । शमीर—एक पेड़, समीर—हवा । शर—बाण, सर—तालाब । शकल—खण्ड, सकल—पूरा । शारद—शरद ऋतु-सम्बन्धी, सारद—सरस्वती । शूर—वीर, सूर—सूर्य, अन्धा । शुल्क—फीस, शुक्ल—स्वच्छ । सर्ग—सृष्टि, स्वर्ग—देवलोक । स्वपच—स्वयं-पाकी, श्वपच—चाण्डाल । सुत—पुत्र, सूत—सारथी । हय—घोड़ा, है—वर्तमान काल की क्रिया ।

हिन्दी में इस समय बहुत से ऐसे शब्द प्रयुक्त होने लगे हैं जो ध्वनि और प्रायः उच्चारण में मिलते तो हैं परन्तु उनके अर्थ और मूल भिन्न होते हैं । ऐसे शब्दों के कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं ।

भिन्नार्थक शब्द

आगा (हि०) = अगवाड़ा, आग़ा = सरदार । आम (हि०) = फल विशेष; आम (अ०) साधारण । आराम (सं०) = बाग़, आराम (फ़ा०) = विश्राम । एतवार (हिं०) = रविवार; एतबार (फ़ा०) = विश्वास । कन्द (सं०) = मूल, क़न्द (फा०) = मिसरी । कफ (सं०) = बलग़म, कफ़ (फा०) = फेन, कफ (अं०) = कमीज का कफ । कुन्द (सं०) = एक फूल, कुन्द (अ०) = मन्द । कुल (सं०) = वंश, कुल (अ०) = सब । कै (हिं०) = कितना, क़ै (अ०) = वमन । खैर (हिं०) = कत्था, ख़ैर (फा०) = कुशल । गौर (सं०) = गोरा, ग़ौर (अ०) = ध्यान । चारा (हिं०) = घास, चारा (फा०) = उपाय । जरा (सं०) = बुढ़ापा; जरा (फा०) = थोड़ा । झख (सं०) = मछली, झख (हिं०)—खीझना । तूल (सं०) = रूई, तूल (हि०) = तुलना, तूल (अ०) = लम्बाई । देव (सं०) = देवता, देव (फा०) = राक्षस । नाना (सं०) = विविध, नाना (हिं०) = माता के पिता; नाना (अ०) = पोदीना । नाला (हिं०) = जल निकलने का मार्ग, नाला (फा०) = रोना । पट (सं०) = परदा, कपड़ा

पट (हिं०) = किवाड़, उलटा, तुरन्त । रास (सं०) = नाच, रास (हिं०) = बागडोर, राग (फा०) = अन्तरीप । शकल (स०) = टुकड़ा—शकल (फा०) = चेहरा । सर (सं०) = तालाब, सर (फा०) = सिर; सर (अं०) = पदवी । संग (सं०) = साथ, संग (फा०) = पत्थर, संग (अं०) = गाया । सन (हिं) = एक पौधा, सन (अ०) = सम्वत् । हाल (हिं०)— पहिए का हाल, हाल (अ०) = विवरण, हाल (अं०) = बड़ा कमरा । हार (सं०) = माला; हार (हिं०) = पराजय ।

विपरीतार्थक शब्द

जब दो शब्द आपस में प्रतिकूल अर्थ प्रकट करते हैं तब वे विपरीतार्थक शब्द कहलाते हैं । कभी-कभी दोनों शब्द एक साथ भी प्रयुक्त होते हैं । नीचे कुछ उदाहरण दिये जाते हैं :—

[१] भिन्न शब्द-द्वारा—अन्धकार = प्रकाश । अथ = इति । अन्त = आदि । अमृत = विष । अस्त = उदय । आकाश = पाताल । आय = व्यय । आरम्भ = अन्त । आवाहन = विसर्जन । उदार = कृपण । उत्थान = पतन । ऊँच = नीच । कोमल = कठोर । गंगा = कर्मनाशा । गुरु = लघु । गुण = दोष । थोड़ा = बहुत । धनी = दरिद्र । ज्येष्ठ = कनिष्ठ । जड़ = चेतन । जीवन = मरण । दिन = रात । निद्रा = जागरण । नूतन = पुराण । पण्डित = मूर्ख । परकीय = स्वकीय । परमार्थ = स्वार्थ । पाप = पुण्य । प्राचीन = नवीन, अर्वाचीन । पाश्चात्य = पूर्वात्य । बन्धन = मोक्ष । बद्ध = मुक्त । भला = बुरा । मिलन = बिछोह । योगी = भोगी । लाभ = हानि । विधि = निषेध । सृष्टि = प्रलय । स्थूल = सूक्ष्म । स्वर्ग = नरक । सुख = दुःख । स्तुति = निन्दा । स्थावर = जंगम । सफल = विफल । शीत = उष्ण ।

[२] अ, अन् योग-द्वारा—आचार = अनाचार । आदि = अनादि । आतप = अनातप । आतुर = अनातुर । ईश = अनीश । उचित = अनुचित । एक = अनेक । ऐश्वर्य = अनैश्वर्य । कल्याण = अकल्याण । कुटिल = अकुटिल । चर = अचर । ज्ञान = अज्ञान ।

न्याय = अन्याय । मङ्गल = अमङ्गल । शान्ति = अशान्ति ।

[३] उपसर्ग-द्वारा—क्रय = विक्रय । कीर्ति = अपकीर्ति । मान = अपमान । यश = अपयश । राग = विराग । योग = वियोग । घात = प्रतिघात । वाद = प्रतिवाद । विवाद = निर्विवाद । जय = पराजय । सम = विषम । श्वास = उच्छ्वास ।

[४] उपसर्ग परिवर्तन-द्वारा—संयोग = वियोग । सुगम = दुर्गम । स्वतन्त्र = परतन्त्र । आदान = प्रदान । अतिवृष्टि = अनावृष्टि । अनुकूल = प्रतिकूल । अनुराग = विराग । अनुग्रह = निग्रह । उत्कर्ष = अपकर्ष । उत्कृष्ट = निकृष्ट । उन्नति = अवनति । आकर्षण = विकर्षण । उपकार = अपकार । सरस = नीरस । सधवा = विधवा । सज्जन = दुर्जन । सजीव = निर्जीव । सुगन्ध = दुर्गन्ध । संश्लेषण = विश्लेषण । साकार = निराकार ।

[५] लिङ्ग-परिवर्तन-द्वारा—पुरुष = स्त्री । पिता = माता । राजा = रानी । धोबी = धोबिन । मजदूर = मजदूरिन । घोड़ा = घोड़ी । नर = नारी ।

[६] एक साथ आनेवाले विपरीतार्थक शब्द—सुख-दुःख, पाप-पुण्य, साधु-असाधु, देव-दानव, गुण-दोष, हिताहित, न्याय-अन्याय, शुभाशुभ, धर्माधर्म, आहार-विहार, आय-व्यय, आदान-प्रदान, कुपात्र-सुपात्र, हँसना-रोना, मरना-जीना, शीतोष्ण, अहर्निश, न्यूनाधिक, सत्यासत्य, भद्राभद्र ।

हिन्दी में बहुत से ऐसे शब्द हैं जिनके वर्ण-विन्यास में थोड़ा अन्तर रहने पर भी अर्थ की दृष्टि से अन्तर नहीं होता। ऐसे शब्द वर्ण-विन्यास-भिन्न एकार्थक शब्द—कहलाते हैं।

वर्ण विन्यास-भिन्न एकार्थक शब्द

इन शब्दों का प्रयोग करते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि पूरे लेख में उस शब्द का एक-सा प्रयोग हो। कहीं 'पहला' और कहीं 'पहिला' लिखना उचित नहीं है। प्राचीन कवियों की कविताओं में प्रायः ऐसा देखा जाता

है कि शब्द को मधुर बनाने के लिए शब्द-विन्यास के नियमों की उपेक्षा की गयी है। बड़े अथवा कर्णकटु शब्दों को मधुर बनाने और कविता में तुक मिलाने के अभिप्राय से ष का 'ख', 'श' का 'स', ह्रस्व के स्थान पर दीर्घ, और दीर्घ के स्थान पर ह्रस्व का प्रयोग किया गया है। गद्यलेख में इस प्रकार की स्वतन्त्रता नहीं है। नीचे कुछ वर्ण-विन्यास-भिन्न शब्द दिये जाते हैं :—

अंगुली, उँगली। अञ्जलि, अञ्जली। अन्तरिक्ष, अन्तरीक्ष। अमिय, अमी। अभिवन्दन, अभिवादन। अवनि, अवनी। अलि, अली। अमावास्या, अमावस्या। आँचल, आँचर, अँचरा। आलि, अली। इन्धन, ईन्धन। कटि, कटी। कलश, कलस। किशलय, किसलय। कोश, कोष। कौशल्य, कौसल्य। गड्हा, गढ़ा। गदहा, गधा। चरित, चरित्र। डाल, डार। तुरग, तुरङ्ग। तेल, तैल। दश, दस। धूल, धूलि। प्रतिकार, प्रतीकार। पृथ्वी, पृथिवी। पूर्णिमा, पूर्णमासी। बहन, बहिन। भुजङ्ग, भुवङ्ग, भुजङ्गम। भूमि, भूमी। महि, मही। मणि, मणी। मूषल, मूसल। रात्रि, रात्री। लहू, लोहू। वशिष्ट, वसिष्ट। विहग, विहङ्ग, विहङ्गम। शावक, सावक। शूकर, सूकर। श्रेणी, श्रेणि। श्वसुर, ससुर। साड़ी, सारी। हिंसिक, हिंसक।

एक धातु के भिन्नार्थक शब्द—हिन्दी में संस्कृत भाषा के ऐसे बहुत से शब्द प्रयुक्त होते हैं जो भिन्न-भिन्न उपसर्गों के साथ एक मूल धातु के भिन्न-भिन्न अर्थ प्रकट करते हैं। ऐसे कुछ शब्द नीचे दिये जाते हैं :—

[१] हृ धातु से बने शब्द : प्रहार—आघात। संहार—विनाश। आहार—भोजन। विहार—भ्रमण, भोग। व्यवहार—आचरण। परिहार—परित्याग। उपहार—भेंट। अपहरण—चोरी प्रतिहार—द्वारपाल। प्रत्याहार—निवारण।

[२] ईक्ष् धातु से बने शब्द : अपेक्षा—आकांक्षा। उपेक्षा—अनादर। निरीक्षण - देखभाल। परीक्षा—जाँच। प्रतीक्षा—

राह देखना।

[३] गम् धातु से बने शब्द : अनुगमन—पीछे चलना। निर्गमन—निकलना। प्रतिगमन—लौटना। आगमन—आना। उद्गम—पैदा होना। संगम—मिलना।

[४] कृ धातु से बने शब्द : अनुकरण—नकल। प्रतिकार—बदला। संस्कार—जीर्णोद्धार। विकार—परिवर्तन। अधिकार—स्वामित्व। उपकार—भलाई। अपकार—बुराई। प्रकृत—यथार्थ। प्रकार—ढग। आकार—रूप। आकृति—शक्ल। दुष्कर—असाध्य।

नी धातु से बने शब्द : अपनीत—हटाया गया। आनीत—लाया हुआ। अभिनीत—खेला हुआ। अनुनय—प्रार्थना। उपनीत—उपस्थित। परिणीत—विवाहित। प्रणीत—रचित।

[६] भू धातु से बने शब्द : अनुभूत—जाना हुआ। अभिभूत—पराजित। उद्भूत—निकाला हुआ। पराभूत—पराजित। प्रभूत—प्रचुर। सम्भूत—उत्पन्न।

[७] वद् धातु से बने शब्द : अभिवादन—वन्दना। अपवाद—अपयश। अनुवाद—उलथा। दुर्वाद—अपशब्द। परिवर्तन—बदला। प्रतिवाद—विरोध। प्रवाद—अफवाह। विवाद—झगड़ना। संवाद—खबर।

[८] वृत् धातु से बने शब्द : अनुवर्तन—अनुसार चलना। आवर्तन—घूमना। निवृत्त—विरत। प्रवृत्त—उद्यत।

[९] ज्ञा धातु से बने शब्द : अवज्ञा—अनादर। अनुज्ञा—अनुमति। अभिज्ञान—स्मारक। परिज्ञान—सम्यक ज्ञान। प्रतिज्ञा—वादा। ज्ञान—विशेष ज्ञान।

[१०] चर् धातु से बने शब्द : अनुचर—सहचर। सञ्चार—विस्तार। परिचर—भृत्य। विचार—अभिप्राय।

[११] चि धातु से बने शब्द : अपचय—क्षति। उपचय—वृद्धि। निश्चय—निर्णय। परिचय—पहचान। सञ्चय—संग्रह।

[१२] ग्रह् धातु से बने शब्द : अनुग्रह्—दया। आग्रह्—हठ। निग्रह्—शासन। परिग्रह्—ग्रहण। परिग्रह्—दान लेना। संग्रह्—सञ्चय।

[१३] पत् धातु से बने शब्द : उत्पात—उपद्रव। प्रपात—झरना। निपात—विनाश। सम्पात—गिरना।

[१४] स्था धातु से बने शब्द : अवस्था—स्थिति। अधिष्ठान—स्थिति। अनुष्ठान—सम्पादन। अवस्था—हालत। उत्थान—उठना। व्यवस्था—स्थिरता। संस्था—योजना।

[१५] दो धातु से बने शब्द : आदान—ग्रहण। उपादान—सामग्री। प्रदान—अर्पण। प्रतिदान—विनिमय। निदान—मूल कारण। संपादन—कारण विशेष।

[१६] दिश् धातु से बने शब्द : आदेश—आज्ञा। उपदेश—शिक्षा। निर्देश—आदेश। प्रदेश—छोटा देश। प्रत्यादेश—खण्ड। विदेश—अन्य देश।

[१७] धा धातु से बने शब्द : अनुसन्धान—खोज। अभिधान—शब्दकोष। उपधान—तकिया। परिधान—वस्त्र। प्रधान खास। निधान—भण्डार। विधान—विधि। व्यवधान—अन्तर।

[१८] युज् धातु से बने शब्द : अनुयोग—प्रश्न, खोज। अभियोग—नालिश। अपयोग—कुव्यवहार। उद्योग—चेष्टा। उपयोग—व्यवहार। नियोग—आदेश। दुर्योग—षड्यन्त्र। प्रयोग—व्यवहार। प्रतियोग—बाधा। वियोग—विरह। संयोग—मिलाव। योग—अवसर।

प्रत्ययवत् प्रयुक्त शब्द : हिन्दी भाषा में संस्कृत से आये हुए कुछ ऐसे शब्द हैं जो प्रत्यय के समान प्रयुक्त होते हैं। ऐसे शब्दों के नमूने नीचे दिये जाते हैं :—

अन्वित—आश्यचर्यान्वित, विस्मयान्वित, क्रोधान्वित।

आच्छन्न—शोकाच्छन्न, मेघाच्छन्न, तिमिराच्छन्न, मायाच्छन्न।

कर्म—शिल्पकर्म, कृषिकर्म, कुकर्म, अपकर्म, सत्कर्म, शुभकर्म।

चर— अनुचर, खेचर, भूचर, रजनीचर, निशाचर, सहचर।

च्युत—पदच्युत, धर्मच्युत, राजच्युत, स्वर्गच्युत।

प्रिय—अप्रिय, ज्ञानप्रिय, प्राणप्रिय, न्यायप्रिय, सत्यप्रिय, शान्तिप्रिय।

पति—पशुपति, श्रीपति, भूपति, नृपति, विश्वपति, रमापति।

परायण—सत्यपरायण, न्यायपरायण, धर्मपरायण, ज्ञानपरायण।

भ्रष्ट—स्थानभ्रष्ट, धर्मभ्रष्ट, तपोभ्रष्ट, आचारभ्रष्ट।

मुख—विमुख, सम्मुख, सुमुख, पराङ्मुख।

लोक—इहलोक, परलोक, गोलोक, त्रिलोक, सुरलोक, देवलोक।

रूप—अनुरूप, कुरूप, स्वरूप, विश्वरूप।

यात्रा—जीवनयात्रा, समुद्रयात्रा, रथयात्रा।

उपसर्गवत् प्रयुक्त शब्द— हिन्दी में संस्कृत से आये हुए कुछ ऐसे शब्द हैं जो उपसर्ग के समान प्रयुक्त होते हैं। ऐसे शब्दों के नमूने नीचे दिये जाते हैं :—

अर्थ—अर्थविचार, अर्थगौरव, अर्थनीति, अर्थलोभ, अर्थगम्भीर अर्थबाधक, अर्थ-हीन।

आत्मा—आत्म-गरिमा, आत्मघात, आत्मचिन्ता, आत्म-ज्ञान, आत्म-गौरव, आत्म-तत्त्व, आत्म-त्याग, आत्मदान, आत्मदीप, आत्म-द्रोह, आत्म-प्रशंसा, आत्मप्रसाद, आत्मविक्रय, आत्मविसर्जन, आत्म-सम्मान, आत्मविस्मृत, आत्मनिर्भर, आत्मप्रतिष्ठा, आत्मशासन, आत्मश्लाघा, आत्म-शुद्धि, आत्म-संयम, आत्म-समर्पण।

कर्म—कर्मवीर, कर्मयोग, कर्मकाण्ड कर्मभोग, कर्मफल, कर्मप्रिय, कर्मनिष्ठ, कर्मचारी, कर्मकुशल, कर्महीन।

धर्म—धर्मबुद्धि, धर्मज्ञान, धर्मशील धर्मात्मा, धर्मभीरु, धर्मद्वेषी, धर्मयुद्ध, धर्महीन।

बल—बलवान्, बलशाली, बलहीन, बलविक्रम, बलप्रयोग, बलपूर्वक, बलाधिकृत।

राज—राजाज्ञा, राजकर, राजदण्ड, राजद्रोह, राजधानी, राजगृह, राजनीति, राजपथ, राजभोग, राजलक्ष्मी, राजवंश, राजसूर्य, राजस्व, राजहंस, राजसभा, राजद्वार, राजसिंहासन, राजपूत, राजकन्या, राजकुमार, राजदरबार, राजकर्मचारी; राजधर्म, राजरानी, राजदुलारी।

लोक—लोकमत, लोकचर्चा, लोकनाथ, लोकप्रिय, लोकपाल, लोकापवाद, लोकनिन्दा, लोकलज्जा, लोकभय।

विश्व—विश्वजनीन, विश्वप्रेम, विश्वपति, विश्वजित, विश्वविजय, विश्वव्यापी, विश्वविद्यालय, विश्वम्भर, विश्वनाश, विश्वविख्यात, विश्वकोष।

सर्व—सर्वनाम, सर्वनाश, सर्वसम्मति, सर्वकाल, सर्वाधिकारी, सर्वसाधारण, सर्वमय, सर्वत्र, सर्वथा, सर्वदा, सर्वोपरि, सर्वानन्द, सर्वेश्वर, सर्वजन, सर्वश्री, सर्वांग।

पदांश परिवर्तन से बने हुए शब्द : शब्द को सरल बनाने के अभिप्राय से यौगिक पदों के किसी अंग के बदले अथवा सभी अंशों के बदले उसी अर्थ का कोई अन्य मधुर शब्द रखकर रचना का सौन्दर्य बढ़ाया जा सकता है। छन्द-रचना के लिए इस प्रकार का परिवर्तन अत्यन्त उपयोगी होता है, परन्तु लेखन-कला में शब्द के संगठन के लिए इसकी बड़ी आवश्यकता है। इस प्रकार का परिवर्तन मुख्यतया दो प्रकार का होता है—पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध। दोनों प्रकार के कुछ नमूने नीचे दिये जाते हैं :—

[१] **पूर्व-पद-परिवर्तित शब्द :** नृसिंह, नरसिंह। कनककशिपु, हिरण्यकशिपु। भूपति, महीपति, पृथ्वीपति। नृपति, नरपति। प्राणाधार, जीवनाधार। सुरबाला, देवबाला। भूपाल, महीपाल, पृथ्वीपाल। कर्णगोचर, श्रुतिगोचर। हेमलता, कनकलता, स्वर्णलता। खेचर, रजनीचर, निशिचर।

[२] **उत्तर-पद परिवर्तित शब्द :** राजकन्या, राजपुत्री। नरनाथ, नरपाल। कमिलिनी-नायक, कमिलिनी-वल्लभ। निशिनाथ, निशिपति।

रजनीकान्त, रजनीपति। प्राणनाथ, प्राणेश, प्राणेश्वर, प्राणवल्लभ, प्राणाधार। जगदीश, जगन्नाथ। मृगनयना।

संख्यावाचक शब्द : हिन्दी रचनाओं में कुछ ऐसे शब्द भी प्रयुक्त होते हैं जो संख्यावाची होते हैं। ऐसे शब्दों के कुछ नमूने नीचे दिये जाते हैं :

एक—ईश्वर। **दो**—फल। **तीन**—काल, गुण, दोष, देव, लोक, अग्नि, ऋण, ताप, काण्ड, राम, वायु के गुण, शिव-नेत्र। **चार**—वर्ण, युग, आश्रम, फल, वेद, अवस्थाएँ, दिशाएँ, सेना के अंग, ब्रह्म के अंग, मस्तक, धाम। **पांच**—प्राण, तत्व, ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ पञ्चामृत, काम के बाण, शिव के मस्तक, देवता। **छः**—ऋतु, शास्त्र, रस, वेदाँग, ईतियाँ, स्कन्द, मुख। **सात**—ऋषि, लोक, बार, सागर, द्वीप, तल, पर्वत। **आठ**—वसु, सिद्धियां, पहर, भोग के अंग। **नव**—ग्रह, निधियाँ, रस, दुर्गा, भक्ति, नन्द, अंक। **दश**—दिशाएँ, इंद्रियाँ। विष्णु के अवतार, रावण के मुख। **ग्यारह**—इन्द्रियाँ, रुद्र। **बारह**—महीने, राशियाँ। आदित्य, दर्शन में बारह चीजें। **चौदह**—लोक, मनु, रत्न, विद्याएँ। **पन्द्रह**—तिथियाँ। **सोलह**—कलाएँ, श्रृंगार, संस्कार। रुपये में १६ आने। **अठारह**—पुराण, उपपुराण, विद्याएँ, स्मृतियाँ, नरक। **बीस**—नख, रावण के हाथ, कोड़ी, बीघे के बिस्वे। **चौबीस**—तत्व। **पचीस**—तत्व, विष्णु के अवतार। **सत्ताईस**—नक्षत्र, भोग। **तीस**—राशि के अंश, महीने के दिन। **तैंतीस**—देवता। **चालीस**—मन के सेर। **उनचास**—पवन। **चौंसठ**—कलाएँ। **चौहत्तर**—चतुर्युगी। **अस्सी**—वात विकार। **चौरासी**—लक्षयोनियाँ, आसन। **एक सौ आठ**—माला के दाने। **एक सौ ग्यारह**—रामानन्दी तिलक। **सहस्र**—शेष के फण, इन्द्र की आँखें।

अन्य उपयोगी शब्द—हिन्दी में कुछ ऐसे गूढार्थक शब्द भी आते हैं जिनका समझना आवश्यक है। ऐसे शब्दों के नमूने नीचे दिये जाते हैं। इनमें प्रायः संख्यावाची शब्द भी आ गये हैं।

[दो]

द्विज—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, पक्षी।

[तीन]

तीन एषणा—लोक-बड़ाई, धन राज्यादि, स्त्री-पुत्र आदि। तीन कर्म—सञ्चित, प्रारब्ध, क्रियमाण। तीन कांड—कर्म, उपासना; ज्ञान। तीन काल—भूत, वर्तमान, भविष्य। तीन गुण—सत, रज, तम। तीन दोष—वात, पित्त, कफ। तीन देव—ब्रह्मा, विष्णु, महेश। तीन लोक—स्वर्ग, मर्त्य, पाताल। तीन अग्नि—बड़वाग्नि, दावाग्नि जठराग्नि। तीन ऋण—देव-ऋण, ऋषि-ऋण, पितृ ऋण। तीन ताप—दैहिक, दैविक, भौतिक। तीन श्रोता—मुक्त, मुमुक्षु, विषयी।

[चार]

चतुरङ्गिनी सेना—हाथी, घोड़े, रथ, पैदल। चार योनियाँ—जरायुज, अण्डज, स्वेदज, उद्भिज। चार आश्रम—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यास। चार प्रमाण—प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान। चार रिपु—काम, क्रोध, लोभ, मोह। चार युग—सतयुग (१७२८००० वर्ष), त्रेता (१२९६००० वर्ष); द्वापर (८६४००० वर्ष), कलियुग (४३२००० वर्ष)। चार फल—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष। चार वर्ण—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य शूद्र। चार वेद—ऋग्वेद, यजुर्वेद सामवेद, अथर्ववेद। चार उपवेद—ऋग्वेद का आयुर्वेद, यजुर्वेद का धनुर्वेद, सामवेद का गांधर्ववेद, अथर्ववेद का स्थापत्य। चार अवस्थायें—जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, समाधि। चार भक्त—आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी, ज्ञानी। चार उपाय—साम, दाम; दण्ड, भेद।

[पाँच]

पञ्चगव्य—गोबर, गोमूत्र, दूध, दही, घृत। पञ्चामृत—दूध, दही, घी, शहद, शक्कर। पाँच तत्व—पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश। पाँच कोश—अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय,

आनन्दमय। पाँच प्राण—प्राण, अपान, उदान, समान, व्यान। पाँचयज्ञ—सन्ध्या, अग्निहोत्र, बलिवैश्वदेव, पितृयज्ञ, अतिथियज्ञ। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ—आँख, नाक, कान, जीभ, त्वचा। पाँच कर्मेन्द्रियाँ—हाथ, पाँव, वाणी, मल और मूत्र त्यागने के स्थान।

[छः]

छः ऋतुएँ—वसन्त (चैत्र, वैशाख), ग्रीष्म, (ज्येष्ठ आषाढ़), वर्षा (श्रावण भाद्रपद), शरद (कुआर कार्तिक), हेमन्त (अगहन पौष), शिशिर (माघ फाल्गुन) छः ईतियाँ—बहुत बरसना, सूखा, चूहे, टीड़ा, तोते, राजा की चढ़ाई। छः कर्म—पढ़ना, पढ़ाना, यज्ञ करना यज्ञ कराना, दान देना, दान लेना। छः दर्शन—न्याय, सांख्य, वैशेषिक, योग, वेदान्त, कर्ममीमांसा। छः रस—मीठा, खारा, चरपरा, कसैला, कड़वा, खट्टा। छः वेदाङ्ग—छन्द, कल्प, ज्योतिष, निरुक्त, शिक्षा, व्याकरण।

[सात]

सात ऋषि—कश्यप, अत्रि, भरद्वाज, विश्वामित्र, गौतम, वशिष्ठ, यमदग्नि। सात तल—अतल, वितल, सुतल, महातल, तलातल, रसातल, पाताल। सात द्वीप—जम्बू, शाक, कुश, क्रौञ्च, शाल्मली, गोमेद, पुष्कर। सात अंग—(राज के) मन्त्री, शत्रु, घोड़ा, हाथी, देश, कोष, गढ़। सात रंग—लाल, नारंगी, पीला, हरा, नीला, आसमानी, बैंगनी। सात सागर—लवण, इक्षु, दधि, क्षीर, मधु, मदिरा, घृत।

[आठ]

अष्ट छाप—(ब्रज के ८ कवीश्वर)—सूरदास, कृष्णदास, परमानन्द, कुम्भनदास, चतुर्भुजदास, छीतस्वामी, नन्ददास, गोविन्दस्वामी। आठ पहर (१) दिन के चार पहर—पूर्वाह्ण, मध्याह्न, अपराह्ण, सायं (२) रात के चार पहर—प्रदोष, निशीथ, त्रियामा, उषा। आठ अंग—(योग के)—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार,

धारणा, ध्यान, समाधि। **आठ सिद्धियाँ**—अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशत्व, वशित्व।

[नव]

नव ग्रह—रवि, सोम, मंगल, बुद्ध, गुरु, शुक्र, शनि, राहु, केतु।

नव निधि—महापद्म, पद्म, शंख, मकर, कच्छप, मुकुन्द, कुन्द, नील और खर्व। **नवधा भक्ति**—श्रवण, कीर्तन, स्मरण, चरणसेवा, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य, आत्म-निवेदन। **नव रस**—शृंगार, करुण, शान्त, रौद्र, वीर, अद्भुत, हास्य, भयानक, वीभत्स। **नव रात्रि**—चैत्र शुक्ल और कुआर शुक्ल की प्रतिपदा से लेकर नवमी तक।

[दस]

दश अवतार—मच्छ, कच्छप, वाराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण, बुद्ध, कल्कि। **दश दिशाएँ**—उत्तर, दक्षिण, पूर्व, पश्चिम, ऊपर, नीचे, नैऋत्य, वायव्य, ईशान, आग्नेय। **दश दिक्पाल**—पूर्व के इन्द्र, आग्नेय कोण के अग्नि, दक्षिण के यमराज, नैऋत्य कोण के नैऋत्य, पश्चिम के वरुण, वायव्य कोण के पवन, उत्तर के कुबेर, ईशान कोण के महादेव, ऊपर की दिशा के ब्रह्मा, नीचे की दिशा के विष्णु।

[बारह]

बारह आदित्य राशियाँ—मेष, वृष, मिथुन, कर्क, सिंह, कन्या, तुला, वृश्चिक, धन, मकर, कुम्भ, मीन।

[चौदह]

चौदह रत्न—लक्ष्मी, मणि, रम्भा, वारुणी, अमृत, शंख, हाथी, धनु, धन्वन्तरि, धेनु, शशि, कल्पद्रुम, विष, वाजि।

[सोलह]

सोलह कलाएँ—अमृता, मानदा, पूषा, तुष्टि, पुष्टि, रति, धृति, शशिनी, चन्द्रिका, कान्ति, ज्योत्स्ना, श्री, प्रीति, अङ्गदा, पूर्णा, पूर्णामृता। **सोलह शृङ्गार**—शौच, उबटन, स्नान, केशबन्धन, अङ्गराग,

अञ्जन, महावर, दन्तरञ्जन, ताम्बूल, वसन, भूषण, सुगन्ध, पुष्पहार, कुंकुम, भाल-तिलक, चिबुक-बिन्दु। सोलह संस्कार—गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्त, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूड़ाकर्म, कर्णबेध, उपनयन, वेदारम्भ, समावर्त्तन, विवाह, वानप्रस्थ, संन्यास, देहान्त संस्कार।

[अठारह]

अठारह पुराण—ब्रह्म, पद्म, विष्णु, शिव, भागवत, नारद, मार्कण्डेय, अग्नि, भविष्य, ब्रह्मवैवर्त्त, लिंग, बराह, स्कन्द, वामन, कूर्म, मत्स्य, गरुड़, ब्रह्माण्ड।

[सत्ताईस]

सत्ताईस नक्षत्र—अश्विनी, भरणी, कृत्तिका, रोहिणी, मृगशिरा, आर्द्रा, पुनर्वसु, पुष्य, अश्लेषा, मघा, पूर्वाफाल्गुणी, उत्तरा, हस्त, चित्रा, स्वाति, विशाखा, अनुराधा, ज्येष्ठा, मूल, पूर्वाषाढ़, उत्तराषाढ़, श्रावण, धनिष्ठा, शतभिषा, पूर्वाभाद्रपदा, रेवती।

[तैंतीस]

तैंतीस देवता—८वसु, ११ रुद्र, १२ आदित्य, इन्द्र, प्रजापति।

अध्याय ११

शब्द-शुद्धि-विचार

शुद्ध लिखना लेखन-कला का आवश्यक अङ्ग है। शब्दों का अर्थ जानने में उसका शुद्ध उच्चारण तथा उसी के अनुसार लेख बड़ा सहायक होता है। इस दृष्टि से देवनागरी लिपि इतनी शुद्ध और पूर्ण है कि उसमें अशुद्ध लिखने का प्रायः अवसर ही नहीं मिलता, परन्तु देखने में आता है कि बड़े-बड़े लेखकों से भी असावधानी अथवा अज्ञान-वश निम्नप्रकार की अशुद्धियाँ होती हैं :—

(१) वर्ण और मात्रा-सम्बन्धी, (२) सन्धि-सम्बन्धी, (३) समास-सम्बन्धी, (४) प्रत्यय-सम्बन्धी, (५) विशेषण तथा विशेष्य-सम्बन्धी (६) पुनरुक्ति सम्बन्धी, (७) लिङ्ग-सम्बन्धी, (८) वचन-सम्बन्धी, (९) विभक्ति सम्बन्धी, (१०) अन्य।

१. वर्ण-सम्बन्धी अशुद्धियाँ

शब्दों में वर्ण-सम्बन्धी अशुद्धियाँ असावधानी अथवा उनका शुद्ध उच्चारण न जानने के कारण होती हैं। ऐसी अशुद्धियाँ निम्न प्रकार की होती हैं :—

[१] **न और ण सम्बन्धी अशुद्धियाँ**—ब्रजभाषा तथा अवधी भाषा की रचनाओं में ण के स्थान में न का ही प्रयोग पाया जाता है, परन्तु आधुनिक काल में खड़ी बोली का प्रचार होने से रचनाओं में शब्दों का विशुद्ध संस्कृत रूप देने की प्रथा चल पड़ी है। इसलिए लेखक को न और ण का प्रयोग करते समय निम्नाङ्कित नियमों को सदैव ध्यान में रखना चाहिए :—

नियम १—ष, र, ऋ, के परे यदि स्वरयुक्त न हो अथवा दोनों के बीच स्वर, कवर्ग, पवर्ग, य, व, ह में से एक अथवा कई आ जाते हैं

तो उस न के स्थान में ण हो जाता है, जैसे—चरण, शरण, प्रमाण, उत्तरायण, आकर्षण।

नियम २—संस्कृत की जिन धातुओं में ण होता है उनसे बने हुए शब्दों में भी ण रहता है, जैसे—गण, निपुण, गुण, तृण।

[२]श और ष सम्बन्धी अशुद्धियाँ—श और ष वास्तव में भिन्न-भिन्न अक्षर हैं। अतएव एक के स्थान पर दूसरे का होना अनुचित है।

नियम १—श के सम्बन्धी क् और ग हैं। दिक्पति, दिग्वसन, दिग्मंडल, दिक्शूल, दिग्दर्शन और दिशा शब्दों में एक ही मूल है।

नियम २—संस्कृत शब्दों में च, छ के पहले श ही आता है, जैसे—निश्चित, निश्चल, दुश्चरित्र, निश्छल।

नियम ३—जिन संस्कृत शब्दों की मूल धातु में ष होता है उनसे बने शब्दों में भी ष ही रहता है, जैसे—पुष् धातु से बने हुए पुष्ट, पुष्टि पोष, पोषण, पोषक, पुष्प, पोष्य, पौष; रुष् धातु के बने हुए रुष्ट, रोष और शिष् धातु से बने हुए शिष्य, शिष्ट, शेष, विशेष आदि में ष ही है।

नियम ४—अ आ को छोड़कर कोई भी स्वर हो; कवर्ग का कोई अक्षर हो; य र, ल, व, ह में से कोई अक्षर हो, तो उसके परे आया हुआ स, ष हो जाता है, जैसे—अभि+सेक=अभिषेक। नि+सिद्ध=निषिद्ध। वि+सम=विषम।

नियम ५—सन्धि करने में क, ख, ट, ठ, प, फ के पहले ष आता है, जैसे—निः+काम=निष्काम। निः+फल=निष्फल। निः+कलङ्क=निष्कलंक। निः+पाप=निष्पाप।

नियम ६—कुछ अन्य शब्दों में भी ष् का प्रयोग होता है, जैसे—भीष्म, दुष्यन्त, वाष्प, मनुष्य, पुरुष, पुष्प, वृषभ, मेष, इत्यादि।

[३] स और ष सम्बन्धी अशुद्धियाँ—स और ष के प्रयोग के सम्बन्ध में किसी नियम का पालन नहीं किया जाता। ष का प्रयोग

केवल संस्कृत शब्दों में होता है। जहाँ ख और ष दोनों प्रकार का उच्चारण हो सके वहाँ ष से लिखना प्रायः शुद्ध होता है, जैसे—आषाढ़, पुरुष, विशेष इत्यादि।

[४] छ और क्ष सम्बन्धी अशुद्धियाँ—क्ष संयुक्ताक्षर है। यह क और श के मेल से बना है। इनके प्रयोग के सम्बन्ध में कोई नियम नहीं बनाया जा सकता। संस्कृत के क्ष वाले शब्द ठेठ हिन्दी में छ से लिखे जाते हैं; परन्तु जहाँ तक हो सके उनका शुद्ध रूप ही लिखना उचित है। छिद्र, छत्र, छात्र, स्वच्छ, अच्छा आदि छ से लिखे जाते हैं। कक्ष, प्रत्यक्ष, नक्षत्र, क्षत्र, अक्ष, समक्ष, क्षमा, क्षोभ आदि क्ष से लिखे जाते हैं।

[५] ब और व सम्बन्धी अशुद्धियाँ—संस्कृत में ब वाले शब्दों का संख्या कम तथा व वालों की संख्या बहुत अधिक है। बोल-चाल में लोग प्रायः व के स्थान में ब उच्चारण करते हैं। इसीलिए अशुद्धियाँ होती हैं। इस सम्बन्ध में नियम नहीं बनाये जा सकते। उच्चारण पर विशेष रूप से ध्यान देने से ऐसी अशुद्धियाँ दूर हो सकती हैं। ब्रह्म, बहुधा, बाण, बाल बुद्धि, बीज, बिम्ब, बन्धु आदि शब्द ब से लिखे जाते हैं और विशेष, वनिता, विद्या, वैश्य, विवरण, विनाश, व्यवहार, वायु, विकार, विलास आदि शब्द व से लिखे जाते हैं। इनका अशुद्ध प्रयोग करने से कभी-कभी अर्थ बदल जाता है, जैसे—शव, शब। वह, बह। वार, बार।

[६] ड़ और ण सम्बन्धी अशुद्धियाँ—ड़ और ण के अक्षरों के उच्चारण पर ध्यान देने से इस सम्बन्ध में अशुद्धियाँ नहीं होतीं। गुड़ और गुण के उच्चारण में बहुत अन्तर है।

[७] ड और ड़ सम्बन्धी अशुद्धियाँ—ड और ड़ के उच्चारण में भी बहुत भेद है। कोड़ा और सोडा के उच्चारण में दोनों का भेद स्पष्ट है।

[८] ढ और ढ़ सम्बन्धी अशुद्धियाँ—ढ और ढ़ के उच्चारण

में भी बहुत अन्तर है। ढकना और पढ़ना के उच्चारण में दोनों का भेद स्पष्ट हो जाता है।

[९] ट और ठ सम्बन्धी अशुद्धियाँ—ट और ठ के उच्चारण में अन्तर है, इसलिए शुद्ध उच्चारण द्वारा ऐसी भूलें शुद्ध की जा सकती हैं। घनिष्ट यथेष्ट, सन्तुष्ट, पृष्ठ आदि शब्दों को घनिष्ठ, यथेष्ठ, सन्तुष्ठ, पृष्ट लिखना अशुद्ध है।

[१०] ए और ऐ सम्बन्धी अशुद्धियाँ—ए और ऐ के उच्चारण पर ध्यान देते समय यह स्मरण रखना चाहिए कि एँ की तरह का कोई अक्षर हिन्दी भाषा में नहीं है। इसलिए हुऐ, जाइऐ, लिऐ आदि लिखना अशुद्ध है। इनके स्थान पर हुए, जाइए, लिए ही लिखना चाहिए।

[११] ऋ और रि सम्बन्धी अशुद्धियाँ—संस्कृत शब्दों के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं ऋ का प्रयोग नहीं करना चाहिए। कुछ संस्कृत शब्दों के आदि में, कुछ के मध्य में और कुछ के अन्त में ऋ होती है, जैसे—ऋण, ऋषि, तृण, मातृ, ऋषि इत्यादि। इस सम्बन्ध में हमें पृथा और प्रथा, गृह और ग्रह, मातृ और मात्र का भेद, अर्थ तथा उच्चारण की दृष्टि से समझ लेना चाहिए। कुछ शब्द दोनों प्रकार से लिखे जाते हैं, जैसे—तृपुण्ड और त्रिपुंड, तृपुर और त्रिपुर, तृफला और त्रिफला, तृविक्रम और त्रिविक्रम, तृभुवन और त्रिभुवन, तृलोक और त्रिलोक, तृविध और त्रिविध।

[१२] ये और ए सम्बन्धी अशुद्धियाँ—हिन्दी में इस समय कुछ शब्दों के दो रूप प्रचलित हैं, जैसे—चाहिये और चाहिए। लिये और लिए, रुपये और रुपए, संस्थाएँ और संस्थायें इत्यादि। ऐसे शब्दों में कौन शुद्ध है और कौन अशुद्ध, इसका निर्णय करने के लिए हमें उनके मूल रूप पर ध्यान देना चाहिए। लिये शब्द लिया का बहुवचन है। इसलिए यह ठीक है। परन्तु जब लिये अव्यय हो तब उसे लिए ही लिखना उचित है। इसी प्रकार चाहिये में ये का अवश्य

अस्पष्ट होने के कारण ए ही लिखना चाहिए। इस दृष्टि से पूछिए, जाँचिए, लिखिए, जाइए आदि शुद्ध हैं।

[१३] **यी और ई सम्बन्धी अशुद्धियाँ**—हिंदी में गयी को गई, आयी को आई इत्यादि लिखने का भी चलन है। ऐसे शब्दों के दोनों रूप ग्राह्य हैं। और दोनों रूप शुद्ध समझे जाते हैं। परन्तु गया से गयी, खाया से खायी लिखना हमें अधिक समीचीन जान पड़ता है। इसी प्रकार हुआ से हुयी की अपेक्षा हुई लिखना अधिक ठीक जँचता है।

[१४] **वा और आ संबन्धी अशुद्धियाँ** हिन्दी में कुछ लेखक हुआ को हुवा लिखते हैं। ऐसा लिखना अशुद्ध है। होना का भूतकाल हुआ है। इसी प्रकार खायेगा को खायगा, जावो को जाओ लिखना चाहिए।

[१५] **विदेशी शब्द सम्बन्धी अशुद्धियाँ**—कुछ लेखक विदेशी शब्दों को उनके तत्सम रूप में लिखते हैं। ऐसे शब्दों को हमें उनके तद्भव रूप में लिखना चाहिए। लैंटर्न को लालटेन और मज़ा को मजा लिखने में जो मजा मिलता है वह भाषा के विकास की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

[१६] **एक वर्गीय अक्षरों का संयोग**—एक अक्षर को दूसरे अक्षर से मिलाने में भी भूलें हो जाती हैं। इस सम्बन्ध में यह स्मरण रखना चाहिए कि किसी भी वर्ग के द्वितीय और चतुर्थ अक्षर का संयोग नहीं होता, उसके पहले उसी वर्ग का प्रथम अथवा तृतीय अक्षर यथाक्रम होना चाहिए, जैसे—सिक्ख, बग्घी, अच्छा, चिट्ठी।

[१७] **अनुस्वार का संयुक्ताक्षर में परिवर्तन**—अनुसार का संयुक्ताक्षर में परिवर्तन कई नियमों के अनुसार होता है।

नियम १—अनुस्वार के परे जिस वर्ग का अक्षर हो उसी वर्ग के पाँचवें अक्षर में अनुस्वार को बदलना चाहिए। घंटा शब्द में अनुस्वार के परे ट है जो टवर्ग का अक्षर है। इसलिए अनुस्वार को उसी टवर्ग के पाँचवें अक्षर ण में बदल सकते हैं। इस प्रकार घंटा और

घण्टा दोनों रूप शुद्ध हैं, परन्तु घन्टा लिखना अशुद्ध है।

नियम—यदि अनुस्वार के परे य, र, ल, व, श, ष, स और ह में से कोई अक्षर हो तो अनुस्वार नहीं बदलता, जैसे—संयम, संरक्षक, संशोधन, संसर्ग इत्यादि। इस नियम से स्वयम्वर शब्द अशुद्ध है; स्वयंवर होना चाहिए।

[१८] **र सम्बन्धी अशुद्धियाँ**—र के प्रयोग में भी बहुत अशुद्धियाँ होती हैं। इस प्रकार की अशुद्धियाँ दो प्रकार की होती हैं। कभी लेखक स्वरयुक्त र के स्थान रेफ और कभी र के पूर्व स्वर का अभाव कर देते हैं। इसलिए मनोरथ का मनोर्थ, असमर्थ का असमरथ, स्मरण का स्मर्ण, निरपराध का निर्पराध, परमात्मा का प्रमात्मा रूप हो जाता है, जो अशुद्ध है। इस सम्बन्ध में यह स्मरण रखना चाहिए कि हिन्दी में र के चार रूप प्रचलित हैं :—

(१) 'र'—इसका प्रयोग सरल है और इसके उच्चारण में पूरा समय लगता है जैसे—कर डर हर (२) 'ं', इसमें से 'र' का स्वर निकल गया है। उच्चारण में र का आधा समय लगता है, जैसे—कर्म, धर्म, नर्म, शर्म (३) '्' यह भी 'र' का रूप है, जैसे—क्रम, प्रथा, नम्र, ग्रह। (४) '्'—इसका उच्चारण 'प्रथा' वाले 'र' की भाँति होता है और इसका प्रयोग ट और ड में अधिक होता है, जैसे—ट्रेन, ट्रङ्क, ड्रामा, ड्रेन।

नोट—'र' यदि किसी व्यञ्जन के आरम्भ में आता है तो उसके ऊपर (ं) लिखा जाता है, जैसे—सर्प, मार्ग; यदि बाद को आता है तो खड़ी पाई वाले अक्षर से इस प्रकार (्) और बिना खड़ी पाई वाले अक्षर से इस प्रकार (्) मिलता है, जैसे—चक्र, राष्ट्र।

[१९] **स सम्बन्धी अशुद्धियाँ**—स के प्रयोग में दो प्रकार की अशुद्धियाँ होती हैं। कभी लोग स के स्थान में स् लिखकर और कभी शब्द के आदि में स के साथ किसी अक्षर का मेल होने पर अशुद्धियाँ करते हैं जैसे—स्त्री को इस्त्री, स्नान का अस्नान, परस्पर को परसपर

लिखना अशुद्ध है।

[२०] अनुस्वार और चन्द्रबिन्दु सम्बन्धी अशुद्धियाँ—अनुस्वार (ं) और चन्द्रबिन्दु (ँ) सम्बन्धी अशुद्धियाँ भी बहुत होती हैं। इसलिए लिखते समय इनपर विशेष रूप से ध्यान देना चाहिए। इनके सम्बन्ध में निम्नाङ्कित नियम विचारणीय हैं :—

नियम १—जब उच्चारण खींचकर किया जाता है तब अनुस्वार और जब उच्चारण हलका हो तब चन्द्रबिन्दु लगाया जाता है, जैसे—संत, कंत, दंत में अनुस्वार और हँसना, जूँ, गेहूँ आदि में चन्द्रबिन्दु लगता है।

नियम २—लघु अक्षरों में अनुस्वार लगने से वे गुरु हो जाते हैं; पर चन्द्र बिन्दु लगाने से वे लघु ही बने रहते हैं। संखिया शब्द के सं अक्षर में दो मात्राएँ हैं, परन्तु अँखियाँ शब्द के अँ अक्षर में एक ही मात्रा है।

हल्सम्बन्धी अशुद्धियाँ—कुछ शब्दों के अन्तिम अक्षरों में हल् लगता है। हिन्दी में इसे लगाने की विशेष आवश्यकता नहीं पड़ती, पर संस्कृत में इसका लगाना अनिवार्य है। फिर भी कुछ शब्द ऐसे हैं जिन्हें शुद्ध लिखना ही ठीक है। ऐसे शब्द पृथक्, श्रीमान्, राजन्, अर्थात्, बृहत् आदि हैं।

२. सन्धि-सम्बन्धी अशुद्धियाँ

सन्धि के सम्बन्ध में अशुद्धियाँ सन्धि के नियमों की उपेक्षा करने से होती हैं। सन्धि के नियम हम अन्यत्र दे चुके हैं। यहाँ केवल इतना कहना आवश्यक है कि सन्धि में द्वितीय शब्द के आदि में यदि कोई स्वर है और उनमें कोई व्यञ्जन आकर मिल गया है तो उसे वैसा ही रहने देना चाहिए, जैसे—रीति + अनुसार में अनुसार शब्द के अ में य्य मिलेगा तो अ वैसा ही बना रहेगा। अतएव रीत्यानुसार के स्थान पर रीत्यनुसार शुद्ध है। इसी प्रकार अति—अधिक = अत्यधिक जाति + अनुसार = जात्यनुसार, नीति + उपदेश = नीत्युपदेश, निः +

अपराध = निरपराध, उपरि + उक्त = उपर्युक्त, निः + उत्साह = निरुत्साह इत्यादि।

३. समास-सम्बन्धी अशुद्धियाँ

समास-द्वारा किस प्रकार दो शब्द मिलाकर नये शब्द बनाये जाते हैं यह हम अन्यत्र बता चुके हैं। अतएव यहाँ हम कुछ ऐसे शब्दों की सूची देते हैं जिनके अशुद्ध रूप असावधानी के कारण रचनाओं में स्थान पा जाते हैं।

अशुद्ध	शुद्ध	अशुद्ध	शुद्ध
कृतघ्नी	कृतघ्न	पक्षीशावक	पक्षिशावक
गुणीगण	गुणिगण	शशीभूषण	शशिभूषण
महात्मागण	महात्मगण	निर्धनी	निर्धन
भ्रातागण	भ्रातृगण	पिताभक्ति	पितृभक्ति
महाराजा	महाराज	दिनरात्री	दिनरात्र
दुरावस्था	दुरवस्था	प्रत्योपकार	प्रत्युपकार

४. प्रत्यय-सम्बन्धी अशुद्धियाँ

हिन्दी लेखकों से प्रत्यय-सम्बन्धी अशुद्धियाँ बहुत होती हैं। अतएव इस सम्बन्ध में नीचे कुछ नियम दिये जाते हैं। उनपर विचार करने से अशुद्धियाँ दूर हो सकती हैं।

नियम १—भाव प्रत्ययान्त शब्दों के पश्चात् पुनः भाव प्रत्यय लाना अशुद्ध है। इस नियम के अनुसार आधिक्यता का आधिक्य, आलस्यता का आलस्य, ऐक्य अथवा एकता, गौरवत्व का गौरव, लाघवता का लाघव अथवा लघुता, शैशवत्व का शैशव अथवा शिशुत्व ही शुद्ध रूप हैं।

नियम २—बहुव्रीहि समास युक्त पद से यदि अपेक्षित अर्थ निकलता हो तो प्रत्यय नहीं लगाना चाहिए। इस नियम के अनुसार अनाथिनी का अनाथा, निर्गुणी का निर्गुण, निरोगी का निरोग, श्यामा-

ङ्गिनी का श्यामाङ्गी, सुकेशिनी का सुकेशी अथवा सुकेशा इत्यादि शुद्ध है।

नियम ३—किसी विशेषण शब्द के पीछे विशेषार्थक प्रत्यय का प्रयोग करना अशुद्ध है। इस नियम के अनुसार अभीष्टित का अभीष्ट, आवश्यकीय का आवश्यक, एकत्रित का एकत्र, ग्राहणीय का ग्रहणीय अथवा ग्राह्य, पुज्यनीय का पूज्य अथवा पूजनीय, प्रफुल्लित का प्रफुल्ल आदि रूप शुद्ध हैं।

नियम ४—जिन शब्दों के पूर्व स, सह अथवा यथा और बाद में पूर्वक, अनुसार अथवा वशतः लगाया जाता है उनके प्रयोग में भी प्रायः अशुद्धियाँ होती हैं, जैसे—योग्यतानुसार का योग्यतानुसार, सकातर का कातर, सविनयपूर्वक का विनयपूर्वक अथवा सविनय, सस्पष्ट का स्पष्ट शुद्ध रूप है।

नियम—५—किसी प्रत्यय के पश्चात् तदर्थवाची अन्य प्रत्यय अथवा तदर्थबोधक अन्य शब्द का प्रयोग करने से अर्थ में भ्रम हो जाता है, जैसे—अधीनस्थ का अधीन, आमूलतः का मूलतः, मेधावीयुक्त का मेधावी अथवा मेधायुक्त, षष्ठम का षष्ठ, सम्बन्धीय का सम्बन्धी शुद्ध रूप है।

नियम ६—जिन शब्दों के अन्त में य हो उनके अन्त में यी अथवा यिनी ही लगाना चाहिये, न्याय से न्यायी लिखना शुद्ध और न्याई लिखना अशुद्ध है। इसी प्रकार वाजपेय के वाजपेयी, व्यय से व्ययी, विनय से विनयी, विजय से विजयी शुद्ध शब्द बनते हैं। अन्य प्रत्ययों में भी इस नियम का ध्यान रखना चाहिए, जैसे—समय से सामयिक, न्याय से नैयायिक, नायक से नायिका इत्यादि।

नियम ७—जिन शब्दों के अन्त में 'त्' हो उसके अन्त में त्व प्रत्यय जोड़कर भाववाचक संज्ञा बनायी जाती है, जैसे—महत् + त्व = महत्त्व। महत्व लिखना अशुद्ध है।

नियम ८—बहुवचनार्थ विशेषण, प्रत्यय तथा शब्द के योग में बहुवचनार्थक प्रत्यय, विभक्ति का योग अथवा शब्द के सहित समास

का प्रयोग निषिद्ध है। इस नियम के अनुसार सेना-समूह अशुद्ध है। सेना अथवा सैन्य-समूह शुद्ध हैं। इसी प्रकार सेना के स्थान पर सैन्य और परिषद् वर्ग के स्थान पर पारिषद वर्ग होना चाहिए।

५. विशेषण और विशेष्य-सम्बन्धी अशुद्धियाँ

प्रायः लिखते समय लेखकों से विशेषण और विशेष्य-सम्बन्धी अशुद्धियाँ हो जाया करती हैं। इस सम्बन्ध में श्रेष्ठ और अनुभवी लेखकों की रचनाओं को ध्यान से पढ़ना चाहिए और उनकी शब्दावली पर विचार करना चाहिए। नीचे हम ऐसे शब्दों की एक सूची देते हैं जो विशेषण और विशेष्य की दृष्टि से अशुद्ध हैं :—

अशुद्ध	शुद्ध	अशुद्ध	शुद्ध
सन्तोषचित्त	सन्तुष्टचित्त	निश्चय पदार्थ—	निश्चित पदार्थ
आश्चर्य दृश्य	आश्चर्यजनक दृश्य।	गोपन कथा—	गोपनीय कथा
लब्ध प्रतिष्ठित	लब्धप्रतिष्ठ	लाचार वश—	लाचारी वश

६. पुनरुक्ति-सम्बन्धी अशुद्धियाँ

समानार्थबोधक दो शब्दों का एक ही साथ प्रयोग करना अनुचित है, जैसे—यौवनावस्था अशुद्ध है। यौवन अथवा युवावस्था शुद्ध है। इसी प्रकार अश्रुजल का अश्रु अथवा नेत्रजल, समतुल्य का सम अथवा तुल्य, आकण्ठ पर्यन्त का आकण्ठ अथवा कण्ठपर्यन्त, विविध प्रकार का विविध, स्वत्वाधिकार का स्वत्व अथवा अधिकार शुद्ध रूप है। किन्तु कभी-कभी किसी शब्द-विशेष का अर्थ प्रकट करने के लिए ऐसा उचित समझा जाता है, जैसे—अनुनय-विनय, भाव-भंगी, लालन-पालन, पालन-पोषण, आचार-व्यवहार, भाई-बन्धु, लाज-शर्म, विघ्न-बाधा, वैर-विरोध, लड़ाई-झगड़ा, काम-काज इत्यादि।

७. लिंग-सम्बन्धी अशुद्धियाँ

लिखते समय लिंग-सम्बन्धी अशुद्धियाँ भी हो जाया करती हैं। इसलिए इस ओर भी ध्यान देना चाहिए। कुछ नमूने यहाँ दिये जाते हैं:—

अशुद्ध	शुद्ध	अशुद्ध	शुद्ध
श्रीमान् रानी	श्रीमतीरानी	विद्वान स्त्री	विदुषी स्त्री
गुणवान स्त्री	गुणवती स्त्री	बुद्धिमान बालिका	बुद्धिमती बालिका
मूर्तिमय करुणा	मूर्तिमयी करुणा	जलवाही नदी	जलवाहिनी नदी

८. वचन-सम्बन्धी अशुद्धियाँ

एक वचन का बहुवचन बनाते समय प्रायः अशुद्धियाँ होती हैं। इस सम्बन्ध में नीचे लिखी बातों पर ध्यान देना चाहिए :—

(१) आकारान्त शब्दों के बहुवचन में स्वर लिखते हैं, जैसे— महिलाएँ, संख्याएँ, राजाओं इत्यादि।

(२) इकारान्त तथा ईकारान्त शब्दों के बहुवचन में य लिखते हैं, जैसे—ऋषियों, नदियों, घोड़ियों इत्यादि।

(३) उकारान्त तथा ऊकारान्त शब्दों के बहुवचन में प्रायः स्वर लिखते हैं। जैसे—भानुओं, भालुओं इत्यादि।

९. विभक्ति-सम्बन्धी अशुद्धियाँ

विभक्ति के प्रयोग के सम्बन्ध में लोगों के दो मत हैं। कोई उन्हें शब्द के साथ मिलाकर लिखता है और कोई पृथक। ऐसी दशा में दोनों प्रकार से विभक्तियाँ लगायी जा सकती हैं; परन्तु एक रचना में एक ही रीति का अनुसरण करना चाहिए। सर्वनामों में विभक्ति के चिह्न प्रायः शब्दों से मिलाकर ही लिखे जाते हैं, जैसे—उसने, आपको, मुझको इत्यादि।

१०. लिपि-सम्बन्धी अशुद्धियाँ

ऊपर की पंक्तियों में हमने जिस प्रकार की अशुद्धियों की ओर ध्यान आकर्षित किया है और उन्हें शुद्ध करने के जो नियम बताये हैं उनपर विचार करने और उन्हें स्मरण रखने से बहुत-सी अशुद्धियों से हम अपनी रचनाओं को मुक्त कर सकते हैं। यहाँ कुछ नियम और दिये जाते हैं:—

नियम १. स्वर जब किसी व्यञ्जन के पूर्व आते हैं तब उनका रूप नहीं बदलता परन्तु जब बाद में आते हैं तब उनका रूप बदल जाता है।

नियम २. अनुस्वार के ऊपर, विसर्ग स्वर के बाद और ऋ की मात्रा व्यंजन के नीचे लगती है।

नियम ३. एक समय में एक व्यंजन में केवल एक मात्रा लगती है। 'क्रि' लिखना अशुद्ध है।

नियम ४. र के साथ जब उ, ऊ की मात्राएँ लगती हैं तो उसका रूप क्रम से रु, रू हो जाता है।

नियम ५. जब दो या अधिक व्यंजनों के बीच कोई स्वर नहीं हो तब वे मिल जाते हैं और उन्हें संयुक्ताक्षर कहते हैं।

नियम ६- व्यंजन दो प्रकार के होते हैं, एक तो वे जिनके अन्त में खड़ी पाई होती है, जैसे प, स, और दूसरे वे जिनके अन्त में खड़ी पाई नहीं होती जैसे—द, ट, क। जब खड़ी पाई वाले अक्षर दूसरे अक्षरों से मिलते हैं तब उनकी पाई का लोप हो जाता है, जैसे साम्य, शान्त।

नियम ७. ङ, ञ, ण, न, म अपने ही वर्ग के व्यंजनों से मिलते हैं, जैसे—रङ्ग, चञ्चल, चन्द्र।

अन्त में हम एक ऐसी सूची और देते हैं जिसमें अशुद्ध शब्द शुद्ध किये गये हैं :—

अशुद्ध	शुद्ध	अशुद्ध	शुद्ध
असन्तोश	असन्तोष	पौर्वात्य	पौर्वस्य
आदर्णीय	आदरणीय	पुष्टी	पुष्टि
उन्नतशील	उन्नतिशील	शाशन	शासन
उपलब्ध	उपलब्ध्य	प्राप्ती	प्राप्ति
औसर	अवसर	बृज	ब्रज

अध्याय १२

मुहाविरे और कहावतें

मुहाविरा अरबी भाषा का शब्द है। इसका साधारण अर्थ है बातचीत, अभ्यास; परन्तु अब यह एक पारिभाषिक शब्द की भाँति प्रयुक्त होता है। कोई भी ऐसा वाक्यांश जिसका शब्दार्थ न लेकर कोई विलक्षण अर्थ लिया जाय मुहाविरा कहलाता है। हिन्दी में इसे वाग्धारा अथवा वाग्रीति भी कहते हैं।

मुहाविरे का पारिभाषिक अर्थ

यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो ज्ञात होगा कि मुहाविरों और उनके लाक्षणिक अर्थों में कोई-न-कोई सम्बन्ध अवश्य होता है। मुँह काला करना एक मुहाविरा है। इसका लाक्षणिक अर्थ है कलङ्कित करना। प्राचीन समय में जब कोई मनुष्य पाप कर्म करता था तब उसका मुँह काला कर दिया जाता था। कालान्तर में उसी भाव को लेकर जनता ने एक लाक्षणिक वाक्यांश बना लिया और उसको शिष्ट समाज ने अपनाकर साहित्य में स्थान दे दिया मुहाविरों की उत्पत्ति इसी प्रकार किसी घटना या प्रथा से होती है।

मुहाविरों की उत्पत्ति

मुहाविरों का सम्बन्ध अधिकांश जनता की भाषा से होता है और जनता ही उन्हें बनाती है। इस दृष्टि से हम यह कह सकते हैं कि मुहाविरा प्रत्येक भाषा की वह निधि है जिस पर भाषा जीवित रहती है। मुहाविरों के कुण्ठित हो जाने से भाषा की लोकप्रियता नष्ट हो जाती है और जन-साधारण से उनका सम्बन्ध टूट जाता है। मुहाविरा जन-साधारण की सम्पत्ति होती है। इसे पाकर भाषा फलती फूलती है। मुहाविरे भाषा

मुहाविरों का महत्व

की प्रकृति के द्योतक होते हैं। इसलिए मुहाविरों को प्रत्येक साहित्य में विशिष्ट स्थान दिया जाता है।

मुहाविरों का प्रयोग

मुहाविरों के प्रयोग से भाषा में लालित्य, ओज और प्रवाह आता है। उनसे भाषा अनुप्राणित होती है और सहज ही हृदय में स्थान पा जाती है। रचना में चमत्कार आता है। मुहाविरेदार भाषा मधुर, सरल और चुटीली होती है। इस दृष्टि से एक रचना-कार के लिए मुहाविरों के प्रयोग का अभ्यास करना और उन्हें अपनी रचनाओं में स्थान देना अत्यन्त आवश्यक है।

मुहाविरों का वाक्यों में प्रयोग करना सरल काम नहीं है। इसके लिए अध्ययन और अभ्यास की बड़ी आवश्यकता है। जबतक मुहाविरों का उचित अर्थ और उनके प्रयोग का ढंग ज्ञात न हो तब तक उनके बेढंगे-प्रयोगों से अपनी रचना को दूषित न करना चाहिए। ऐसे बेढंगे प्रयोगों से अर्थ का अनर्थ हो जाने की सम्भावना रहती है। अतएव मुहाविरों का उचित प्रयोग सीखने के लिए हमें अच्छे लेखकों की रचनाओं का अध्ययन करना चाहिए। हमें मुहाविरों की शब्दावली में परिवर्तन भी न करना चाहिए। मुहाविरों की शब्दावली में परिवर्तन करने से भाषा का रूप विकृत हो जाता है और उसकी प्रकृति बदल जाती है। मुँह काला करना के स्थान पर 'मुँह स्याह करना' लिखना अपनी भाषा की प्रकृति को दूषित करना है। अतएव हमें मुहाविरों का प्रयोग बड़ी सावधानी से करना चाहिए। उदाहरण के लिए हम यहाँ केवल दो मुहाविरों का प्रयोग देते हैं।

[१] मुहाविरा—अन्त पाना। अर्थ—भेद जान लेना। प्रयोग—रामदास बड़े गम्भीर पुरुष हैं। उनके मन का अन्त पाना कठिन है।

[२] मुहाविरा—मुँह में पानी भर आना। अर्थ—लालच करना। प्रयोग—मोहन को अंगूर खाते देखकर मेरे मुँह में पानी भर आया।

हिन्दी में मुहाविरे इतने प्रकार के हैं और इतने अधिक हैं कि

उनका लिखना कठिन है। जो जिस प्रकार का जीवन जहाँ व्यतीत करता है उसको उसी जीवन से सम्बद्ध मुहाविरे वहाँ मिल जाते हैं। ग्राम्य जीवन के कुछ ऐसे मुहाविरे हैं जिन्हें नागरिक न तो जानते हैं और न प्रयोग में लाना चाहते हैं। इसके विरुद्ध नागरिकों के विशेष मुहाविरे ग्रामीणों तक नहीं पहुँच पाते। ऐसी दशा में इस सूची में केवल बहुत-प्रसिद्ध मुहाविरे दिये जाते हैं।

मुहाविरे और उनका अर्थ

[अ]

अंग-अंग ढीला होना=थक जाना। **अंगूठा दिखाना**=इनकार करना। **अच्छे घर बयना देना**=अधिक बलवान से बैर-भाव रखना। **अँतड़ियों में बल पड़ना**=अधिक हँसना। **अंधे के हाथ बटेर लग जाना**=सौभाग्य से इच्छित वस्तु मिल जाना। **अंधे को चिराग दिखाना**=मूर्ख को उपदेश देना। **अक्ल के घोड़े दौड़ाना**=अनेक प्रकार की कल्पना करना। **अक्ल के पीछे लट्ठ लिये फिरना**=उलटा काम करना। **अड्डा जमाना**=नित्य रहने लग जाना। **अपना उल्लू सीधा करना**=स्वार्थ सिद्ध करना। **अपना-सा मुँह लेकर रह जाना**=लज्जित होना। **अपना ही राग अलापना**=अपनी कहना, दूसरे की न सुनना। **अपनी खिचड़ी अलग पकाना**=पृथक रहना। **अपने पाँव पर आप कुल्हाड़ी मारना**=स्वयं अपना अहित करना। **अपने मुँह मियाँ मिट्ठू बनना**=स्वयं अपनी प्रशंसा करना। **आँख उठाकर न देखना**=अधिक घमण्ड हो जाना। **आँखें चार होना**=देखा देखी होना। **आँखें चुराना**=छिप जाना। **आँखें नीली-पीली करना**=क्रोध करना। **आँख पथरा जाना**=बहुत प्रतीक्षा करना या मृत्यु। **आँखें फेर लेना**=प्रतिकूल होना। **आँखें बदल जाना**=प्रेम में अन्तर आ जाना। **आँखें बिछाना**=स्वागत करना। **आँखों का काँटा होना**=बुरा लगना। **आँखों का पानी गिर जाना**=निर्लज्ज हो जाना। **आँख से**

आँख मिलाना=सामना करना । **आँखों पर परदा पड़ना**=धोखा खाना । **आँखों पर बैठाना**=आदर करना । **आँखों में धूल झोंकना**=धोखा देना । **आँखों में रात काटना**=जागते रहना । **आंच न आने देना**=अहित न करने देना । **आंचल पसारना**=भीख माँगना । **आंचल में बांधना**=हर समय याद रखना । **आंसू पीकर रह जाना**=दुःख सह लेना । **आकाश पाताल का अन्तर होना**=अधिक अन्तर होना । **आकाश से बातें करना**=घमंड होना ; अधिक ऊँचा होना । **आग में घी डालना**=क्रोध बढ़ना । **आगा पीछा सोचना**=कार्य का परिणाम सोच लेना । **आटा गीला होना**=मुसीबत में पड़ जाना । **आटे दाल का भाव मालूम होना**=कष्ट अनुभव होना । **आटे के साथ घुन पिसना**=अपराधी के साथ निरपराध का भी दण्ड भुगतना । **आठ आठ आँसू रोना**=बहुत रोना । **आड़े हाथों लेना**=खरी खोटी सुनाना । **आपे से बाहर होना**=क्रोध आना । **आसमान टूट पड़ना**=अकस्मात् विपत्ति आ जाना । **आसमान पर थूकना**=किसी बड़े और ऐसे व्यक्ति पर लाञ्छन लगाना, जो सामान्यतः लोगों की दृष्टि में उससे परे हो । **आसमान पर चकती लगाना**=धूर्त होना । **आसमान सिर पर उठाना**=बहुत शोर करना । **आस्तीन का साँप होना**=विश्वासघात करना ।

[औ]

औंधी खोपड़ी का होना=मूर्ख होना । **औंधे मुँह गिरना**=धोखा खाना ।

[इ, ई]

इस कान से सुनकर उस कान से उड़ा देना=ध्यान न देना । **ईंट से ईंट बजा देना**=नष्ट करना । **ईद का चांद होना**=बहुत दिनों बाद दर्शन देना ।

[उ]

उँगली पकड़ते पहुँचा पकड़ना=थोड़ा सहारा पाकर सब पर अधिकार कर लेना। **उँगली पर नचाना**=वश में रखना। **उड़ती चिड़िया पहचानना**=दिल की बात समझ लेना। **उलटा पासा पड़ना**=तक़दीर पलट जाना। **उलटी गंगा बहाना**=विपरीत बात करना।

[क]

कब्र में पैर लटकाये बैठना=मरने के निकट होना। **कलेजा निकालकर रख देना**=अपने भरसक प्रयत्न करना। **कलेजा ठंडा होना**=शान्ति होना। **कलेजे पर साँप लोटना**=ईर्ष्या से दिल जलना। **कलेजा मुँह को आना**=जी घबराना। **कल्पना के घोड़े दौड़ाना**=मनमानी कल्पना करना। **कसौटी पर कसना**=परीक्षा करना। **काठ का उल्लू**=मूर्ख। **काग़ज़ी घोड़े दौड़ाना**=क्रियात्मक रूप से कुछ न करना। **कान कतरना**=बहुत चालाक होना। **कान खड़े होना**=सजग होना। **कान पर जूँ न रेंगना**=बार-बार कहने पर भी कुछ प्रभाव न पड़ना। **कानों कान ख़बर न होना**=किसी को मालूम न होना। **काम तमाम करना**=मार डालना। **काया पलट जाना**=परिवर्तन होना। **किताब का कीड़ा होना**—अधिक पढ़ना। **कुत्ते की मौत मरना**=बुरी तरह मरना। **कोल्हू का बैल होना**=अत्यन्त परिश्रम करना। **कौड़ी कौड़ी का मुहताज होना**=अधिक ग़रीब हो जाना। **कौड़ी चित पड़ना**=मतलब सिद्ध हो जाना। **कौड़ी के मोल बिकना**=बहुत सस्ता होना।

[ख]

खटाई में पड़ना=उलझन होना। **ख़ाक छानना**=भटकना। **ख़ाक डालना**=छिपाना। **खाने दौड़ना**=गुस्से में आ जाना। **ख़ून का प्यासा होना**=जानी दुश्मन होना। **ख़ून सूख जाना**=भयभीत हो जाना। **ख़ून की नदी बहाना**=बहुत मार-काट करना। **खेल**

रहना=मारा जाना। खोपड़ी चाट जाना=दिमाग थका देना। ख्याली पुलाव पकाना=मनमानी कल्पनाएँ करना।

[ग]

गज भर की छाती होना=उत्साह बढ़ जाना। गड़े मुर्दे उखाड़ना=पुरानी बातें दुहराना। गरदन पर छुरी फेरना=अत्याचार करना। गरदन पर सवार होना=पीछा करना। गले मढ़ना=जबरदस्ती कोई काम सौंप देना। गाँठ का पूरा होना=मालदार होना। गागर में सागर भरना=बड़े विषय को थोड़े शब्दों में कहना। गाढ़े का साथी होना=सङ्कट में सहायक होना। गाल बजाना=डींग मारना। गुड़ गोबर करना=काम बिगाड़ देना। गुड़ियों का खेल होना=सहल काम होना।

[घ]

घड़ों पानी पड़ जाना=अत्यन्त लज्जित होना। घर काटने दौड़ना=सूनापन अनुभव करना। घर का शेर होना=केवल घर में बल दिखाना। घर सिर पर उठाना=शोर करना। घर का न घाट का होना=कहीं का न होना। घाट-घाट का पानी पीना=अनुभवी होना। घाव पर नमक छिड़कना=हृदय दुखाना। घाव हरा होना=भूले हुए दुःख की याद आना। घिग्घी बँध जाना=अधिक डर जाना। घी के दिये जलाना=हर्षित होना। घोड़े बेचकर सोना=बेफिक्र हो जाना।

[च]

चलती गाड़ी में रोड़ा अटकाना=बाधा डालना। चाँद पर थूकना=व्यर्थ निन्दा करना। चाँदी का जूता मारना=पैसे का लोभ देना। चादर के बाहर पैर पसारना=हैसियत से ज्यादा व्यय करना। चारों खाने चित होना=विफल हो जाना। चिउंटी के पर जम जाना=मौत समीप होना। चिकना घड़ा होना=निर्लज्ज होना। चिकनी चुपड़ी बातें करना=मीठी बातों द्वारा

धोखा देना। **चिड़िया फँसाना**=मालदार को फँसाना, किसी स्त्री को फँसाना। **चित्त पर चढ़ना**=मन में बस जाना। **चिराग गुल होना**=सन्तान का मृत हो जाना। **चुटकी लेना**=चुभती बात कहना। **चुल्लू भर पानी में डूब मरना**=बहुत लज्जित होना [प्रायश्चित्त के भाव से]। **चैन की वंशी बजाना**=मौज करना। **चोटी से एड़ी तक पसीना बहाना**=बहुत मेहनत करना। **चोटी हाथ में होना**=अधिकार में होना। **चोली दामन का साथ होना**=हमेशा साथ रहना। **चौकड़ी भूल जाना**=कोई चाल न सूझना।

[छ]

छक्के छुड़ाना=हराना। **छक्के छूटना**=निरुत्साह हो जाना। **छठी का दूध याद आना**=सब सुख भूल जाना। **छप्पर फाड़कर देना**=बिना परिश्रम के देना। **छाती पर पत्थर रखना**=सहन कर लेना। **छाती पर मूँग दलना**=किसी का जी दुखाना। **छाती पर साँप लोटना**=ईर्ष्या होना।

[ज]

जबानी जमा-खर्च करना=बहुत कहना, थोड़ा करना। **जमीन चूमने लगना**=गिर पड़ना। **जमीन पर पैर न पड़ना**=अभिमान होना। **जहर उगलना**=ईर्ष्यापूर्ण बातें कहना। **जहर का घूँट पीना**=क्रोध सहन करना। **जान के लाले पड़ना**=सङ्कट में पड़ना। **जान पर खेलना**=खुशी से प्राण देना। **जान में जान आना**=जी ठिकाने होना। **जान लड़ाना**=बहुत मेहनत करना। **जामे में फूला न समाना**=बहुत खुश होना। **जामे से बाहर होना**=नाराज हो जाना। **जी का बुखार निकालना**=हृदय की बातें कहना। **जी का बोझ हलका होना**=खटका न रहना। **जी खट्टा होना**=प्रेम न रहना। **जी छोटा करना**=निरुत्साह होना। **जी तोड़ काम करना**=बहुत मेहनत करना। **जी टँगा रहना**=खटका बना रहना। **जीती मक्खी निगलना**=बेईमानी करना। **जूतियाँ**

चटखाते फिरना = इधर उधर फिरना।

[ट]

टका-सा जवाब देना = साफ़ इनकार करना। टट्टी की ओट में शिकार खेलना = छुपके छुपके विरोध करना। टपक पड़ना = अकस्मात् आ जाना। टस से मस न होना = विचलित न होना। टाँग अड़ाना = दखल देना। टांग पसार कर सोना = निश्चिन्त होना। टाट उलटना = दिवाला निकलना। टाल मटोल करना = बहाना करना। टुकड़ों पर पड़े रहना = दूसरे की कमाई खाना। टेढ़ी खीर होना = कठिन होना।

[ट, ठ, ड,]

ठोकरें खाना = कष्ट उठाना। डंडे बजाते फिरना = व्यर्थ घूमना। डकार न लेना = चुप चाप हजम कर जाना। डूबते को तिनके का सहारा होना = संकट में अकस्मात् सहायता मिलना। डेढ़ ईंट की जुदा मस्जिद बनाना = अलग रहना। डोरी ढीली कर देना = देख रेख कम रखना। ढिंढोरा पीटना = प्रचार करना। ढेर करना = गिरा देना।

[त, थ]

तिल का ताड़ करना = बात को बढ़ाना। तिल धरने की जगह न होना = बहुत भीड़ होना। तीन-तेरह करना = तितर बितर करना। तीन-पाँच करना = बहाना करना। तूती बोलना = रोब होना। तोते की तरह पढ़ना = बिना समझे पढ़ना। तोता चश्मी करना = बेमुरौवत होना। थाली का बैंगन होना = पक्ष बदलना। थूक कर चाटना = कहकर मुकर जाना।

[द]

दंग रह जाना = आश्चर्य में होना। दबे पाँव निकल जाना = चुप-चाप चले जाना। दाँत खट्टे करना = हराना। दाँतों तले उँगली दबाना = आश्चर्य प्रकट करना। दाँत पीस कर रह जाना = क्रोध

रोकना। दाँव चूकना = हाथ से अवसर का निकल जाना। दाने-दाने को तरसना = खाना न मिलना। दाल में कुछ काला होना = सन्देह की बात होना। दाल-भात का कौर = आसान काम। दाल न गलना = वश न चलना। दाहिना हाथ होना = सहायक होना। दाहिने होना = अनुकूल होना। दिन दूना रात चौगुना होना = खूब तरक्की करना। दिन फिरना = अच्छा समय आना। दिमाग सातवें आसमान पर होना = अधिक घमण्ड हो जाना। दिमाग लड़ना = बहुत सोचना। दिल भर आना = दया आजाना। दिल में घर करना = प्रेम हो जाना। दिल में मैल आ जाना = प्रतिकूल हो जाना। दूध की मक्खी होना = तुच्छ होना। दो टूक बात करना = साफ कह देना। दुम दबाकर भागना = हार जाना। दूज का चांद होना = बहुत दिनों के बाद आना। दूध के दाँत न टूटना = अनुभव न होना। दो दिन का मेहमान होना = थोड़े दिन रहना। दो नावों पर पैर रखना = दोनों तरफ होना।

[ध]

धज्जियाँ उड़ाना = दुर्गति करना। धता बताना = बहाना बनाकर टाल देना। धूप में बाल सफेद करना = कुछ भी अनुभव न होना। धोखे की टट्टी होना = तत्वविहीन होना।

[न]

नजर लग जाना = बुरी दृष्टि का प्रभाव होना। नमक खाना = किसी का दिया खाना। नमक अदा करना = एहसान का बदला चुकाना। नमक-मिर्च लगाना = किसी बात को बढ़ाना। नाक कट जाना = बदनामी हो जाना। नाक भौं सिकोड़ना = अरुचि प्रकट करना। नाक पर मक्खी न बैठने देना = सतर्क रहना। नाक में दम करना = तंग करना। नाक रख लेना = इज्जत रह जाना। नाक रगड़ना = दीनतापूर्वक प्रार्थना करना। नाकोंचनेचबवाना = खूब तंग करना। नाच नचाना = मन चाहा करा लेना। नाम पर धब्बा

लगाना = बदनामी करना। नाम बिकना = नाम से किसी वस्तु का आदर होना। निन्यानबे के फेर में पड़ना = धन-संग्रह की चिन्ता में रहना। नींद हराम करना = व्यर्थ जागना। नीला-पीला होना = रोष में आना। नुक्ताचीनी करना = दोष निकालना। नौ दो ग्यारह होना = भाग जाना। नौबत बजाना = उत्सव मनाना।

[प]

पगड़ी उछालना = बेइज्जती करना। पट पड़ना = हार जाना, दब जाना। पट्टी में आ जाना = बहकाने में आना। पट्टी पढ़ाना = बुरी सलाह देना। पते की कहना = रहस्यपूर्ण बात कहना। पत्थर की लकीर हो जाना = दृढ़ या निश्चित हो जाना। परछाईं से डरना = बहुत डरना। परछाईं पकड़ना = असत्य बात के लिए परीशान होना। पर लग जाना = स्वावलम्बी हो जाना। पल्ला भारी होना = पक्ष सबल होना। पसीना-पसीना होना = अधिक थक जाना। पहाड़ टूट पड़ना = मुसीबत आ जाना। पाँचों उंगलियाँ घी में होना = खूब लाभ होना। पाँव उखड़ जाना = हारकर भागना। पाँव जमीन पर न पड़ना = घमण्ड हो जाना। पानी का बुलबुला होना = क्षणभंगुर होना। पानी के मोल बेचना = सस्ता बेचना। पानी पानी होना = लज्जित होना। पानी फेर देना = बिगाड़ देना। पानी में फेंकना = बरबाद करना। पापड़ बेलना = कष्ट से जीवन व्यतीत करना। पार पाना = अन्त पाना। पीठ दिखाना = हार जाना। पुल बाँधना = बढ़ाकर करना। पेट का पानी न पचना = कहे बिना न रहना। पेट में चूहे कूदना = अच्छी तरह भूख लगना। पेट में दाढ़ी होना = चालाक होना। पैर जमाना = स्थिर होकर रहना। पैरों तले से जमीन हट जाना = सहम जाना। पोल खोलना = गुप्त बातें खोलना। पौने सोलह आने। = अधिकांश। पौ फटना = सुबह होना। पौ बारह होना = खूब लाभ होना।

[फ]

फूँक-फूँककर क़दम रखना = सोच समझ कर काम करना। फूट-फूट कर रोना = बहुत रोना। फूटी आँखों न भाना = अच्छा न लगना। फूल सूँघकर रहना = कम खाना। फूला न समाना = अत्यन्त प्रसन्न होना।

[ब]

बगुला भगत होना = कपट करना। बगलें झाँकना = निरुत्तर हो जाना। बट्टा लगाना = कलङ्क लगाना। बल्लियों उछलना = खूब खुश होना। बाँह पकड़ना = सहायता देना। बाएँ हाथ का खेल होना = सहल होना। बाछें खिल जाना = हर्षित होना। बात का धनी होना = वादे का पक्का होना। बात की बात में = शीघ्र। बात पर जाना = कहने में आना, वचन का ध्यान रखना। बाल की खाल निकालना = सूक्ष्म विवेचना करना। बाल-बाल बचना = *हानि की पूरी संभावना होते हुए भी बच जाना।* बाल बाँका न होना = जरा भी हानि न होना। बालू की भीत उठाना = व्यर्थ का काम करना। बेगार टालना = दिल लगाकर काम न करना। बेड़ा पार लगाना = किसी को दुःख से छुड़ाना। बोलबाला होना = प्रसिद्ध होना। बोली बोलना = चुभती बात कहना।

[भ]

भण्डा फोड़ना = भेद खोलना। भनक पड़ना = कुछ हाल मिलना। भाड़ झोंकना = व्यर्थ समय नष्ट करना। भाड़े का टट्टू होना = किराये का आदमी होना। भूत सवार होना = क्रोधित हो जाना, हठ पकड़ जाना। भेड़ियाधसान = अन्धानुकरण।

[म]

मक्खियाँ मारना = बेकार घूमना। मक्खीचूस होना = कंजूसी करना। मगज पच्ची करना = बहुत बकना। मन के लड्डू खाना = मन ही मन में प्रसन्न होना। मरे को मारना = दुखी को दुःख देना

माथा ठनकना = आशङ्का होना। माथे मढ़ना = जिम्मेदार करना। माथे पर बल पड़ना = नाराज होना। मिट्टी के मोल बिकना = सस्ता बिकना। मीन-मेख करना = बहाना करना। मुँह की खाना = बुरी तरह हारना। मुँह ताकना = सहायता की आशा करना। मुँह तोड़ उत्तर देना = खरा उत्तर देना। मुँह देखी करना = पक्षपात करना। मुँह धोना = आशा छोड़ना। मुँह पकड़ाना = बोलने से रोकना। मुँह फैलाना = अधिक इच्छा करना। मुँह बनाना = नाराज होना। मुँह में कालिख लगाना = कलङ्क लगाना। मुँह में पानी भर आना = लालच होना। मुट्ठी गरम करना = रिश्वत देना। मुट्ठी में करना = अपने वश में करना। मैदान मारना = लड़ाई जीतना। मोम होना = दयावान होना। मौत का सिर पर खेलना = मौत नजदीक आना।

[र]

रंग में रँग जाना = प्रभावित हो जाना। रंग उड़ना = डर जाना। रंग जमाना = धाक जमाना। रंग में भंग पड़ना = मजा किरकिरा होना। रंग लाना = प्रभाव दिखाना। रग-रग पहचानना = अच्छी तरह परिचित होना। रफूचक्कर होना = भाग जाना। राई का पहाड़ बनाना = छोटी बात को बढ़ा देना। राम कहानी कहना = आप बीती कहना। रास्ते पर लाना = सुमार्ग पर लाना।

[ल]

लँगोटिया यार होना = घनिष्ठ मित्र होना। लम्बी चौड़ी हाँकना = व्यर्थ बातें करना। लकीर का फकीर होना = पुरानी रीति पर चलना। लड़ाई मोल लेना = झगड़ा करना। लपेट में आना = फँस जाना। लहू के घूँट लेना = क्रोध करना। लुटिया डुबोना = काम बिगाड़ देना। लेने के देने पड़ना = लाभ के बदले हानि होना। लोहा लेना = सामना करना। लोहा मानना = अधीनता स्वीकार करना। लोहे के चने चबाना = अत्यन्त कठिन काम।

[व]

विष उगलना = दुर्वचन कहना। विष की गाँठ = बुरा मनुष्य।

[श, स]

शहद लगाकर चाटना = किसी बेकाम वस्तु को रखना। शिकार हाथ लगना = आसामी मिलना। शेखी बघारना = डींग मारना। सफेद झूठ = सरासर झूठ। सब्ज बाग दिखाना = प्रलोभन देना। समझ पर पत्थर पड़ना = बुद्धि भ्रष्ट होना। साँप छछूंदर की दशा होना = असमञ्जस में पड़ना। सिक्का जमाना = प्रभुत्व स्थापित करना। सिर आँखों = सादर स्वीकृत। सिर खाना = तंग करना। सिर खुजलाना = सोचना।

[ह]

हक्का-बक्का रह जाना = चकित रहना। हथियार डाल देना = हार मान लेना। हराम होना = कोई काम न हो सकना। हवा से बातें करना = बहुत तेज चलना। हाँ में हाँ मिलाना = चापलूसी करना। हाथ का मैल = तुच्छ वस्तु। हाथ पर हाथ रखकर बैठना = बेकार हो जाना। हाथ को हाथ न सूझना = बहुत अँधेरा होना। हाथ तंग होना = धन की कमी होना। हाथ धो बैठना = खो देना। हाथ धोकर पीछे पड़ना = बुरी तरह पीछा करना। हाथ पाँव फूल जाना = भयभीत हो जाना। हाथ-पैर मारना = परिश्रम करना। हाथ मलते रह जाना = पश्चात्ताप करना। हाथ साफ करना = खूब खाना, बेईमानी से लेना। हुक्का-पानी बन्द हो जाना = बिरादरी से बहिष्कृत होना।

अन्तर्कथा-सम्बन्धी मुहाविरे—हिन्दी में बहुत से मुहाविरे ऐसे भी प्रयुक्त होते हैं जिनका सम्बन्ध प्राचीन गाथाओं से है। ऐसे मुहा-विरे अन्तर्कथा सम्बन्धी मुहाविरे कहलाते हैं। इस प्रकार के कुछ मुहाविरे यहाँ दिये जाते हैं:—

भगीरथ प्रयत्न करना—बहुत प्रयत्न करना। दुर्वासा बनकर

बैठना—क्रोध में होना। विभीषण होना—देश द्रोही होना। सारी लंका ढा देना—सत्यानाश करना। परशुराम का रूप धारण करना—क्रोध में होना। सुदामा के तन्दुल—साधारण भेंट। विदुर की झोपड़ी—साधारण घर। द्रोपदी का चीर होना—अन्त न होना। अंगद का पैर होना—दृढ़ होना। प्रताप-प्रतिज्ञा—दृढ़ प्रतिज्ञा। रामराज्य—सुख सम्पन्न होना। गीता ज्ञान—गहरा ज्ञान। भीष्मप्रतिज्ञा—अटल प्रतिज्ञा। कर्णदान—अधिक दान। समुद्र-सन्तरण—किसी कार्य का सफलतापूर्वक समाप्त होना। त्रिशंकु होना—किसी ओर का न होना। हम्मीर हठ—अपने ही हठ पर रहना। दशरथ-वचन—अपने वचन पर रहना। दधीच की अस्थियां—उपकारी। शबरी के बेर—साधारणभेंट। प्रह्लाद का प्रण—अटल प्रण। बलि का दान—सर्वस्व दान करना। हरिश्चन्द्र होना—सत्य-भक्ति। ध्रुव की ध्रुवता—अटल रहना। बाल्मीकि की भक्ति—सच्ची भक्ति। अगस्त्य का समुद्र-पान—बहुत पीना। गजेन्द्र-मोक्ष—किसी विपत्ति से छूट जाना। जटायु का त्याग—त्याग करना। श्रीकृष्ण का गोवर्धन धारण—असाधारण कार्य। राजा शिवि का बलिदान—दूसरों का कष्ट दूर करना। नारद का हरि-गुन-गान—प्रत्येक समय भगवान का भजन। नारद-भ्रमण—खूब घूमना। हनुमान का सूर्य-भक्षण—असम्भव कार्य करना। गालब मुनि का हठ—अधिक हठ करना। राजा नहुष का मद—अधिक घमण्ड करना। कालिय-दमन—दुष्टों का नाश। स्वामिकार्तिक का सेनापतित्व—अच्छा सेनापति होना। चन्द्रमा के कलङ्क—किसी में दोष होना। महादेव की बरात—अस्त व्यस्त होना। समुद्र-मन्थन—कठिन परिश्रम। बलि-बन्धन—कठोर बन्धन। श्री गणेश करना—आरम्भ करना। हातिम होना—उपकारी होना। रूस्तम होना—शक्तिशाली होना।

मुहाविरों की तरह कहावतों अथवा लोकोक्तियों का भी प्रत्येक साहित्य

में महत्वपूर्ण स्थान होता है। कहावत का साधारण अर्थ है जो कहा जाय। पारिभाषिक अर्थ में कहावत एक ऐसा मुहाविरेदार वाक्य है जिसे लोग अपने कथन की पुष्टि में अथवा अपने पक्ष में निर्णय प्राप्त करने के उद्देश्य से कहते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि जब किसी बात को किसी आड़ से कहने के अभिप्राय से किसी को उपालम्भ देने, किसी पर व्यंग करने अथवा चेतावनी देने के लिए ऐसे मुहाविरेदार वाक्य अथवा उक्तियों का प्रयोग करते हैं जो स्वतन्त्र अर्थ रखते हों तो ऐसे वाक्यों को कहावत कहते हैं। हिन्दी में कहावत को प्रवाह-वाक्य, जनश्रुति अथवा लोकोक्ति भी कहते हैं।

कहावतों का पारिभाषिक अर्थ

ऊपर की पंक्तियों में कहावत का जो पारिभाषिक अर्थ दिया गया है उससे यह भली-भाँति स्पष्ट हो जाता है कि मुहाविरा और कहावत में अन्तर है। मुहाविरे वाक्यांश होते हैं और स्वतन्त्र रूप से व्यवहृत नहीं होते; कहावतें वाक्य हैं, और स्वतन्त्र रूप से अपना अर्थ रखती हैं। लोकोक्तियाँ किसी विशेष अवसर पर कही जाती हैं और उनसे घटना का फल निकाला जाता है। मुहाविरे वाक्य के अंग होते हैं और उनका फल से कोई सम्बन्ध नहीं होता। साहित्यिक महत्व की दृष्टि से दोनों एक हैं और दोनों जन-साधारण की अनुपम सम्पत्ति हैं।

मुहाविरा और कहावत में अन्तर

कहावतों के प्रयोग से कथन अधिक युक्तिसंगति और प्रभावशाली हो जाता है। इनसे भाषा में रोचकता आती और भावों की पुष्टि होती है। उनमें एक ओर तो सचाई छिपी रहती है और दूसरी ओर मानवीय व्यापारों की तीव्र आलोचनाएं। इसलिए उनका हृदय पर अभीष्ट प्रभाव पड़ता है। उनका सांसारिक कार्यों से बड़ा लगाव होता है। इस दृष्टि से वक्ता और लेखक दोनों के लिए कहावतों का उचित प्रयोग जानना आवश्यक है। जिस रचना में उचित स्थान पर एक-दो कहावतों का प्रयो

कहावतों का महत्व

होता है वह रचना सजीव और रोचक हो जाती है। इसी प्रकार वक्ता भी जब भाषण करने लगता है तब बीच-बीच में अपने कथन को रोचक और स्पष्ट बनाने के लिए कहावतों का प्रयोग करता है। सारांश यह कि कहावत रचना का एक मुख्य अंग है और इसी से अलङ्कारशास्त्र में लोकोक्ति अलङ्कार के नाम से उसे स्थान मिला है।

कहावतों का प्रयोग उपदेश देने, बात को घुमाकर कहने अथवा उपालम्भ आदि के अवसर पर होता है। उनका प्रचार प्रायः निरीक्षण, अनुभव तथा अध्ययन के आधार पर होता है और इन्हीं की सहायता से उनका अर्थ समझा जाता है। मुहाविरों की तरह उनका भी वाच्यार्थ ग्रहण नहीं किया जाता, वरन् वाच्यार्थ के समान अर्थ ग्रहण किया जाता है। अतएव उनके प्रयोग के सम्बन्ध में तीन बातें स्मरण रखना आवश्यक है। पहली बात तो यह है कि जिस विषय पर लिखना अथवा बोलना हो उसकी बातों के अनुकूल अर्थात् समानार्थी कहावतों का प्रयोग करना चाहिए। दूसरी बात यह है कि कहावत में किसी प्रकार का शब्द परिवर्तन न करना चाहिए। तीसरी बात यह है कि जिस कहावत का प्रयोग करना है उसे उचित अवसर पर प्रयोग करना चाहिए। उदाहरण के लिए हम यहाँ दो कहावतों का प्रयोग देते हैं।

कहावतों का प्रयोग

[१] कहावत—हाथ कंगन को आरसी क्या।

अर्थ—प्रत्यक्ष में सन्देह न करना चाहिए।

प्रयोग—राम ने मोहन से कहा कि इस बार प्रदर्शिनी में एक ऐसी बालिका आयी है जिसकी गरदन कटी हुई है, पर वह बात चीत करती है, हँसती है और खाती-पीती है। मोहन ने कहा कि यह बात असम्भव है। यह सुनकर राम ने कहा—चलो, अपनी आँखों से देख लो। हाथ कंगन को आरसी क्या! जो बात प्रत्यक्ष है उसपर सन्देह करना व्यर्थ है।

[२] कहावत—ऊँची दूकान फीका पकवान।

अर्थ—बाहरी सजावट तो खूब हो, परन्तु भीतरी तत्व कुछ भी न हो।

प्रयोग—नवाब साहब बड़े ठाट-बाट से बाहर निकलते हैं, बातें ऐसी करते हैं मानों उनके समान धनवान कोई है ही नहीं। एक दिन एक सज्जन उनसे मिलने गये तो उन्होंने पानी तक को न पूछा। उक्त सज्जन ने अपने मन में कहा—ऊंची दूकान फीका पकवान।

हिन्दी में लोक-प्रचलित बहुत-सी कहावतें हैं। इनके अतिरिक्त तुलसी, सूर, कबीर, घाघ, भड्डरी, रहीम, वृन्द आदि कवियों तथा संस्कृत भाषा के लेखकों की अनूठी उक्तियाँ भी बहुत प्रचलित हैं। हम नीचे कुछ साधारण कहावतें देते हैं।

(अ)

अन्दर छूत नहीं बाहर कहें दुर दुर = मन में कुछ बाहर कुछ। अन्धा क्या चाहे, दो आँखें = वस्तु मिल जाना। अन्धा क्या जाने बसन्त की बहार = देखी हुई वस्तु के महत्व से शून्य। अन्धा बांटे रेवड़ी फिर-फिर आपुहि देय = स्वार्थी मनुष्य। अन्धी नाइन, आइने की तलाश = ऐसी वस्तु की इच्छा करना जिसके लिए अयोग्य हो। अन्धी पीसे कुत्ता खाय = किसी की कमाई दूसरे उड़ाते हैं। अन्धे आगे रोना अपने दीदे खोना = अयोग्य पुरुष से अपना दुःख कहना। अन्धे के हाथ बटेर लगी = असम्भव बात सम्भव होना। अन्धों में काना राजा—मूर्खों में कुछ लिखा पढ़ा व्यक्ति। अकेला चना भाड़ नहीं फोड़ सकता = अकेले कोई कार्य नहीं हो सकता अक्ल बड़ी कि भैंस = शारीरिक बल से बुद्धि-बल होना अच्छा है। अटका बनिया देय उधार = दबाव पड़ने पर सब कुछ करना। अढ़ाई हाथ की ककड़ी, नौ हाथ का बीज = बेमेल होना। अधजल गगरी छलकत जाय = ओछे मनुष्य का इतराना। अपना टेंटर न देखे, दूसरे की फुल्ली निहारे = अपना दोष न देखना। अपना पैसा खोटा तो परखैया का क्या दोष = जब अपना ही

आप हो तो दूसरा क्या करे। अपनी करनी पार उतरनी = कर्म के अनुसार फल मिलना। अपनी-अपनी डफली, अपना-अपना राग = सब का स्वतन्त्र होना। अपनी चिलम भरने को दूसरे का झोंपड़ा जलाना = जैसे बने स्वार्थ निकालना। अपनी नींद सोना अपनी नींद उठना = अपने मन की करना। अपनी बला और के सर = अपराध दूसरे के सिर मढ़ना। अपनी नाक कटे तो कटे दूसरे का सगुन तो बिगड़े = दूसरे को हानि पहुँचाने के लिए अपनी भी हानि करना। अपने मरे बिना स्वर्ग नहीं दीखता = बिना अपने किये काम नहीं होता। अभी एक चने की दो दाल भी नहीं हुई = अभी सब एक में रहते हैं। अस्सी की आमद चौरासी का खर्च = आमदनी से ज्यादा खर्च होना। अरहर की टट्टी गुजराती ताला = तुच्छ वस्तु के लिए अधिक व्यय करना।

[आ]

आँख का अन्धा गाँठ का पूरा = मूर्ख धनवान। आँख न दीदा काढ़े कसीदा = ऐसा काम करना जिसके लिए योग्यता न हो। आँख फूटी पीर गई = जिस वस्तु से कष्ट हो उसका न रहना। आँखों का अन्धा नाम नयनसुख = गुण के विरुद्ध नाम। आई तो रोजी नहीं रोजा = मिल गया तो खाया नहीं तो भूखे रहे। आगे कुआँ पीछे खाई = दोनों ओर विपत्ति। आठों गाँठ कुम्मैत = बड़ा चालाक आदमी। आधा तीतर, आधा बटेर = बेतुकी बात होना। आधे गाँव दिवाली आधे गाँव फाग = मेल न रहना। आधी छोड़ सारी को धावे, आधी रहे न सारी पावे = लालच नहीं करना चाहिए। आप करे सो काम, पल्ले पड़े सो दाम = हाथ का काम और गाँठ का दाम ही काम आता है। आब-आब कर मर गये सिरहाने रखा पानी = किसी के सामने ऐसी बात कहना जो वह न समझे। आम के आम गुठली के दाम = दूना लाभ। आम खाने

से काम, पेड़ गिनने से क्या लाभ = अपने काम से काम रखना। आये थे हरि भजन को ओटन लगे कपास = जिस काम के लिए आये वह न करके दूसरा करने लगना। आसपास बरसे, दिल्ली खड़ी तरसे = जिसे चाहिये उसे न मिलकर दूसरे को मिले। आसमान से गिरा, खजूर में अटका = बीच में रह जाना।

[इ]

इतनी सी जान गजभर की जबान = छोटी उम्र में बड़ी बातें करना। इस हाथ देना उस हाथ लेना = तुरन्त फल मिलना।

[उ]

उखली में दिया सर तो मूसलों से क्या डर = काम करने और उसके लिए कष्ट सहने पर उतारू होना। उगले तो अन्धा निगले तो कोढ़ी = दोनों तरह से मुश्किल। उतर गई लोई तो क्या करेगा कोई = जब इज्जत चली गई तो कोई क्या कर सकता है। उतावला सो बावला, धीरा सो गम्भीर = जल्दबाज का काम बिगड़ जाता है, धैर्यवान का ठिकाने से होता है। उत्तर जाय कि दक्खिन वही करम के लच्छन = भाग्य हर जगह साथ रहता है। उलटा चोर कोतवाल को डाँटे = दोषी का अकड़ना। उलटे बाँस बरेली जाय = विपरीत काम करना।

[ऊ]

ऊँची दूकान फीका पकवान = केवल बाहरी सज धज होना। ऊँट की चोरी और झुके-झुके = बड़ा काम छिपकर करना। ऊँट के मुँह में जीरा = बहुत खाने वाले को थोड़ा सी चीज देना। ऊधो का लेना न माधो का देना = किसी के फेर में न रहना, निश्चिन्त रहना।

[ए]

एक अनार सौ बीमार = वस्तु कम, चाहने वाले अधिक। एक करेला कड़ुआ दूसरे नीम चढ़ा = बुरे का और भी बुरा हो।

जाना। एक पन्थ दो काज=एक काम से दूसरा काम भी हो जाना। एक हाथ से ताली नहीं बजती=अकेले झगड़ा नहीं होता।

[ओ]

ओछे की प्रीति बालू की भीत=मूर्ख से दोस्ती ज्यादा दिन नहीं चलती। ओस चाटे प्यास नहीं जाती=इतनी थोड़ी वस्तु मिलना कि उससे काम न चले।

[क]

कभी नाव गाड़ी पर, कभी गाड़ी नाव पर=समय पर एक दूसरे की सहायता की आवश्यकता पड़ती है। कहने से धोबी गधे पर नहीं चढ़ता=ज़िद्दी आदमी दूसरे के कहने से काम नहीं करता। क़ाज़ी दुबले क्यों शहर के अन्देशे से=अपनी चिंता न करके सब की चिंता करना। क़ाबुल में क्या गधे नहीं होते=बुरे और मूर्ख सब जगह होते हैं। कोयले की दलाली में हाथ काले=बुराई करने से बुराई होती है। कौवा चला हंस की चाल, अपनी चाल भी भूल गया=दूसरों की नक़ल बुरी बात है।

[ख]

खरबूजे को देखकर खरबूज़ा रंग पकड़ता है=देखा-देखी काम करना। खिसियानी बिल्ली खंभा नोचे=लज्जित होकर क्रोध करना। खुदा गंजे को नाखून नहीं देता=अनधिकारी को कोई अधिकार नहीं मिलता। खोदा पहाड़ निकली चुहिया=अधिक परिश्रम पर थोड़ा लाभ।

[ग]

गंजा पनिहारा गोखरू का डुंडुवा=मुसीबत पर मुसीबत पड़ना। गिनी रोटी नपा शोरबा=जितनी आमदनी उतना ही खर्च। गुड़ खाय गुलगुला से परहेज़=बनावटी परहेज़ करना।

[घ]

घड़ी में घर जले नौ घड़ी भद्रा=ज़रूरत के समय टाल मटोल

करना। घर आये नाग न पूजे बाँबी पूजन जाय = आगामी का काम न करके टेढ़े रास्ते पर जाना। घर का भेदी लंका ढावे = आपस की फूट बुरी होती है। घर की मुर्गी साग बराबर पर = घर की वस्तु तुच्छ समझना। घर का जोगी जोगना आन गाँव का सिद्ध = अपने गाँव में आदर न पाना।

[च]

चन्दन की चुटकी भली, गाड़ी भरा न काठ = अच्छी चीज थोड़ी ही अच्छी होती है। चार दिन की चाँदनी फिर अन्धेरा पाख = थोड़े दिन का सुख। चोर की दाढ़ी में तिनका = किसी बात को अपने ऊपर समझना। चोर चोर मौसेरे भाई = एक ही पेशे के लोग।

[छ, ज]

छप्पर पर फूस नहीं ड्योढ़ी पर नक्कारा = शेखी मारना। जबरदस्त का ठेंगा सर पर = बली जो चाहता है कर लेता है। जल में रहकर मगर से बैर = किसी के आश्रय में रहकर उससे बैर करना। जाके पाँव न फटी बिवाई, सो क्या जाने पीर पराई = जिस पर कभी दुःख नहीं पड़ा वह दूसरे का दुःख क्या जाने। जिसकी लाठी उसकी भैंस = बलवान की विजय होती है। जैसे कन्ता घर रहे तैसे रहे विदेश = निकम्मे का घर या बाहर रहना बराबर है।

[झ]

झूठ के पाँव कहाँ = झूठा मनुष्य बहस नहीं कर सकता। झोंपड़ी में रहकर महलों का ख्वाब देखना = असम्भव कल्पना करना।

[ट, ठ, ड, ढ]

टेढ़ी उंगली से ही घी निकलता है = सिधाई से काम नहीं चलता। ठाला बनिया क्या करे, इस कोठा का धान उस कोठा धरे = व्यर्थ काम करना। डूबते को तिनके का सहारा = संकट में थोड़ी सहायता भी बहुत है। ढाक के वही तीन पात = सदा एक ही दशा में रहना।

[त, थ]

तबेले की बला बन्दर के सिर=बदनाम पर ही दोष लगाना। तांत बजी और राग बूझा=बोलने से योग्यता मालूम हो जाती है। तिनके की ओट पहाड़=थोड़े सहारे से बड़ा काम हो जाना। तेल देखो तेल की धार देखो=हर एक काम को सोचकर करना। थका ऊँट सराय ताकता है=थकने पर घर ही याद आता है। थोथा चना बाजे घना=सार हीन व्यक्ति।

[द, ध]

दबी बिल्ली चूहों से कान कतरवाती है=अपराध करके बलवान भी निर्बल की खरी-खोटी सुनता है। दमड़ी की बुढ़िया टका सिर मुँडाई=तुच्छ वस्तु के लिए अधिक व्यय करना। दान की बछिया के दाँत नहीं देखे जाते=मुफ्त मिली हुई वस्तु में ऐब नहीं निकालना चाहिए। दूध का जला छाछ फूँक फूँककर पीता है=किसी काम में हानि उठाने के पश्चात् दूसरे से सतर्क रहना। धोबी का कुत्ता घर का न घाट का=जो किसी ओर का न हो।

[न]

न नौ मन तेल होगा न राधा नाचेंगी=काम करने के लिए ऐसी शर्त लगाना जो पूरी न हो सके। न रहेगा बाँस न बजेगी बाँसुरी=झगड़े की जड़ ही नष्ट कर देना। नाई की बरात में जने जने ठाकुर=जहाँ कोई मुखिया न हो। नाच न जाने आँगन टेढ़ा=फजूल ऐब निकालना। नानी के आगे ननिहाल का बखान=अपने से अधिक जाननेवाले के सामने बड़ी-बड़ी बातें करना। नौ नकद तेरह उधार=अधिक रुपये में उधार बेचने से कम दाम में नकद बेचना अच्छा है।

[प]

पढ़े फारसी बेचे तेल, यह देखो कुदरत का खेल=पढ़े लिखे लोगों का छोटा काम करना। पत्थर को जौंक नहीं लगती=निर्दय

का हृदय नहीं पसीजता। पानी मथने से घी नहीं निकलता=मूर्ख को उपदेश देने से कोई लाभ नहीं होता।

[ब]

बंदर क्या जाने अदरक का स्वाद=वस्तु विशेष की मर्यादा न जानना। बाप न मारी पेडुकी बेटा तीरन्दाज=शेखी बघारने वाले पर व्यंग। बारह बरस दिल्ली में रहे भाड़ ही झोंका=अच्छी जगह रह कर भी कुछ न सीखना। बिल्ली के भाग से छींका टूटा=अकस्मात् काम हो जाना।

[भ]

भागते भूत की लँगोटी सही=जहाँ कोई आशा न हो वहाँ थोड़ा मिलना ही काफी है। भैंस के आगे बीन बजाई, भैंस खड़ी पगुराय=अज्ञानी के आगे उपदेश देना।

[म]

मन चंगा तो कठौती में गङ्गा=शुद्ध हृदयवाले के घर में ही गंगा हैं। मान न मान मैं तेरा मेहमान=जबरदस्ती गले पड़ना। मीठा-मीठा गप्प कडुआ-कडुआ थू=स्वार्थी मनुष्य पर व्यंग। मुद्दई सुस्त गवाह चुस्त=जिसका काम हो वही कुछ न करे। मुल्ला की दौड़ मस्जिद तक=उद्योग का सीमित होना।

[य, र]

यह मुँह और मसूर की दाल=हैसियत से अधिक इच्छा रखना। रस्सी जल गयी पर बल न गया=नष्ट होने पर भी अपनी अकड़ न छोड़ना। राम राम जपना पराया माल अपना=मक्कारी करना। रोज कुँआ खोदना रोज पानी पीना=नित्य कमाना और खाना।

[ल, व]

लकड़ी के बल बँदरी नाचे=मूर्ख भय से काम करता है। वा सोने को जारिये जासों टूटे कान=कष्ट देनेवाली वस्तु अच्छी हो, तो भी नहीं रखना चाहिए।

[श, स]

शौकीन बुढ़िया चटाई का लहँगा=बेमेल बात करने पर व्यङ्ग। सत्तर चूहे खाय के बिलाई भई भक्तिन=आजन्म पाप करके अन्त में भक्त बन जाना। साँच को आँच नहीं=सच्चे को भय नहीं। साँप मरे और लाठी न टूटे=काम भी सिद्ध हो जाय और हानि भी न हो। सिर मुड़ाते ही ओले पड़े=कार्यारम्भ में ही बाधा पड़ना। सूप बोले तो बोले चलनी क्या बोले जिसमें बहत्तर छेद=दोषी का दूसरों का दोष निकालने पर व्यङ्ग। सौ सुनार की एक लोहार की=बलवान की एक ही चोट काफी होती है। हर्र लगे न फिटकिरी रङ्ग चोखा हो=मुफ्त काम हो लेकिन अच्छा भी हो। हाथ कंगन को आरसी क्या=प्रत्यक्ष में प्रमाण क्या। हाथी के दाँत खाने के और दिखाने के और=कहना कुछ और करना कुछ।

अनूठी उक्तियाँ

हम पहले कह चुके हैं कि हिन्दी कवियों की रचनाओं में भी कुछ अनूठी उक्तियाँ पाई जाती हैं। उनके कुछ नमूने हम नीचे देते हैं:—१. साईं घोड़न के अछत गदहन पायो राज। २. फरा सो झरा जो बरा सो बुझाना। ३. चार दिना की चाँदनी फिर अँधेरी रात। ४. उस दाता से सूम भला जो ठावें देय जवाब। ५. खरी मजूरी चोखा काम। ६. सूरदास यह काली कमरिया चढ़े न दूजो रंग। ७. ऊधो! मन न भये दस-बीस। ८. तेते पांव पसारिए जेती लांबी सौर। ९. रहिमन पानी राखिए, बिन पानी सब सून। पानी गये न ऊबरे मोती, मानुष, चून। १०. पर स्वारथ के कारनै सज्जन धरत शरीर। ११. सत मत छोड़े सूरमा सत छोड़े पति जाय। १२. निज कारण दुख ना सहे, सहे पराये काज। १३. तुलसी सन्त सुअम्ब तरु फूलि फलें पर हेत। १४. खेती करै न बजे जाय विद्या के बल बैठे खाय। १५. अजगर करै न चाकरी, पंछी करै न काम। दास मलूका कहि गये, सब के दाता राम। १६. सदा दिवाली सन्त घर जो गुण-गेहूँ होय। १७. बूढ़ा

बंस कबीर का, उपजे पूत कमाल। १८. काँटों बुरो करील को अरु बदरी को घाम। गौन बुरी है चून की अरु साझे को काम। १९. बाँध कुदारी खुरपी हाथ, हँसिया लाठी राखै साथ। काटे घास निरावे खेत, वही किसान करे निज हेत। २०. छाँड़े खाद जोत गहराई, तब खेती का मजा उठाई। २१. जोते खेत घास ना टूटै, ताको भाग साँझ ही फूटै। २२. जिसका ऊँचा बैठना जिसका खेत निचान। उसका बैरी क्या करै जिसका भीत दिवान॥२३. काले फूल न पाया पानी, घाघ मग अधबीच जवानी। २४. रात निरमली दिन को घटा, कहै घाघ यह बरषा लटा। २५. उलटा-पलटा बादर धावै। भगो भड्डर पानी आवै। २६. रहिमन मोहि न सुहाय अमिय पियावै मान बिन। २७. मूरख हृदय न चेत जो गुरु मिलैं बिरंचि सम। २८. चन्दन विष व्यापत नहीं लपटे रहत भुजंग। २९. जेहि मारुत गिरि मेरु उड़ाहीं। कहहु तूल केहि लेखे माहीं। ३०. समरथ के नहिं दोष गोसाईं। ३१. पराधीन सपनेहुँ सुख नाहीं। ३२. तिरिया तेल हमीर हठ, चढ़ै न दूजी बार। ३३. अँधेर नगरी चौपट राजा, टके सेर भाजी टके सेर खाजा। ३४. ढोल, गँवार, शूद्र पशु नारी, ये सब ताड़न के अधिकारी। ३५. जो जस करै सो तस फल चाखा। ३६. यहाँ कुम्हड़ बतिया कोऊ नाहीं। जो तर्जनी देखि मर जाहीं॥ ३७. परो अपावन ठौर में कंचन तजत न कोय। ३८. आया है सो जायगा राजा रंक फकीर। ३९. उपजहिं एक संग जल माहीं, जलज जोंक जिमि गुण बिलगाहीं। ४०. काम जो आवे कामरी का लै करे किमांच। ४१. खग जाने खग ही की भाषा। ४२. कोउ नृप होय हमें का हानी, चेरि छाँड़ि नहिं होउब रानी। ४३. खाल ओढ़ाये सिंह की स्यार सिंह नहिं होय। ४४. चन्दन की चुटकी भली, गाड़ी भरा न काठ। ४५. जग में देखत ही का नाता। ४६. स्वारथ लागि करहिं सब प्रीति। ४७. दिनन के फेर ते सुमेर होत माटी को। ४८. दुविधा में दोऊ गये माया मिली न राम। ४९. पियें रुधिर पय ना पियें लगी पयोधर जोंक।

संस्कृत की कहावतें

हिन्दी में कभी-कभी संस्कृत की कहावतें भी प्रयुक्त होती हैं। यहाँ कुछ प्रचलित संस्कृत कहावतें दी जाती हैं :—

विद्या ददाति विनयम्—विद्या से विनय आती है। **धनं दानाय भुक्तये**—धन का उपभोग दान देने में है। **आर्जवं हि कुटिलेषु न नीतिः**—कुटिल पुरुषों के साथ सरलता का व्यवहार उचित नहीं। **अर्द्धो घटो घोषमुपैति नूनम्**—अधजल गगरी छलकत जाय। **विनाशकाले विपरीत बुद्धिः**—नाश होने के पूर्व बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है। **कस्य नेष्ट ही यौवनम्**—तारुण्य किस अच्छा नहीं लगता ? **किं जीवितेन पुरुषस्य निरक्षरेण**—पुरुष के निरक्षर जीवन से क्या लाभ ? **कश्मीरजस्य कटुताऽपि नितान्तरम्या**—केसर का कड़ुवापन भी स्वादिष्ट होता है। **कृशे कस्यास्ति सौहृदम्**—गरीब का कोई मित्र नहीं। **कुवाक्यान्तं हि सौहृदम्**—कुवाक्य कहते ही मित्रता का अन्त हो जाता है। **गुणी गुणं वेत्ति न वेत्ति निर्गुणः**—गुणी ही गुण को समझता है; न कि निर्गुण। **जामाता दशमोग्रहः**—दामाद को दसवाँ ग्रह समझो। **छिद्रेष्वनर्था बहुली भवन्ति**—एक मुसीबत में हजार मुसीबतें आ जाती हैं। **दूरतःपर्वता रम्याः**—पहाड़ दूर से ही अच्छे लगते हैं। **बुद्धेः फलमनाग्रहः**—फल में अनाग्रह बुद्धिमानी है। **पयः पानं भुजंगानां केवलं विषवर्द्धनम्**—सर्प को दूध पिलाना केवल विष को बढ़ाना है। **परोपदेश वेलायां शिष्टाःसर्वे भवन्ति वै**—दूसरों को उपदेश करते समय सब लोग शिष्ट और सज्जन बन जाते हैं। **कर्द्ध विधौ भजति मित्रममित्र भावम्**—भाग्य उलटा होने पर मित्र भी शत्रु हो जाते हैं। **क्षीणा नरा निष्करुणा भवन्ति**—क्षीण पुरुष निष्करुण हो जाते हैं। **गुणैर्विहीना बहुजल्पयन्ति**—गुणहीन पुरुष ही अधिक बकवास करते हैं।

अध्याय १३

वाक्य-विचार

पाश्चात्य देश के किसी भाषा तत्व-वेत्ता ने एक दिन यह कहा था कि वाक्य से भाषण का प्रारम्भ मानना अनर्गल और निराधार है, शब्दों के बिना वाक्य की स्थिति असम्भव है; परन्तु आधुनिक खोजों ने यह स्पष्ट कर दिया है कि प्रत्येक भाषा के आदि काल में वाक्यों अथवा वाक्य-शब्दों का ही प्रयोग होता है। शिशु पहले-पहल वाक्य में ही बोलना सीखता है और वाक्यों में ही सोचता-समझता है। पदों और शब्दों का ज्ञान उसे कालान्तर में होता है। मानव विश्लेषण-प्रिय है। उसने अपनी सुविधा के लिए वाक्यों के अवयवों की, ध्वनि, प्रकृति प्रत्यय, पद आदि की कल्पना कर ली है। इस प्रकार व्यावहारिक तथा शास्त्रीय दृष्टि से शब्द भाषा का चरमावयव सिद्ध होता है परन्तु तात्पर्य की दृष्टि से वाक्य ही भाषा की अवयुति है। भाषा के प्रयोजन पर दृष्टिपात करने से यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है। हम अन्यत्र बता चुके हैं कि भाषा हमारे विचारों का भौतिक रूप है और भाषा का प्रयोजन है इन विचारों का स्पष्टीकरण। अतएव यह मानने में किसी को आपत्ति नहीं हो सकती कि प्रत्येक पूर्ण भाव का प्रकाशन अथवा अर्थबोध वाक्य से ही होता है।

भाषा की अवयुति

वाक्य की परिभाषा

हम अभी बता चुके हैं कि हमारे भाषण का चरमावयव वाक्य है। हमारा मानसिक सम्भाषण, हमारा विचार-विनिमय तथा हमारा अर्थ-प्रकाशन वाक्यों में ही होता है। हम यह भी जानते हैं कि दो मनुष्य बात चीत करते समय अपने-अपने मुख से कुछ सार्थक ध्वनियों का उच्चारण करते हैं। ये ध्वनियाँ उनके विचारों की प्रतिनिधि होती हैं।

अतएव साधारण अर्थ में यह कहा जा सकता है कि वाक्य ऐसी सार्थक ध्वनियों का पुञ्ज है जो वक्ता के आन्तरिक विचारों का स्पष्टीकरण करते हैं। व्याकरण के अनुसार एक शब्द एक ध्वनि का सांकेतिक रूप है। अतएव संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि वाक्य एक ऐसा शब्द समूह होता है जिससे वक्ता अथवा लेखक का पूर्ण अभिप्राय श्रोता अथवा पाठक की समझ में आ जाता है।

वाक्य की परिभाषा से यह स्पष्ट है कि प्रत्येक वाक्य अर्थपूर्ण होना चाहिए। अर्थपूर्ण वाक्य ही लेखक का अभिप्राय पाठक के हृदय में उतारने में समर्थ होता है, परन्तु अर्थ के साथ कुछ अवसरों पर वाक्य में भाव भी होता है। अर्थ तो साधारण बात है, परन्तु भाव अर्थ से कुछ गूढ़ होता है। अर्थ समझने में कुछ कठिनाई नहीं होती, परन्तु भाव समझने में कभी-कभी कठिनाई उपस्थित होती है। उदाहरण के लिए एक वाक्य पर विचार कीजिए—*वह सो गया।* यह वाक्य साधारण अर्थ प्रकट करता है। परन्तु जब कहते हैं—*वह भी सो गया*—तब उसमें एक भाव भी उत्पन्न हो जाता है और उस भाव को समझने के लिए मस्तिष्क पर विशेष जोर देना पड़ता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि वाक्य में अर्थ के साथ भाव भी रहता है।

वाक्य में अर्थ और भाव का समन्वय

वाक्य में भाव कई प्रकार से उत्पन्न होते हैं। कुछ भाव तो अर्थों के ही अन्तर्गत होते हैं, कुछ उन शब्दों के साथ लगनेवाली क्रियाओं से उत्पन्न होते हैं, और कुछ प्रसङ्गानुसार उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार अर्थ और भाव सदा भाषा के साथ-साथ चलते हैं। वास्तव में अर्थ और भाव के लिए ही भाषा होती है और वही भाषा श्रेष्ठ भाषा है जो भावों की अनुगामिनी होती है। इसलिए वाक्य में अर्थ और भाव की स्पष्टता के लिए हमें अपने वाक्य में प्रत्येक शब्द को उचित और निर्दिष्ट स्थान पर प्रसङ्गानुसार रखना चाहिए।

वाक्य के सम्बन्ध में जो विचार अभी प्रकट किये गये हैं उनसे ज्ञात

होता है कि प्रत्येक भाषा में वाक्यों का विशेष महत्त्व है। वाक्य भाषा का एक अंग और हमारे विचारों के स्पष्टीकरण का

वाक्य का महत्व

वास्तविक आधार है। जब एक साहित्यकार अपने अन्तस्तल के भावों के भार से आकुल होकर स्वान्तः सुख को विश्वजनीन सुख बनाने के लिए उद्यत होता है तब वह वाक्य का ही सहारा लेता है। वाक्य ही उसकी शैली का निर्माण करते हैं और उसकी रचना को अनुप्राणित करते हैं। रचना का सौंदर्य वाक्य पर ही आश्रित है। वाक्यों से ही हमें वक्ता अथवा लेखक के विचारों का अर्थ-बोध होता है। वाक्य ही हमारी मानसिक जिज्ञासा तृप्त करते हैं। भाषा की उन्नति का चरम विकास वाक्य पर ही अवलम्बित रहता है। वक्ता औ श्रोता, लेखक और पाठक के बीच वाक्य ही मैत्री स्थापित करते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि प्रत्येक भाषा में, प्रत्येक साहित्य में वाक्य का ही चमत्कार है।

परन्तु किसी साहित्यिक रचना में वाक्य को उसी समय स्थान मिलता है जब उसमें वक्ता अथवा लेखक के मनोगत भावों, विचारों, कल्पनाओं तथा अनुभूतियों को स्पष्ट रूप से व्यक्त

वाक्य के शास्त्रीय गुण

करने की शक्ति आ जाती है। इस उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए वाक्य के उच्चरित पदों में परस्पर आकांक्षा, योग्यता और सन्निधान का होना अत्यन्त आवश्यक है। यहाँ हम थोड़े में इन तीन शब्दों की व्याख्या करेंगे।

[१] आकांक्षा—पूरा अर्थ समझने के लिए एक पद को सुनकर श्रोता के हृदय में दूसरा पद सुनने की जो स्वाभाविक इच्छा उत्पन्न होती है उसे आकांक्षा कहते हैं। 'मैं जाता हूँ' इस वाक्य में केवल 'मैं' पद से उच्चरित आकांक्षा की शान्ति तभी होती है तब उसके सन्निधान में 'जाता हूँ' अंश प्रयुक्त रहता है। इससे यह स्पष्ट है कि केवल 'मैं' कहने से मानसिक जिज्ञासा शान्त नहीं होती, कुछ न कुछ आकांक्षा बनी ही रहती है। इस आकाँक्षा की पूर्त्ति करना वाक्य का धर्म है।

[२] **योग्यता**—जब वाक्य के पदों का अन्वय करने के समय अर्थ-सम्बन्धी बाधा उपस्थित नहीं होती तब उसे योग्यता कहते हैं। जिस प्रकार वाक्य के समस्त पदों का साकांक्ष होना अनिवार्य है उसी प्रकार उनमें योग्यता का रहना भी अत्यावश्यक है। **'माली पानी से पौधे सींचता है।'** यह एक सार्थक वाक्य है। इस वाक्य का प्रत्येक पद अर्थ-बोधन में किसी प्रकार की बाधा उपस्थित नहीं करता। इसलिए उसके प्रत्येक पद में योग्यता है, परन्तु यदि हम यह कहें कि **माली आग से पौधे सींचता है**, तो यहाँ योग्यता के अनुसार पद का विन्यास नहीं हुआ। आग के सींचने से पौधे लहलहाने के बदले सूख जायँगे। फिर आग के साथ सींचना का मेल भी नहीं बैठता। इससे स्पष्ट है कि वाक्य के प्रत्येक पद में योग्यता होनी चाहिए।

[३] **सन्निधान**—योग्यता और आकांक्षायुक्त पदों से पूर्ण अर्थ की अभिव्यक्ति तभी होती है जब वाक्य में प्रयुक्त शब्द परस्पर सन्निहित होते हैं—पास-पास होते हैं, एक क्रम से होते हैं। कहने का तात्पर्य यह कि वाक्य के पदों में परस्पर योग्यता तथा आकांक्षा रहने पर भी यदि उनका क्रम ठीक नहीं है तो वह वाक्य वास्तविक अर्थ में वाक्य नहीं है। अतएव जो कुछ कहा जाय अथवा लिखा जाय वह एक ही समय में और क्रम का ध्यान रखकर कहा अथवा लिखा जाय। यदि वक्ता वाक्य के कुछ शब्दों का उच्चारण प्रातःकाल करे, कुछ शब्दों का मध्याह्न में और कुछ शब्दों का सायंकाल तो हम उसे वाक्य नहीं कह सकते। इसी प्रकार 'गुरु का कर्त्तव्य है, शिष्य की आज्ञा मानना' भी एक वाक्य नहीं है। इसमें पदों का क्रम ठीक नहीं है। अतः हम वाक्य उसी पद-समूह को कहेंगे जिसके पद परस्पर-साकांक्ष, प्रयोग-योग्यता से युक्त, परस्पर सन्निहित और क्रमानुसार हों।

ऊपर की पंक्तियों में वाक्य के जिन गुणों पर विचार किया गया है उनका सम्बन्ध व्याकरण से है। साहित्यिक दृष्टि से वाक्य में ऐसी

वाक्य के साहित्यिक गुण

बातों का होना आवश्यक है जो उसे प्रभावशाली, आकर्षक और रमणीय बनाने में सफल होती है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वाक्य में स्पष्टता, समर्थता और श्रुतिमधुरता का होना परम आवश्यक है। हमारे वाक्य के साथ केवल हमारे मस्तिष्क का ही नहीं, वरन् हृदय का भी संयोग होना चाहिए। नीचे की पंक्तियों में हम इस सम्बन्ध में विचार करेंगे।

[१] **स्पष्टता**—जब किसी वाक्य को पढ़ते अथवा सुनते ही पाठक अथवा श्रोता के हृदय में उन्हीं भावों और उन्हीं विचारों का उद्रेक होता है जिनसे प्रभावित होकर लेखक अथवा वक्ता ने उस वाक्य की रचना की है तब यह कहा जाता है कि वह वाक्य स्पष्ट है। स्पष्ट वाक्य पाठक के हृदय और मस्तिष्क पर सीधा चोट करता है और लेखक के व्यक्तित्व को आदर्श की भाँति प्रतिबिम्बित करता है। इसलिए लेखक का प्रत्येक वाक्य दर्पण के समान होना चाहिए। उसे अपने वाक्य में ऐसे क्लिष्ट शब्दों का प्रयोग न करना चाहिए जिनसे उनके मानस-चित्र की निर्मलता में कलङ्क लगता हो। सारांश यह कि लेखक का प्रत्येक वाक्य प्रसाद गुण-युक्त होना चाहिए।

[२] **समर्थता**—जब लेखक वाक्य में अपनी महत्त्वपूर्ण बात को ऐसा स्थान देता है कि उसके द्वारा वह अंश मुख्यता प्राप्त कर लेता है तब वह वाक्य समर्थ वाक्य कहलाता है। समर्थ वाक्य में पाठक के हृदय को उद्वेलित करने तथा उसमें सुषुप्त भावनाओं को जाग्रत करने की प्रबल शक्ति होती है। समर्थ वाक्य लेखक के ज्ञान और चिन्तन की कसौटी है। इसलिए लेखक को वाक्य रचना करते समय विचारों के क्रम पर विशेष रूप से ध्यान देना चाहिए।

[३] **श्रुतिमधुरता**—जब वाक्य प्रवाहयुक्त और सुनने में मधुर होता है तब वह श्रुतिमधुर कहा जाता है। श्रुतिमधुर वाक्य-समूहों से रचना प्रभावशाली, आकर्षक और रमणीय हो जाती है। उनसे स्मरण शक्ति को भी यथेष्ट सहायता मिलती है।

यह तो हुई वाक्य के गुणों की विवेचना, अब हम वाक्य के भेदों पर विचार करेंगे। हम यह देखेंगे कि रचना के अनुसार वाक्य कितने प्रकार के होते हैं। इस सम्बन्ध में आधुनिक वैयाकरणों का मत ही सर्वमान्य है। उनका कहना है कि रचना के अनुसार वाक्य के तीन भेद किये जा सकते हैं—**सरल, मिश्र और संयुक्त**। निम्नलिखित पंक्तियों में हम इन तीनों भेदों पर क्रमानुसार विचार करेंगे।

स्वरूप के अनुसार वाक्य-भेद

सरल वाक्य उस पद-समूह को कहते हैं जिसमें एक ही क्रिया प्रयुक्त होती है। कभी यह क्रिया उच्चरित रहती है और कभी प्रतीयमान। 'मोहन खाना खाता है', एक सरल वाक्य है। इसमें 'खाता है' क्रिया उच्चरित है; परन्तु केवल 'कौन' कहने का तात्पर्य है 'कौन है?' इन दो शब्दों के वाक्य में 'है' क्रिया प्रतीयमान है।

१. सरल वाक्य

जिस वाक्य में एक मुख्य सरल वाक्य और उसके आश्रित एक अथवा अधिक सहायक वाक्य रहते हैं उसे मिश्रित वाक्य कहते हैं। 'मैं देखता हूँ कि तुम्हारा स्वास्थ्य गिरता जा रहा है' एक मिश्रित वाक्य है। इस मिश्रित वाक्य का पूर्वार्द्ध मुख्य वाक्य है और उत्तरार्द्ध मुख्य वाक्य का सहायक वाक्य है। व्याकरण में सहायक वाक्य को आश्रित, आनुषङ्गिक अथवा उपवाक्य भी कहते हैं। सरल वाक्य और उपवाक्य में अन्तर केवल इतना ही होता है कि सरल वाक्य अर्थबोधकता की दृष्टि से पूर्ण होता है। उपवाक्य अर्थबोधकता के लिए मिश्रित वाक्य के मुख्य वाक्य पर आश्रित रहता है। एक मिश्रित वाक्य में केवल एक ही मुख्य वाक्य रहता है। उसके उपवाक्य एक अथवा अनेक हो सकते हैं।

२. मिश्रित वाक्य

जिस वाक्य में दो से अधिक स्वतन्त्र, सरल अथवा मिश्रित वाक्य संयोजक अव्ययों द्वारा जुड़े रहते हैं उसे संयुक्त वाक्य कहते हैं।

प्रातःकाल हो गया, विद्यार्थी अपना पाठ याद कर रहे हैं और तुम अब तक सो रहे हो।' यह एक साधारण

३. संयुक्त वाक्य संयुक्त वाक्य है। इस वाक्य में तीन स्वतन्त्र सरल वाक्य हैं जो संयोजक अव्यय 'और' द्वारा जुड़े हुए हैं। इसी प्रकार मैंने मोहन से कहा कि तुम घर जाओ और सोहन से कहा कि तुम यहीं रहो। एक संयुक्त वाक्य में दो मिश्रित वाक्य हैं। इस संयुक्त वाक्य में दो मिश्रित वाक्य संयोजक अव्यय 'और' द्वारा जुड़े हुए हैं। इन उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि संयुक्त वाक्य में जितने वाक्य संयोजक अव्यय द्वारा जुड़े रहते हैं वे सब स्वतन्त्र रहते हैं और समानाधिकरण वाक्य कहलाते हैं। इस सम्बन्ध में यह बात विशेष रूप से ध्यान में रखनी चाहिए कि जब किसी वाक्य के अन्तर्गत दो अथवा अधिक वाक्य संयोजक अव्यय से जुड़े रहते हैं तब वह मिश्रित वाक्य समझा जाता है और उसके अन्तर्गत वाक्य परस्पर समानाधिकरण वाक्य कहलाते हैं, परन्तु जब किसी वाक्य में कोई मिश्रित वाक्य रहता है और शेष का सम्बन्ध उस मिश्रित वाक्य के मुख्य वाक्य से संयोजक अव्यय द्वारा हो जाता है तब वह वाक्य संयुक्त वाक्य समझा जाता है।

वाक्य के साहित्यिक भेद—हमने रचनानुसार वाक्य के जिन भेदों की ऊपर विवेचना की है उनके अतिरिक्त साहित्यिक दृष्टिकोण से वाक्य के तीन भेद हो सकते हैं:—संयत, शिथिल और सन्तुलित।

संयत वाक्य उस सरल अथवा मिश्रित वाक्य को कहते हैं जिसका अन्तिम भाग महत्त्वपूर्ण होता है। इसी बात को हम यों भी कह सकते हैं कि संयत वाक्य में पाठक अथवा श्रोता

१. संयत वाक्य की कुतूहलता और उदाहरण आदि से अन्त तक बनी रहती है। एक उदाहरण लीजिए:—जिस कामना को मैंने इतने दिनों तक अपने हृदय में स्थान दिया, जिस कामना को मैंने भूलकर भी दूसरों पर प्रकट नहीं किया, जिस कामना

को मैंने अमूल्य रत्न की भाँति हृदय की मञ्जूषा में बन्द रखा । आज उसी कामना का साकार रूप देखकर हृदय बैठ गया ।' इस उदाहरण में पाठक की उत्सुकता तब तक बनी रहती है जब तक वह अन्तिम अंश पर पहुँच नहीं जाता । वह इस वाक्य को पढ़ता हुआ ज्यों-ज्यों आगे बढ़ता है त्यों-त्यों उसके हृदय की उत्सुकता बढ़ती ही जाती है और उस समय शान्त होती है जब वह वाक्य के अन्तिम अंश पर पहुँचता है । ऐसे वाक्य साहित्यिक रचना में सौन्दर्य की सृष्टि करते हैं और पाठक के हृदय पर लेखक के विचारों की छाप छोड़ जाते हैं ।

२. शिथिल वाक्य

शिथिल वाक्य संयत वाक्य के बिल्कुल विपरीत होता है । संयत वाक्य में मुख्य भाग अन्त में आता है, परन्तु शिथिल वाक्य में मुख्य भाग पहले ही आ जाता है । इसलिए ऐसे वाक्य से पाठक के हृदय में किसी प्रकार का कौतूहल उत्पन्न नहीं होता । ऐसी दशा में वह वाक्य साहित्यिक रमणीयता से शून्य रहता है । ललित शैली की रचना शिथिल वाक्य में असम्भव है । अतएव किसी विषय पर अपने विचार प्रकट करते समय लेखक को अपनी रचना में शिथिल वाक्यों का बहुत कम प्रयोग करना चाहिए । शिथिल वाक्य का एक उदाहरण लीजिए :—मानव विश्लेषण-प्रिय है, इसलिए उसके सामने जो नयी समस्या उपस्थित होती है, जो नयी वस्तु आती है, उसका वह विश्लेषण करता है—इस वाक्य में मुख्य अंश पहले ही कह देने से वाक्य में वह ओज, वह सौन्दर्य और वह उत्कर्ष नहीं है जो संयत वाक्य में पाया जाता है ।

३. सन्तुलित वाक्य

सन्तुलित वाक्य साहित्यिक दृष्टि से उच्चकोटि का वाक्य होता है । वह एक ऐसा वाक्य-समूह होता है जिसके अन्तर्वाक्य एक प्रभावोत्पादक रीति से परस्पर सन्तुलन करते हुए अग्रसर होते हैं । सारांश यह कि इसके अन्तर्वाक्य के पारस्परिक आकर्षण, सन्तुलन और अवधारण में ही पूरे वाक्य का सौन्दर्य निहित रहता है । उदाहरण लीजिए—

'कविता संसार का हृदय है, कवि का हृदय स्वयं एक विश्व है।'

+ + +

'कवि प्रेमी है, प्रियतम नहीं; उसका हृदय विश्व है, विश्वपति नहीं; उसकी वाणी प्रेम की बाँसुरी है, हँसी मजाक और आनन्द की सारंगी नहीं; कवि हृदयवाला है, हृदयहीन नहीं; सौन्दर्य-उपासक है, सौन्दर्य-निन्दक नहीं; वह हँसता है, रोता भी है।'

+ + +

'करुणा मानव-हृदय की उदारता है, क्रोध उसका सङ्कोच है; करुणा से हृदय द्रवित हो जाता है और क्रोध से कठोर।'

उपर्युक्त उदाहरणों से यह स्पष्ट होता है कि सन्तुलित वाक्य चुस्त, आकर्षक और अधिक प्रभावशाली होते हैं। उनमें हृदय और मस्तिष्क का संयोग इतनी सुन्दरता से किया जाता है कि पाठक का हृदय लेखक के हृदय और मस्तिष्क से मिलकर एक हो जाता है।

साहित्यिक दृष्टि से वाक्य-भेदों पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि शिथिल तथा सन्तुलित वाक्य वस्तुतः संयुक्त अथवा मिश्रित वाक्य के रूपान्तर हैं। शिथिल वाक्य में सौन्दर्य का अभाव रहता है, इसलिए उसमें प्रभावोत्पादकता नहीं रहती। सन्तुलित वाक्य साहित्यिक रचना का प्राण है। उसमें सरलता और आकर्षण रहता है।

अर्थ के अनुसार वाक्य-भेद—रचना के अनुसार वाक्य के तीनों भेदों की विवेचना हम कर चुके हैं। हम यह भी बता चुके हैं कि साहित्य की दृष्टि से उनमें क्या विशेषता होनी चाहिए। अब हम साधारण रीति से वाक्य-भेद पर विचार करेंगे। वाक्य के आठ साधारण भेद होते हैं :—

[१] **विधिवाचक**—ऐसा वाक्य जिससे किसी बात का होना पाया जाय, विधिवाचक वाक्य कहलाता है।

उदाहरण

क. सरल वाक्य—मोहन परीक्षा में सफल हो गया।

ख. मिश्रित वाक्य—जब मोहन परीक्षा में सफल हो गया तब उसके पिता ने बड़ा आनन्द मनाया।

ग. संयुक्त वाक्य—मोहन परीक्षा में पास हो गया और वह नौकर भी हो गया।

[२] निषेधवाचक—ऐसा वाक्य जिससे किसी बात का न होना पाया जाय, निषेधवाचक वाक्य कहलाता है।

उदाहरण

क. सरल वाक्य—मोहन परीक्षा में पास नहीं हुआ।

ख. मिश्रित वाक्य—जब मोहन परीक्षा में पास नहीं हुआ तब उसके पिता ने उसे बहुत फटकारा।

ग. संयुक्त वाक्य—मोहन परीक्षा में पास नहीं हुआ और वह पाठशाला से निकाल भी दिया गया।

[३] आज्ञार्थक वाक्य—ऐसा वाक्य जिससे आज्ञा समझी जाय आज्ञार्थक वाक्य कहलाता है।

उदाहरण

क. सरल वाक्य—अपना काम पूरा करो।

ख. मिश्रित वाक्य—जो काम तुम्हें दिया गया है उसे अभी पूरा करो।

ग. संयुक्त वाक्य—अपना काम पूरा करो और मजदूरी लो।

[४] प्रश्नार्थक वाक्य—ऐसा वाक्य जिससे प्रश्न समझा जाय, प्रश्नार्थक वाक्य कहलाता है।

उदाहरण

क. सरलवाक्य—वह बालक कब आया?

ख. मिश्रित वाक्य—क्या तुम जानते हो कि वह बालक कब आया?

ग. संयुक्त वाक्य—वह बालक कब आया और कब चला गया?

[५] विस्मयादिबोधक वाक्य—ऐसा वाक्य जिससे आश्चर्य प्रकट हो विस्मयादिबोधक वाक्य कहा जाता है।

उदाहरण

क. सरल वाक्य—कितना सुन्दर उपवन है।

ख. मिश्रित वाक्य—जो उपवन तुमने देखा है वह कितना सुन्दर है।

ग. संयुक्त वाक्य—वह उपवन कितना सुन्दर है और वहाँ अध्ययन करना कितना आनन्दप्रद है।

[६] इच्छाबोधक वाक्य—ऐसा वाक्य जिससे इच्छा प्रकट हो इच्छाबोधक वाक्य कहलाता है।

उदाहरण

क. सरल वाक्य—ईश्वर तुम्हें परीक्षा में सफलता प्रदान करे।

ख. मिश्रित वाक्य—वह जहाँ रहे वहाँ प्रसन्नचित्त रहे।

ग. संयुक्त वाक्य—ईश्वर तुम्हें परीक्षा में सफलता प्रदान करे और आगे पढ़ने का सुअवसर दे।

[७] सन्देहसूचक—वाक्य—ऐसा वाक्य जिससे सन्देह प्रकट हो, सन्देहसूचक वाक्य कहलाता है।

उदाहरण

क. सरल वाक्य—उसने पत्र लिखा होगा।

ख. मिश्रित वाक्य—यदि उसने पत्र लिखा होगा तो आज अवश्य आता होगा।

ग. संयुक्त वाक्य—उसने पत्र लिखा होगा और तार भी दिया होगा।

[८] संकेतार्थक वाक्य—ऐसा वाक्य जिससे संकेत अथवा शर्त का बोध हो संकेतार्थक वाक्य कहलाता है। इसमें सरल और संयुक्त वाक्य नहीं बनते।

उदाहरण

मिश्रित वाक्य—यदि तुम आओ तो मैं कहीं न जाऊँ।

क्रिया के अनुसार वाक्य-भेद—रचना, आकार तथा साहित्य की दृष्टि से वाक्य-भेदों की विवेचना करने के पश्चात् अब हमें क्रिया के अनुसार वाक्य-भेदों पर भी विचार कर लेना चाहिए। हिन्दी में क्रिया के अनुसार वाक्य के तीन भेद होते हैं—**कर्तृप्रधान, कर्मप्रधान और भावप्रधान**।

[१] **कर्तृप्रधान**—जिस वाक्य में कर्त्ता और कर्म अपनी-अपनी जगह पर हों तथा क्रिया-पद स्वतन्त्र न हो उसे कर्तृप्रधान वाक्य कहते हैं। कर्तृप्रधान वाक्य की क्रिया कर्तृवाच्य होती है। प्रत्येक कर्तृवाच्य क्रिया में कर्म का होना आवश्यक नहीं है, जैसे—राम पुस्तक पढ़ता है। वह रोता है।

[२] **कर्मप्रधान**—जिस वाक्य में कर्त्ता करण के रूप में और कर्म कर्त्ता के रूप में प्रयुक्त हो तथा क्रिया कर्मवाच्य हो उसे कर्मप्रधान वाक्य कहते हैं। कर्मवाच्य में कर्म का होना आवश्यक है, जैसे—मोहन से रोटी खायी गयी। मुझसे पुस्तक पढ़ी गयी।

[३] **भावप्रधान**—जब अकर्मक क्रिया पद-युक्त कर्तृवाच्य के कर्त्ता का रूप करण के समान हो जाय तब उस वाक्य को भावप्रधान कहते हैं। भावप्रधान वाक्य में क्रिया स्वयं प्रधान रहती है, जैसे—तुमसे पढ़ा भी नहीं जाता। मुझसे बोला भी नहीं जाता।

वाक्य के अङ्ग—ऊपर की पंक्तियों में हमने वाक्य-भेदों के जो उदाहरण दिये हैं उन्हें अध्ययन करने से पता चलता है कि प्रत्येक वाक्य के मुख्य दो अवयव होते हैं—(१) **उद्देश्य** और (२) **विधेय**।

[१] **उद्देश्य**—जिस वस्तु के विषय में कुछ कहा जाता है उसे सूचित करनेवाले शब्दों को उद्देश्य कहते हैं। 'हरिश्चन्द्र रोटी खा रहा है', एक सरल वाक्य है। इस वाक्य में हरिश्चन्द्र के विषय में कुछ कहा गया है अर्थात् विधान किया गया है। अतएव हरिश्चन्द्र उद्देश्य है।

विधेय—उद्देश्य के विषय में जो विधान किया जाता है उसे सूचित करनेवाले शब्दों को विधेय कहते हैं। उपर्युक्त वाक्य में हरिश्चन्द्र के विषय में 'रोटी खा रहा है' कहा गया है। अतएव 'रोटी खा रहा है' विधेय है।

उद्देश्य और विधेय प्रत्येक वाक्य में बहुधा स्पष्ट रहते हैं, परन्तु कभी-कभी वाक्य में कहीं उद्देश्य, कहीं विधेय और कहीं दोनों लुप्त रहते हैं। भाववाच्य में उद्देश्य प्रायः क्रिया में ही सम्मिलित रहता है। उदाहरण लीजिए :—

१. गिरीश ने पुस्तक पढ़ी। इस वाक्य में गिरीश उद्देश्य और पुस्तक पढ़ी, विधेय है।

२. किसने पुस्तक पढ़ी ? उत्तर मिला 'गिरीश ने'। उत्तर केवल दो शब्दों का वाक्य है। उसका उद्देश्य 'गिरीश ने' प्रकट है, परन्तु विधेय 'पुस्तक पढ़ी' लुप्त है।

३. घर जाओ, एक वाक्य है। इस वाक्य में घर जाओ विधेय है। 'तुम' उद्देश्य लुप्त है।

४. क्या गिरीश ने पुस्तक पढ़ी ? उत्तर मिला—हाँ। उत्तर सुनकर बात तो समझ में आ गयी, परन्तु उद्देश्य और विधेय दोनों लुप्त हैं।

५. मुझ से पढ़ा नहीं जाता, एक वाक्य है। इस वाक्य में उद्देश्य क्रिया के अर्थ में ही मिला हुआ है।

वाक्य के अंगों पर विचार करने के पश्चात् हमें वाक्य और वाक्यांश का अन्तर भी समझ लेना चाहिए। वाक्य और वाक्यांश में अर्थ और

वाक्य और वाक्यांश

रूप दोनों का अन्तर रहता है। परस्पर सम्बन्ध रखनेवाले दो अथवा अधिक शब्दों को जिनमें कोई पूरी बात समझ में नहीं आती, वाक्यांश कहते हैं। एक पूर्ण विचार व्यक्त करनेवाला शब्द-समूह वाक्य कहलाता है। इस प्रकार अर्थ की दृष्टि से वाक्य में एक पूर्ण विचार रहता है; परन्तु

वाक्यांश में केवल एक अथवा अधिक भावनाएं रहती हैं। रूप की दृष्टि से दोनों में यह अन्तर है कि वाक्य में एक क्रिया रहती है; परन्तु वाक्यांश में प्रायः कृदन्त अथवा सम्बन्ध सूचक अव्यय रहते हैं। 'दूर से आया हुआ मनुष्य थक जाता है'—एक वाक्य है। इस वाक्य में 'दूर से आया हुआ' वाक्यांश है।

उपसंहार

वाक्यों के सम्बन्ध में इतना विचार करने के पश्चात् हमें यह सदैव स्मरण रखना चाहिए कि केवल परिभाषाएँ पढ़ लेने और उदाहरण रट लेने से हम अच्छे लेखक नहीं बन सकते। अच्छा लेखक बनने के लिए हमें प्रौढ़ लेखकों की लेखन-शैली का निरीक्षण एवं निरन्तर अध्ययन करते रहना चाहिए। उनकी शब्दावली, तथा उसकी वाक्य-योजना के निरन्तर अध्ययन से ही हम यह सीख सकते हैं कि ओजस्वी वाक्यों का आरम्भ कैसा होना चाहिए, वाक्य में शब्दों को कैसे सजाना चाहिए, कैसे उनकी शृंखला विकसित होनी चाहिए और अन्त में कैसे उनको प्रभावशाली बनाना चाहिए। इसके साथ ही यह भी स्मरण रखना चाहिए कि शैली में सौन्दर्य-स्थापना के लिए वाक्य-योजना में सदैव परिवर्तन करते रहना चाहिए। एक ही प्रकार के वाक्यों से पाठक उद्विग्न हो जाते हैं।

अध्याय १४

वाक्य-रचना के मूल सिद्धान्त

पूर्व प्रकरण में हम यह बता चुके हैं कि वाक्य ऐसे पद-समूह को कहते हैं जिससे एक विचार का स्पष्टीकरण होता है। इस स्पष्टीकरण के लिए वाक्य के शब्दों को व्याकरण के नियमानुसार सजाना पड़ता है और उन्हें शृङ्खलाबद्ध करते समय आवश्यकतानुसार उनकी आकृतियों तथा रूपों में परिवर्तन करना पड़ता है। गाय, घास, खाना तीन शब्द हैं। इन तीनों के उच्चारण मात्र से कोई बात समझ में नहीं आती। परन्तु जब इन शब्दों की आकृतियों तथा रूपों में यथोचित परिवर्तन के पश्चात् इनमें शब्दांश जोड़ देते हैं तब 'गाय घास खाती है' एक वाक्य बन जाता है। व्याकरण में वाक्य बनाने की इस विधि को **पद-संगठन** कहते हैं।

पद-संगठन

जब तक शब्द पृथक-पृथक रहते हैं अर्थात् जब तक वाक्य में उनका प्रयोग नहीं होता तब तक उन्हें शब्द ही कहते हैं, परन्तु जब वाक्य में उनका प्रयोग होने पर उनकी आकृति में परिवर्तन हो जाता है तब उन्हें **पद** कहते हैं। जिन शब्दांशों के प्रयोग से शब्दों की आकृति में परिवर्तन हो जाता है उन्हें **विभक्ति** कहते है। विभक्ति प्रत्येक पद में गुप्त अथवा प्रत्यक्ष रूप से रहती हैं। अतएव विभक्तियुक्त शब्द पद कहलाता है। 'गाय घास को चरती है'—एक वाक्य है। इस वाक्य में गाय, घास को, चरती है—तीन पद हैं। गाय पद में प्रत्यक्ष रूप से कोई चिह्न नहीं है, घास के अन्त में कर्मकारक का चिह्न 'को' के रूप में है और चरती है में, 'ती है', विभक्ति है।

शब्द और पद

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रत्येक वाक्य एक पद-समूह होता है। व्याकरण के अनुसार वाक्य में पाँच पद-समूह होते हैं—(१) संज्ञापद, (२) सर्वनाम-पद, (३) विशेषण-पद, (४) क्रिया-पद और (५) अव्यय-पद। इनमें से अव्यय-पद का प्रायः परिवर्तन नहीं होता; परन्तु जब अव्यय विशेषण की भाँति प्रयुक्त होता है तब उसका भी रूप परिवर्तित हो जाता है और इस प्रकार के रूप-परिवर्तन पर लिङ्ग, वचन तथा कारक का प्रभाव पड़ता है।

वाक्य और पद

वाक्य में जिन शब्दों की सहायता से किसी विचार का स्पष्टीकरण होता है उनका केवल रूपान्तर और प्रयोग ही नहीं, वरन् उनका पारस्परिक सम्बन्ध भी जानना अत्यन्त आवश्यक है। वाक्य में शब्दों के पारस्परिक सम्बन्ध के अनुसार ही उनका क्रम निश्चित किया जाता है। इसी विषय का ज्ञान व्याकरण में **वाक्य-विन्यास** कहलाता है। वाक्य-विन्यास में, शब्दों को उनके परस्पर सम्बन्ध के अनुसार रखने और उनसे वाक्य बनाने की रीति का वर्णन रहता है। अनियमित वाक्य-विन्यास के कारण भाषा में अस्पष्टता, शिथिलता, जटिलता, भ्रामकता, अर्थ-हीनता, आदि ऐसे दोष आ जाते हैं जो किसी प्रकार क्षम्य नहीं कहे जा सकते। भाव अथवा अर्थ-सम्बन्धी, शाब्दिक द्विरुक्ति अथवा पुनरुक्ति भी वाक्य रचना का बड़ा दोष है। कभी-कभी असावधानी के कारण अर्थ का अनर्थ हो जाता है। अतः वाक्य की ठीक तरह से रचना या विन्यास करने की आवश्यकता होती है।

वाक्य-विन्यास

वाक्य-विन्यास के मूल तत्त्व

वाक्य में शब्दों का उचित पारस्परिक सम्बन्ध जानने के लिए उनका एक दूसरे से **अन्वय**, उनका एक दूसरे पर **अधिकार**, तथा उनका क्रम जानने की आवश्यकता होती है। अतएव वाक्य-विन्यास में अन्वय, अधिकार तथा क्रम का विचार किया जाता है।

अन्वय का अर्थ—दो शब्दों में लिङ्ग, वचन, पुरुष, कारक अथवा काल की जो समानता रहती है उसे **अन्वय** कहते हैं। काली गाय घास खाती है—एक वाक्य है। इस वाक्य में काली शब्द का गाय शब्द से लिंग और वचन का अन्वय है और चरती है, गाय शब्द से लिङ्ग, वचन और पुरुष में अन्वित है।

अधिकार का अर्थ—**अधिकार** उस सम्बन्ध को कहते हैं जिसके कारण किसी एक शब्द के प्रयोग से दूसरी संज्ञा अथवा सर्वनाम किसी विशेष कारक में प्रयुक्त होते हैं। बच्चे आग से डरते हैं—एक वाक्य है। इस वाक्य में डरना क्रिया के प्रयोग से आग शब्द अपादान कारक में आया है।

क्रम का अर्थ—शब्दों को उनके अर्थ और सम्बन्ध की प्रधानता के अनुसार वाक्य में यथास्थान रखना **क्रम** कहलाता है। यह क्रम दो प्रकार का होता है—(१) अलंकृत और (२) साधारण।

विशेष प्रसङ्ग पर वक्ता और लेखक की इच्छा के अनुसार पद-क्रम में जो अन्तर पड़ता है उसे **अलङ्कारिक क्रम** कहते हैं। इसके विपरीत किसी बात को साधारण ढंग से व्याकरण के नियमों के अनु-सार शब्दो द्वारा वाक्य में प्रकट करना **साधारण क्रम** है।

वाक्य-रचना

वाक्य में शब्दों का परस्पर सम्बन्ध दो रीतियों से बतलाया जाता है। पहली रीति के अनुसार हम **वाक्य रचना** करते हैं। वाक्य-रचना में हम शब्दों को उनके अर्थ और प्रयोग के अनुसार मिलाते हैं और उनका परस्पर-सम्बन्ध प्रकट करते हैं। **दूसरी** रीति के अनुसार हम **वाक्य-विश्लेषण** करते हैं। वाक्य-विश्ले-षण में हम वाक्य के अवयवों को उनके अर्थ और प्रयोग के अनुसार अलग-अलग करते हैं और उनका परस्पर सम्बन्ध प्रकट करते हैं। यह रीति अँगरेजी व्याकरण से हिन्दी में आयी है और इसका सम्बन्ध केवल व्याकरण से है। वाक्य-रचना का सम्बन्ध भाषा और व्याकरण दोनों से है। इसलिए इस अध्याय में हम वाक्य-रचना के सम्बन्ध में पहले

भाषा और इसके बाद व्याकरण के नियमों पर विचार करेंगे।

लेखन कला में पहली बात वाक्य-रचना है। पहले पहल वाक्य रचना का ज्ञान अनुकरण से होता है। शिशु को न तो भाषा का ज्ञान होता है और न व्याकरण का, परन्तु वह वाक्यों में ही अपने विचार प्रकट करता है। वाक्य-रचना का इस प्रकार का ज्ञान उसे अनुकरण से प्राप्त होता है। कालान्तर में जब वह अपने विचारों को लिपिबद्ध करना सीखता है तब भाषा और व्याकरण की दृष्टि से वाक्य-रचना पर ध्यान देता है। इसलिए वाक्य-रचना में हमें सब से पहले भाषा पर विचार करना चाहिए। हम यहाँ भाषा-सम्बन्धी कुछ नियम देते हैं :—

भाषा-व्यवहार

१. वाक्य में शब्दों की योजना विषय के अनुरूप और ऐसी होनी चाहिए कि श्रोता अथवा पाठक को उस विषय के समझने में किसी प्रकार की कठिनाई न हो। वाक्य में प्रयुक्त शब्द इतने सरल और अर्थपूर्ण हों कि उनसे विषय के प्रतिपादन में पूरी सहायता मिलती रहे। क्लिष्ट और अस्वाभाविक शब्दों को वाक्य में कभी स्थान न देना चाहिए।

२. वाक्य में विजातीय अप्रचलित शब्दों को न आने देना चाहिए। इससे लेखक की असमर्थता सूचित होती है और यह जान पड़ता है कि उसके शब्द-भंडार में उन विचारों को व्यक्त करने के लिए उपयुक्त शब्द नहीं हैं। अपनी-भाषा को इस दोष से बचाना चाहिए।

३. वाक्य बहुत बड़ा न होना चाहिए। लम्बे वाक्यों से भाषा विकृत हो जाती है और पाठक की स्मरण शक्ति पर अधिक ज़ोर देना पड़ता है। कुछ लोग अँगरेजी के अनुकरण पर हिन्दी में ऐसे वाक्यों की रचना करते हैं जो वाक्यार्थ समझने में रुकावट पैदा करते हैं और भाषा का प्रवाह विकृत कर देते है। वाक्य-रचना में भाषा के प्रवाह पर ध्यान रखना अत्यन्त आवश्यक है।

४. वाक्य में पदों का सन्निवेश बहुत ध्यान से करना चाहिए।

लेखक को वाक्य-रचना करते समय यह स्मरण रखना चाहिए कि वाक्य में समुचित पदों का सन्निवेश भाषा के सौन्दर्य में वृद्धि करता है और उसे शक्ति प्रदान करता है। इस सम्बन्ध में तीन बातें अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। पहली यह है कि वाक्य में एक भी पद व्यर्थ न आने देना चाहिए। व्यर्थ पद का सन्निवेश होने से वाक्य शिथिल और अशक्त हो जाता है। इसी प्रकार वाक्य में उचित पद का अभाव विचार के स्पष्टीकरण में बाधक होता है। दूसरी बात जिसकी ओर हमें विशेष रूप से ध्यान देना चाहिए वाक्य में उचित पद का सन्निवेश है। तीसरी बात यह है कि पदों की अथवा शब्दों की पुनरुक्ति से अपनी रचना को बचाना चाहिए।

५. वाक्य में अपने आशय को ही पदों में व्यक्त करना चाहिए। रचना में इस कला को लाघव कहते हैं। लाघव से रचना उत्कृष्ट हो जाती है; परन्तु निश्चय अथवा आवश्यकता के कारण जब किसी विषय पर जोर देना होता है तब वहाँ लाघव का विधान नहीं किया जाता, जैसे—सत्य में शक्ति है, सत्य में सौन्दर्य है, सत्य में ईश्वर का निवास है।

६. वाक्य-रचना में बहुधा ऐसे शब्दों को छोड़ देते हैं, जिनके न रखते हुए भी अर्थ समझने में कोई बाधा नहीं पड़ती। इस प्रयोग का नाम अध्याहार है। अध्याहार से रचना मुहाविरेदार हो जाती है और थोड़े में ही वक्ता या लेखक का आशय प्रकट हो जाता है, जैसे—तुम अपनी ही कहते हो, मेरी नहीं सुनते। इस वाक्य में बात शब्द गुप्त है, परन्तु फिर भी अर्थ समझने में कोई बाधा नहीं पड़ती। ऐसे प्रयोग को पूर्ण अध्याहार कहते हैं। अपूर्ण अध्याहार में छूटा हुआ शब्द एक बार पहले आ चुकता है, जैसे—मैं धन का उतना आदर नहीं करता जितना विद्या का। इस वाक्य के अन्त में आदर करता हूँ शब्द समूह लुप्त है; परन्तु यह पहले आ चुका है। पूर्ण अध्याहार नीचे-लिखे शब्दों में होता है :—

क. देखना, कहना और सुनना क्रियाओं के वर्त्तमान और आसन्न-भूत कालों में कर्त्ता बहुधा लुप्त रहता है, जैसे—देखता हूँ कि तुम्हारी आदत खराब हो रही है। कहा भी है कि जैसे को तैसा। ख. विधि-काल में कर्त्ता बहुधा लुप्त रहता है, जैसे—आइए; यह काम मत कीजिए। ग. जानना क्रिया के सम्भाव्य भविष्यत् में यदि अनिश्चय का बोध हो तो कर्त्ता का अध्याहार हो जाता है, जैसे—न जाने वह कहाँ चला गया। घ. कटना, बीतना, गुजरना आदि क्रियाओं के साथ यदि समय अथवा अवस्थासूचक क्रिया हो तो बहुधा उसको लोप कर दिया जाता है, जैसे—कहो, यार! आजकल कैसी कट रही है? क्या बताएँ मुझ पर कैसी बीतती है। च. क्रियाविशेषण और समुच्चयबोधक अव्ययों के साथ साथ यदि होना, हो सकना, बनाना, बन सकना आदि क्रियाएँ हों तो उनका कर्त्ता बहुधा लुप्त रहता है, जैसे—जहाँ तक हो सके, यह काम होना चाहिए। जैसे बने आप इस काम को पूरा कीजिये। छ. व्यापक अर्थवाली सकर्मक क्रियाओं का कर्म बहुधा लुप्त रहता है, जैसे—लड़का पढ़ तो लेता है, परन्तु लिख नहीं सकता।

अपूर्ण अध्याहार नीचे-लिखे स्थानों में होता है—

क. एक वाक्य में कर्त्ता का उल्लेख कर दूसरे वाक्य में बहुधा उसका अध्याहार कर देते हैं, जैसे—आप यह पुस्तक पढ़ें और परीक्षा की चिन्ता न करें। ख. यदि अनेक विशेषणों का एक ही विशेष्य हो और उससे एक-वचन का बोध हो, तो उसका एक हो बार उल्लेख होता है जैसे—लाल और पीला कागज। ग. यदि एक ही क्रिया का अन्वय कई उद्देश्यों के साथ हो, तो उसका उल्लेख केवल एक ही बार होता है, जैसे—नौकर, लड़के और सिपाही सब एक साथ लौट आये। घ. यदि अनेक मुख्य क्रियाओं की एक ही सहायक क्रिया हो तो उसका प्रयोग केवल एक बार अन्तिम क्रिया के साथ होता है, जैसे—यहाँ पुस्तकें लिखी और छापी जाती हैं। च. उपमानावाचक वाक्यों में उपमान के विधेयार्थक पद प्रायः लुप्त रहते हैं, जैसे—वह

इतना सीधा है जैसे गाय। छ. मिश्रित वाक्य के उत्तरार्द्ध में प्रायः कई पदों का अध्याहार रहता है, जैसे—यदि आप परीक्षा देंगे तो मैं भी।

प्रत्ययों का अध्याहार—हिन्दी में शब्दों के समान बहुधा प्रत्ययों का भी अध्याहार हो जाता है। नीचे कुछ नियम दिये जाते हैं :—

क. यदि कई संख्याओं में एक ही विभक्ति का प्रयोग हो तो उसका उपयोग केवल अन्तिम शब्द के साथ होता है और शेष शब्द साधारण अथवा विकृत रूप में आते हैं, जैसे—इसके रंग, रूप और गुण में कोई भेद नहीं है। ख. कर्म, करण और अधिकरण के प्रत्ययों का बहुधा लोप होता है, जैसे—पानी पी लो। वह किस दिन आयेगा। ग. कर, वाला, मय, पूर्वक आदि प्रत्ययों का कभी-कभी अध्याहार होता है, जैसे—खा और पी कर; आने और जाने वाले। भक्ति तथा प्रेमपूर्वक।

७. वाक्य में ऐसे शब्दों का प्रयोग करना चाहिए जो श्रवण-सुखद और उच्चारण-सुलभ हों। कर्कश शब्द केवल वीर और रौद्र रस की कृतियों में ही शोभा देते हैं। अन्य रसों में मधुर पदावली होनी चाहिए।

८. शब्दों के प्रयोग में औचित्य पर दृष्टि रखना अत्यन्त आवश्यक है। तलवार एक अस्त्र है। इस वाक्य में अस्त्र शब्द का अनुचित प्रयोग किया गया है। अस्त्र किसी यन्त्र-द्वारा चलाया जाता है। इसलिए तलवार अस्त्र नहीं, शस्त्र है।

९. वाक्य-रचना में ऐसे पदों का सन्निवेश न होना चाहिए जिससे अर्थ में सन्देह हो। मोहन और सोहन के लड़कों में मेल हो गया। यह एक सन्दिग्ध वाक्य है। इस वाक्य के दो अर्थ हो सकते हैं। अतएव इस वाक्य से लेखक का आशय स्पष्ट नहीं होता। मोहन का झगड़ा सोहन के लड़कों से हुआ अथवा मोहन के लड़कों और सोहन के लड़कों में झगड़ा हुआ। ऐसी दशा में क्या ठीक समझा जाय। यदि मोहन का झगड़ा सोहन के लड़कों से हुआ तो वाक्य होना चाहिए—

मोहन में और सोहन के लड़कों में झगड़ा हो गया। यदि मोहन के लड़कों और सोहन के लड़कों में झगड़ा हुआ तो वाक्य होना चाहिए—मोहन के और सोहन के लड़कों में झगड़ा हो गया। अब अर्थ का झगड़ा साफ हो गया।

१०. वाक्य में ऐसे शब्दों का प्रयोग न करना चाहिए जो प्रचलित नहीं हैं। इसी प्रकार जिस शब्द का जिस अर्थ में प्रयोग किया गया है उससे उस अर्थ की प्रतीति अवश्य होनी चाहिए। कभी-कभी नवीन लेखक अपनी रचना में नवीनता लाने के लिए ऐसे शब्दों का सन्निवेश कर देते हैं जिनका किसी शास्त्र-विशेष से सम्बन्ध रहता है। यह एक प्रकार का रचना-दोष है।

११. वाक्य में पदों का सन्निवेश क्रमानुसार होना चाहिए। ऐसा न होने से वाक्य में दुष्क्रमता आ जाती है। 'उसने भारत-माता की सेवा में अपना प्राण और धन अर्पण कर दिया।' इस वाक्य में पदक्रम ठीक नहीं है। धन के पश्चात् प्राण आना चाहिए।

१२. वाक्य-रचना में उपमेय और उपमान का विशेष रूप में ध्यान रखना चाहिए। उपमान में सादृश्य होना मुख्य बात है। योग्य की योग्य से उपमा देनी चाहिए।

१३. वाक्य में संज्ञाओं का प्रयोग करने से पहले यह देख लेना अत्यन्त आवश्यक है कि किस शब्द का प्रयोग वस्तु के लिए होता है। पृथ्वी के अनेक नाम होने पर भी हमें जहाँ जिस अर्थ-बोधन की अभिलाषा होती है वहाँ हम उसी का प्रयोग करते हैं। भूमि से साधारण अर्थ समझा जाता है, वसुधा से स्वर्ण रजत, हीरकादि रत्नावली पृथ्वी का रूप हमारे सामने आता है, विश्वम्भरा से फल,फूल इत्यादि का चित्र मानस-पटल पर अङ्कित होता है और धरित्री से सकल संसार को धारण करनेवाली पृथ्वी हमारे सामने आती है। अतएव ऐसी संज्ञाओं का प्रयोग अर्थ पर विचार करके करना चाहिए।

१४. वाक्य में विशेषण का महत्व भी बहुत है। इस विशिष्टता

सूचक पद का प्रयोग तभी करते हैं जब हमारी उक्ति में किसी भ्रम की सम्भावना अथवा किसी व्यभिचार की आशङ्का रहती है। मनुष्य कहने से हमारे मानस-पटल पर अनेक प्रकार के मनुष्य चित्रित हो जाते हैं। उन नाना प्रकार के मनुष्यों में हमें अच्छे मनुष्यों का निर्देश करना इष्ट होता है अतएव हम मनुष्य न कहकर अच्छा मनुष्य कहते हैं। इस प्रकार अभिप्रेत अर्थ में व्यभिचार की जो सम्भावना रहती है वह विशेषण के प्रयोग से दूर हो जाती है। इससे हम यह भी देखते हैं कि विशेषण के प्रयोग से सामान्य अर्थ में संकोच हो जाता है और उसकी सहायता से लेखक अपनी कल्पना, अनुभूति अथवा भावना को पाठक के हृदय में अङ्कित करता है। इस सम्बन्ध में हमें यह भी याद रखना चाहिए कि विशेषण केवल वर्तमान मानस-चित्र के अङ्कन में ही सहायक नहीं होता अपितु आगे वर्णित होनेवाले चित्र के लिए क्षेत्र भी निर्मित करता है। अतएव वाक्य में विशेषण का प्रयोग करते समय हमें इन बातों का विशेष रूप से ध्यान रखना चाहिए।

१५. वाक्य-रचना में क्रियापद के प्रयोग के सम्बन्ध में विशेष रूप से सजग रहना चाहिए। हमें संयुक्त क्रियापद को उसके वास्तविक अर्थ में ही प्रयोग करना चाहिए। देख लूँगा तथा देखा जायगा—इन दोनों क्रियापदों के अर्थों में बड़ा अन्तर है। इसी प्रकार हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि संज्ञापद की तरह क्रियापद का पर्यायवाची नहीं होता। चलना, टहलना, घूमना, भ्रमण करना आदि क्रियापदों में पर्याप्त अन्तर है। अतएव किसी क्रियापद का प्रयोग करने से पहले लेखक को इस बात का विचार कर लेना चाहिए कि जिस भाव को वह अपने लेख में उत्पन्न करना चाहता है वह कहाँ तक ठीक उतरता है।

१६. ऊपर की पंक्तियों में भाषा-व्यवहार के सम्बन्ध में जिन बातों की ओर संकेत किया गया है उनमें यह स्पष्ट है कि वाक्य-रचना में सफलता प्राप्त करने के लिए लेखक को अपनी अपेक्षा श्रोता अथवा पाठक का अधिक ध्यान रखना चाहिए। अतएव उसे ऐसे शब्दों का प्रयोग

करना चाहिए जिनके द्वारा पाठक के मानस-पटल पर उन्हीं विचारों, उन्हीं भावनाओं तथा उन्हीं कल्पनाओं का चित्र अंकित हो जिनसे वह स्वयं प्रभावित हुआ है। रचनाकार की सफलता का यही रहस्य है।

परन्तु रचनाकार को किसी विषय पर अपना विचार प्रकट करते समय केवल शब्द-योजना पर ध्यान नहीं देना पड़ता, उसे व्याकरण-सम्बन्धी नियमों का भी पालन करना पड़ता है। अगली पंक्तियों में हम उन्हीं के सम्बन्ध में विचार करेंगे।

अन्यत्र हम बता चुके हैं कि शब्द के अर्थ में हेर-फेर करने से उसके रूप में जो हेर-फेर होता है उसे **रूपान्तर** कहते हैं। रूपान्तर के अनुसार शब्द के दो भेद होते हैं—**विकारी** और **अविकारी**। विकारी ऐसे शब्द होते हैं जिनके रूप में कोई विकार होता है। संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण और क्रिया विकारी शब्द हैं। अविकारी शब्दों में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता। क्रिया-विशेषण, सम्बन्धसूचक, समुच्चयबोधक और विस्मयादिबोधक अविकारी शब्द हैं।

जिस शब्द से किसी वस्तु का नाम सूचित होता है उस शब्द को संज्ञा कहते हैं। हिन्दी-व्याकरण में संज्ञा तीन प्रकार की होती है—

संज्ञा का प्रयोग

जातिवाचक, व्यक्तिवाचक, भाववाचक। जातिवाचक संज्ञा से सम्पूर्ण पदार्थों अथवा उनके समूहों का, **व्यक्तिवाचक** संज्ञा से एक ही पदार्थ अथवा पदार्थों के एक ही समूह का और **भाववाचक** संज्ञा से पदार्थ में पाये जानेवाले किसी धर्म का बोध होता है। मनुष्य, घर, नदी, पर्वत आदि जातिवाचक मोहन, काशी, गंगा आदि व्यक्तिवाचक और बहाव, दान, दरिद्रता, क्रोध, धैर्य आदि भाववाचक संज्ञाएँ हैं। इन संज्ञाओं के प्रयोग के सम्बन्ध में नीचे लिखी बातें विशेष रूप से ध्यान देने योग्य हैं;—

क. कुछ जातिवाचक संज्ञाएँ प्रयोग में व्यक्तिवाचक के समान आती हैं, जैसे—पुरी = जगन्नाथ। भारतेन्दु = बाबू हरिश्चन्द्र। देवी = दुर्गा।

ख. कभी-कभी व्यक्तिगत संज्ञा व्यक्ति विशेष के गुण की प्रसिद्धि के कारण जातिवाचक हो जाती है, जैसे—मोहन अपने समय का भीम है। रामदीन की बहू घर की लक्ष्मी है।

ग. कभी-कभी भाववाचक संज्ञा का प्रयोग जातिवाचक संज्ञा के समान होता है, जैसे—यह बहुत सुन्दर पहिरावे हैं।

घ. व्यक्तिवाचक और भाववाचक का बहुवचन नहीं होता, किन्तु जब उनका प्रयोग बहुवचन में होता है तब वे जातिवाचक संज्ञाएँ समझी जाती हैं, जैसे—आपकी मुझ पर अनेक कृपाएँ हैं। आज यहाँ कई भीम जमा हो गये हैं।

च. कभी-कभी क्रिया-विशेषण का प्रयोग जातिवाचक संज्ञा के समान होता है, जैसे—आजकल अमीरों का जमाना है।

छ. कभी-कभी क्रिया-विशेषण भी संज्ञा के समान प्रयुक्त होते हैं, जैसे—यहाँ की भूमि उपजाऊ है। इसका भीतर-बाहर एकसा है।

ज. कभी-कभी विस्मयादिबोधक शब्द संज्ञा के समान प्रयुक्त होते हैं, जैसे—उसके घर में हाय-हाय मची है।

झ. कोई भी शब्द अथवा अक्षर केवल उसी शब्द अथवा अक्षर के अर्थ में संज्ञा के समान प्रयोग में आ सकता है। जैसे—तुम सर्वनाम है। क्ष संयुक्त अक्षर है।

सर्वनाम का प्रयोग

नामों के बदले जो शब्द आता है उसे सर्वनाम कहते हैं। हिन्दी व्याकरण में सर्वनाम छः प्रकार के होते हैं—पुरुषवाचक, निजवाचक, निश्चयवाचक, अनिश्चयवाचक, सम्बन्धवाचक, और प्रश्नवाचक। पुरुषों के नामों के स्थान पर जो शब्द आते हैं उन्हें पुरुषवाचक सर्वनाम कहते हैं। ये तीन प्रकार के होते हैं—उत्तम पुरुष, मध्यम पुरुष और अन्य पुरुष। उत्तम पुरुष वक्ता अथवा लेखक, और मध्यम पुरुष पाठक अथवा श्रोता के लिए आते हैं। अन्य पुरुष वक्ता और श्रोता के अतिरिक्त सब के लिए आते हैं। मैं उत्तम पुरुष, तुम और आप मध्यम पुरुष और वह या वे अन्य

पुरुषवाचक सर्वनाम हैं। आप निजवाचक सर्वनाम है। प्रयोग में निजवाचक सर्वनाम आप पुरुषवाचक आप से भिन्न है। पुरुषवाचक आप एक का वाचक होकर भी नित्य बहुवचन में आता है, निजवाचक आप एक ही रूप से दोनों वचनों में आता है। पुरुषवाचक आप केवल मध्यम और अन्य पुरुष में आता है, परन्तु निजवाचक आप का प्रयोग तीनों पुरुषों में होता है। आदरसूचक आप वाक्य में अकेला आता है, परन्तु निजवाचक आप दूसरे सर्वनामों के सम्बन्ध में आता है।

जिस सर्वनाम से वक्ता के पास अथवा दूर की किसी वस्तु का बोध होता है उसे **निश्चयवाचक सर्वनाम** कहते हैं। यह, वह और सो निश्चयवाचक सर्वनाम हैं। जिस सर्वनाम से किसी विशेष वस्तु का बोध नहीं होता उसे **अनिश्चयवाचक** सर्वनाम कहते हैं। कोई और कुछ अनिश्चयवाचक सर्वनाम हैं। कोई पुरुष के लिए और कुछ पदार्थ के लिए आता है।

जिस सर्वनाम-द्वारा वाक्य में किसी दूसरे सर्वनाम से सम्बन्ध स्थापित होता है उसे **सम्बन्ध वाचक सर्वनाम** कहते हैं। 'जो' सम्बन्ध वाचक सर्वनाम है। इसके साथ सो अथवा यह का नित्य सम्बन्ध रहता है। वास्तव में सो अथवा यह निश्चयवाचक सर्वनाम हैं, परंतु सम्बन्धवाचक सर्वनाम के साथ आने पर इन्हें **नित्य-सम्बन्धी** सर्वनाम कहते हैं; जैसे—जो राम ने किया वह किसी ने नहीं किया।

प्रश्न करने के लिए जिन सर्वनामों का प्रयोग होता है उन्हें **प्रश्न-वाचक सर्वनाम** कहते हैं। कौन और क्या प्रश्नवाचक सर्वनाम हैं। कौन प्राणियों के लिए और विशेषकर मनुष्यों के लिए आता है। क्या क्षुद्र प्राणी, पदार्थ अथवा धर्म के लिए आता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी व्याकरण में कुल ११ सर्वनाम हैं—मैं, तुम, आप, यह, वह, सो, जो, कोई, कुछ, कौन और क्या। इनके प्रयोग के सम्बन्ध में कुछ नियम नीचे दिये जाते हैं:—

१. जब वक्ता अथवा लेखक केवल अपने ही सम्बन्ध में कुछ

विधान करता है तब वह मैं, मुझे, हम हमें आदि सर्वनामों का प्रयोग करता है। हम से बहुत्व का बोध कराने के लिए उसके साथ प्रायः 'लोग' शब्द लगा देते हैं। जैसे—हम लोग आज घर जायँगे

२. तू, तुम तथा आप का प्रयोग वक्ता अथवा लेखक श्रोता अथवा पाठक के लिए करते हैं। तू शब्द से निरादर और हलकापन प्रकट होता है, इसलिए हिन्दी में बहुधा एक व्यक्ति के लिए भी तुम का प्रयोग होता है। देवता, छोटे बच्चों तथा मित्रों के लिए तू का प्रयोग करते हैं। अपने से बड़े के लिए तुम कहने की अपेक्षा आप कहना अधिक शिष्ट समझा जाता है, परन्तु एक ही प्रसंग में कहीं आप और कहीं तुम कहना असङ्गत है।

३. किसी संज्ञा अथवा सर्वनाम के अवधारण और दूसरे व्यक्ति के निराकरण के लिए निजवाचक आप का प्रयोग होता है, जैसे—मैं आप वहीं से आया हूँ। मैं अपने को सुधार रहा हूँ। कभी-कभी आप सर्वसाधारण के अर्थ में भी आता है, जैसे—आप भला तो जग भला।

४. यह का प्रयोग पास की वस्तु, पहले कही हुई संज्ञा, पहले कहे हुए वाक्य तथा पीछे आने वाले वाक्य के लिए होता है, जैसे—यह नया नियम नहीं है। यह आप ऐसे सज्जनों का काम है। उन्होंने यह कहा कि राजा अन्यायी है। ये यह का बहुवचन है।

५. वह का प्रयोग दूर की वस्तुओं तथा पहले कही हुई दो वस्तुओं में पहली के लिए होता है, जैसे—वह मेरी है। इन दोनों पुस्तकों में से वह तुम्हारी है और यह मेरी है।

६. सो बहुधा सम्बन्धवाचक सर्वनाम जो के साथ आता है। इसका अर्थ संज्ञा के वचन के अनुसार यह अथवा वे होता है। आज कल इस सर्वनाम का प्रयोग कम है।

७. कोई का प्रयोग किसी अज्ञात पुरुष के लिए होता है। निषेधवाचक वाक्य में कोई का अर्थ सब होता है, जैसे—बड़ा पद मिलने से कोई बड़ा नहीं होता। कोई का प्रयोग आदर और बहुत्व के लिए

भी होता है। अवधारण के लिए कोई-कोई के बीच में न का प्रयोग किया जाता है, जैसे—कोई न कोई।

८. **कुछ** का रूपान्तर नहीं होता। इसका प्रयोग बहुधा विशेषण के समान होता है। जब इसका प्रयोग समान होता है तब इसका अर्थ किसी पदार्थ अथवा धर्म और अवधारण तथा विभिन्नता के लिए होता है, जैसे—दाल में कुछ मिला हुआ है। इस बालक का नाम कुछ न कुछ अवश्य होगा। मैंने कुछ का कुछ समझ लिया।

९. **कौन** निर्धारण के अर्थ में प्राणी, पदार्थ और धर्म तीनों के लिए आता है। तिरस्कार तथा आश्चर्य में भी कौन का प्रयोग होता है, जैसे बाहर **कौन** खड़ा है? मुझे रोकनेवाले तुम **कौन** हो? अकबर को कौन नहीं जानता!

१०. **क्या** का प्रयोग किसी वस्तु का लक्षण जानने, किसी वस्तु के लिए तिरस्कार अथवा अनादर सूचित करने, आश्चर्य प्रकट करने, धमकी देने, किसी वस्तु की दशा बताने तथा प्रश्न करने में होता है, जैसे—आत्मा **क्या** है? हम पुस्तक लेकर **क्या** करेंगे? वाह! **क्या** बात है? तुम मेरा **क्या** कर सकते हो। हम **क्या** हो गये? **क्या** तुम खा चुके?

११. पुरुषवाचक, निजवाचक और अनिश्चयवाचक सर्वनामों में अवधारण के लिए ही, हीं अथवा ई प्रत्येक जोड़ते हैं, जैसे—मैं ही, तुम्हीं, आपही, वही, यही, वेही, येही इत्यादि।

१२. अनिश्चयवाचक सर्वनामों में भी अव्यय जोड़ा जाता है। जैसे—कोई भी, कुछ भी।

संज्ञा अथवा सर्वनाम के वाच्य पदार्थों की विशेषता बतानेवाले शब्दों को **विशेषण** कहते हैं और जिस नाम अथवा सर्वनाम के अर्थ में विशेषण-द्वारा कोई विशेषता बतायी जाती है उसे

विशेषण का प्रयोग विशेष्य कहते हैं। मीठा फल में मीठा विशेषण और फल विशेष्य है। विशेषण के पाँच भेद होते

हैं—गुणवाचक, संख्या-वाचक, परिमाणवाचक, और सार्वनामिक विशेषण। जिस विशेषण-द्वारा किसी संज्ञा अथवा सर्वनाम के गुण प्रकट हों उसे **गुणवाचक** विशेषण कहते हैं। गुणवाचक विशेषणों की संख्या बहुत अधिक है और उनके पहचानने में भी प्रायः कठिनाई नहीं होती। किसी शब्द का अर्थ स्पष्ट करने के लिए जो शब्द आते हैं उन्हें **समानाधिकरण** विशेषण कहते हैं, जैसे—पतिव्रता सीता। इसमें पतिव्रता समानाधिकरण विशेषण है। **संख्यावाचक** विशेषण से संख्या का बोध होता है। इसके दो भेद हैं—निश्चित संख्यावाचक और अनिश्चित संख्यावाचक। संख्यावाचक से वस्तुओं की निश्चित संख्या का बोध होता है। इसके पाँच भेद हैं—गणनावाचक, क्रम-वाचक, आवृत्तिवाचक, समुदायवाचक और प्रत्येकबोधक। **गणना वाचक** विशेषण के दो भेद हैं। एक दो, तीन इत्यादि **पूर्णाङ्कबोधक** और पाव, आधा, पौन इत्यादि **अपूर्णाङ्कबोधक** विशेषण हैं। **क्रम-वाचक** से किसी वस्तु की क्रमानुसार गणना का बोध होता है, जैसे पहला, दूसरा। **आवृत्तिवाचक** विशेषण से जाना जाता है कि उसके विशेष्य का वाच्य पदार्थ के गुना है, जैसे—दुगुना, चौगुना। **समु-दाय-बोधक** विशेषणों से किसी पूर्णाङ्क संख्या के समुदाय का बोध होता है। जैसे—दोनों, चारों, चालीसों, कोड़ी, गाही, सैकड़ा, दर्जन इत्यादि। **प्रत्येकबोधक** विशेषण से कई वस्तुओं में से प्रत्येक का बोध होता है, जैसे—हर घड़ी, प्रति दिन, प्रत्येक बालक। जिस संख्या-वाचक विशेषण से किसी निश्चित संख्या का बोध नहीं होता उसे अनिश्चित **संख्यावाचक** विशेषण कहते हैं। एक, बहुत, अधिक, सब, सकल, अमुक, कुछ, कई, अनेक, नाना इत्यादि अनिश्चित संख्यावाचक विशेषण हैं। **परिमाणबोधक** विशेषणों से किसी वस्तु की नाप अथवा तौल का बोध होता है। और, सब, सारा, समूचा, बहुत, कुछ, किञ्चित, अल्प, थोड़ा, अधूरा, यथेष्ट इत्यादि परिमाण-बोधक विशेषण हैं। जब विशेषण से किसी ओर संकेत किया जाता

है तब उसे **संकेतवाचक** विशेषण कहते हैं। यह और वह संकेतवाचक विशेषण हैं। पुरुषवाचक और निजवाचक सर्वनामों के अतिरिक्त जिन सर्वनामों का प्रयोग संज्ञा के साथ होता है उन्हें **सार्वनामिक** विशेषण कहते हैं। किसी, जितना, जितनी, जैसा, कितने, कितना, ऐसे इत्यादि सार्वनामिक विशेषण हैं।

वाक्य रचना में विशेष्य के साथ विशेषण का प्रयोग दो प्रकार से होता है—संज्ञा के साथ और क्रिया के साथ। पहले प्रयोग को **विशेष्य-विशेषण** और दूसरे को **विधेय-विशेषण** कहते हैं। विशेष्य विशेषण विशेष्य के साथ होता है और विशेषण विशेष्य के पहले आता है। विधेय-विशेषण क्रिया के साथ आता है। जैसे—**लाल** घोड़ा दौड़ता है। इस वाक्य में **लाल** का प्रयोग घोड़ा के साथ हुआ है। इसलिए विशेष्य-विशेषण प्रयोग है। मोहन की पुस्तक सुन्दर है। इस वाक्य में सुन्दर पुस्तक का विशेषण है; परन्तु क्रिया के पास आया है। इसलिए यहाँ विधेय-विशेषण प्रयोग है।

विशेषण का प्रयोग करते समय निम्नलिखित बातों पर ध्यान रखना चाहिए :—

क. विशेषण के बदले विशेष्य और विशेष्य के बदले विशेषण का प्रयोग अनुचित है। वह **सन्तोष** हो गया, वह वाक्य अशुद्ध है। वह **सन्तुष्ट** हो गया लिखना उचित है। ख. बहुत्व के अर्थ में विशेषण और विशेष्य दोनों में से किसी एक को ही बहुत्वबोधक रखना उचित है। बालगण अथवा बहुसंख्यक बालक के स्थान पर बहुसंख्यक बालक-गण लिखना अशुद्ध है। ग. सा, नामक, सम्बन्धी तथा रूपी इत्यादि शब्दों को संज्ञा के साथ मिलाकर विशेषण बना लेते हैं, जैसे :—फूल सा शरीर, दशरथ नामक राजा, पुस्तक-सम्बन्धी बातें, तृष्णारूपी नदी। घ. विशेषण संज्ञा और सर्वनाम की भाँति भी प्रयुक्त होते हैं, जैसे—आजकल **अमीरों** का जमाना है। यहाँ एक आता है, एक जाता है। च. निश्चयबोधक संज्ञाओं के पहले **लगभग, प्राय:**

इत्यादि शब्दों को लगाने से अथवा दो भिन्न पूर्णाङ्क संख्याओं को एक साथ लिखने से अनिश्चयबोधक विशेषण बनते हैं, जैसे—लगभग दस आदमी, प्रायः पाँच पुरुष, तीन चार दिन में इत्यादि।

क्रिया का प्रयोग

जिस विकारी शब्द के प्रयोग से हम किसी वस्तु के विषय में कुछ विधान करते हैं उसे **क्रिया** कहते हैं। जिन मूल शब्दों में विकार होने से क्रिया बनती है उसे **धातु** कहते हैं। आ, जा इत्यादि धातुएँ हैं। धातु के अन्त में ना जोड़ने से जो शब्द बनता है उसे क्रिया का **साधारण रूप** कहते हैं। क्रिया का साधारण रूप क्रिया नहीं है। विधिकाल के रूप को छोड़ कर क्रिया के साधारण रूप का प्रयोग संज्ञा के समान होता है। कुछ धातुएँ भी भाववाचक संज्ञा के समान प्रयुक्त होती हैं, जैसे—**पढ़ना** एक **गुण** है। हम नाच कभी नहीं देखते।

क्रिया दो प्रकार की होती है—सकर्मक और अकर्मक। जिस क्रिया से सूचित होनेवाले व्यापार का फल कर्त्ता से निकालकर किसी दूसरी वस्तु पर पड़ता है उसे **सकर्मक** क्रिया कहते हैं। पकड़ता हूँ, खाया इत्यादि सकर्मक क्रियाएँ हैं। जिस धातु से सूचित होनेवाला व्यापार और उसका फल कर्त्ता पर ही पड़े उसे **अकर्मक** क्रिया कहते हैं। चला, सोता हूँ, जाता था इत्यादि अकर्मक क्रियाएँ हैं। इन क्रिया-भेदों के सम्बन्ध में निम्नलिखित बातों का स्मरण रखना आवश्यक है:—

क. किसी-किसी क्रिया का अकर्मक अथवा सकर्मक होना प्रयोग पर निर्भर रहता है, जैसे—मेरे हाथ **खुजलाते** हैं। मैं अपना हाथ **खुजला** रहा हूँ। ख. सकर्मक क्रिया का कर्म अवश्य प्रकट करना चाहिए परन्तु जब सकर्मक क्रिया के व्यापार का फल किसी विशेष पदार्थ पर न पड़कर सभी पदार्थों पर पड़ता हो तब उसका कर्म प्रकट करने की आवश्यकता नहीं है, जैसे—लड़के पुस्तक पढ़ते हैं। इस पाठशाला में कितने लड़के पढ़ते हैं। ग. कुछ अकर्मक क्रियाएँ ऐसी हैं जिनका आशय

कभी अकेले कर्त्ता से पूर्णतया प्रकट नहीं होता। अतएव पूर्ण आशय प्रकट करने के लिए ऐसी क्रियाओं के साथ संज्ञा अथवा विशेषण का प्रयोग करते हैं। इन क्रियाओं को अपूर्ण अकर्मक क्रिया कहते हैं और जिस शब्द से वाक्य पूरा किया जाता है उसे उद्देश्यपूर्ति कहते हैं। होना, करना, बनना, दिखाना, निकलना, ठहरना इत्यादि अपूर्ण अकर्मक क्रियाएँ हैं। मोहन चतुर है, इस वाक्य में 'है' क्रिया अपूर्ण है और चतुर उद्देश्यपूर्ति है। घ. अपूर्ण क्रिया से साधारण अर्थ में पूरा आशय भी पाया जाता है, जैसे—मोहन है। सबेरा हुआ। च. सकर्मक क्रिया भी एक प्रकार की अपूर्ण क्रिया है, किन्तु अपूर्ण सकर्मक और अपूर्ण अकर्मक में अन्तर है। अपूर्ण अकर्मक क्रिया की पूर्ति में उसके कर्त्ता की ही स्थिति सूचित होती है। इसके विपरीत सकर्मक क्रिया की पूर्ति से उसके कर्म का बोध होता है। छ. कुछ सकर्मक क्रियाओं के दो कर्म होते हैं। इन दो कर्मों में से एक मुख्य और दूसरा गौण होता है। देना, बतलाना, कहना, सुनना, बनाना इत्यादि द्विकर्मक क्रियाएँ हैं। मैंने मोहन को पाँच पुस्तकें दीं। इस वाक्य में पुस्तकें मुख्य कर्म और मोहन गौण कर्म है। कभी-कभी गौण कर्म लुप्त रहता है, जैसे मैंने पुस्तकें दीं। ज. कुछ सकर्मक क्रियाओं का आशय कर्म रहने पर भी पूरा नहीं होता। इसलिए उनके साथ कोई संज्ञा अथवा विशेषण पूर्ति के रूप में आता है। ऐसी क्रियाएँ अपूर्ण सकर्मक क्रियाएँ कहलाती हैं और उनकी पूर्ति को कर्म-पूर्ति कहते हैं। मैंने तुम्हें योग्य समझा था। इस वाक्य में योग्य कर्म-पूर्ति है। साधारण अर्थ में अपूर्ण सकर्मक क्रियाओं की पूर्ति की आवश्यकता नहीं होती, जैसे—मैं प्रश्न समझता हूँ। करना, बनाना, समझना, पाना, मानना आदि अपूर्ण सकर्मक क्रियाएँ हैं। झ. कुछ सकर्मक और कुछ अकर्मक क्रियाओं के साथ उनके धातु से बनी भाववाचक संज्ञाएँ आती हैं। ऐसी संज्ञाओं को सजातीय कर्म सजातीय क्रिया कहते हैं, जैसे—वह अनोखी चाल चलता है। मैं एक खेल खेलता हूँ। ट. व्युत्पत्ति

के अनुसार धातुओं के दो भेद होते हैं—मूल धातुओं और यौगिक धातु। जो धातु किसी अन्य शब्द से नहीं बनती उसे **मूल-धातु** कहते हैं। करना, बैठना, सोना आदि मूल-धातुएँ हैं। जो धातु किसी दूसरे शब्द से बनायी जाती है उसे **यौगिक धातु** कहते हैं, जैसे—**रंग** से रँगना, चिकना से चिकनाना इत्यादि। यौगिक धातुओं का निर्माण निम्नलिखित तीन प्रकार से होता है—

प्रेरणार्थक धातु - मूल के जिस विकृत रूप से क्रिया के व्यापार में कर्त्ता पर किसी की प्रेरणा समझी जाती है उसे प्रेरणार्थक धातु कहते हैं, जैसे—वह मुझसे पुस्तक **पढ़वाता** है। आना, जाना, सकना, होना, रुचना, पाना आदि धातुओं के अतिरिक्त शेष धातुओं से दो प्रकार की प्रेरणार्थक धातुएँ बनती हैं। इस सम्बन्ध में यह भी स्मरण रखना चाहिए कि प्रत्येक प्रेरणार्थक क्रिया सकर्मक होती है, **जैसे—सुनना** से सुनाना और सुनवाना। **भूलना** से भुलाना और भुलवाना। **बदलना** से बदलना और बदलवाना। **सीना** से सिलना और सिलवाना। **सीखना** से सिखाना अथवा सिखलाना और सिखवाना। कुछ सकर्मक क्रियाओं से केवल दूसरे प्रेरणार्थक रूप ही बनते हैं, **जैसे**—गाना से गवाना परन्तु घबराना, इठलाना आदि प्रेरणार्थक नहीं हैं।

२. **नाम-धातु**—धातु को छोड़कर अन्य शब्दों में प्रत्यय जोड़ने से जो धातुएँ बनायी जाती हैं उन्हें **नाम धातु** कहते हैं। नामधातु संज्ञा अथवा विशेषण के अन्त में ना लगाने से बनती है, **जैसे**—धिक्कार + ना = धिक्कारना। हाथ + ना = हथियाना। अपना + ना = अपनाना। नामधातुओं का अधिक प्रचार नहीं है। इसके स्थान पर प्रायः संयुक्त क्रियाओं का प्रयोग होता है। **जैसे**—दुखाना = दुख देना, अलगाना = अलग करना।

३. **संयुक्त क्रियाएँ**—धातुओं के कुछ विशेष कृदन्तों (क्रिया से बने हुए) के आगे क्रियाएँ जोड़ने से जो क्रियाएँ बनती हैं

उन्हें **संयुक्त क्रियाएँ** कहते हैं। संयुक्त क्रिया में एक मुख्य और दूसरी सहायक क्रिया रहती है। मुख्य क्रिया का कृदन्त जब सहायक क्रिया के काल के रूप से मिलता है तब संयुक्त क्रिया बनती है। **खा गया** संयुक्त क्रिया है। यह क्रिया खाना के कृदन्त **खा** और जाना क्रिया के भूतकालिक रूप **गया** से मिलकर बनी है। इस में खाना मुख्य क्रिया और जाना सहायक क्रिया है। वाक्य में मुख्य और सहायक क्रिया पहचानना वाक्य के अर्थ पर अवलम्बित रहता है। इसलिए संयुक्त क्रिया का निश्चय वाक्य के अर्थ पर ध्यान देकर करना चाहिए। रूप के अनुसार संयुक्त क्रिया आठ प्रकार की होती है:—
(१) **क्रियार्थक संज्ञा के मेल से**—(अ) साधारण रूप में—करना पड़ा, आना चाहिए (ब) विकृत रूप में—जाने लगे, बोलने न दिया, जाने न पावेगा। (२) **वर्तमानकालिक कृदन्त के मेल से, जैसे**—लिखता रहता है, जाता रहेगा, लिखते रहेंगे। (३) **भूतकालिक कृदन्त के मेल से, जैसे**—फटा जाता था, चला गया, देखा करें, भेजना चाहते हैं। (४) **पूर्वकालिक कृदन्त के मेल से,** जैसे—चौंक उठना, बोल उठना, खा बैठना, देख आना, खो जाना, समझा देना, छान लेना, फाड़ डालना, सो रहना, रख छोड़ना, जा सकना। (५) **अपूर्ण क्रियाद्योतक कृदन्त के मेल से, जैसे**—देखते ही बनता है। (६) **पूर्ण क्रियाद्योतक कृदन्त के मेल से, जैसे**—किये जाती है, पढ़े जाओ, मारे डालता है। (७) **संज्ञा और विशेषण के मेल से, जैसे**—भस्म होना, मोल लेना, स्वीकार करना, बात करना। (८) **पुनरुक्त संयुक्त क्रियाएँ, जैसे**—बोलना-चालना, समझना-बूझना, खाना-पीना।

४. जिस क्रिया में विकार पाया जाता है और जिसके द्वारा **विधान** किया जाता है उसे **समापिका क्रिया** कहते हैं, **जैसे**—लड़का हँसता है। इस वाक्य में हँसता है समापिका क्रिया है। ८. **वाच्य** क्रिया के उस रूपान्तर को कहते हैं जिससे जाना जाता है कि वाक्य में

कर्त्ता, कर्म और भाव में से किसके विषय में विधान किया गया है। इस प्रकार वाच्य तीन प्रकार का होता है—कर्तृवाच्य, कर्मवाच्य और भाववाच्य। **कर्तृवाच्य** क्रिया के उस रूपान्तर को कहते हैं जिससे जाना जाता है कि वाक्य का उद्देश्य क्रिया का कर्त्ता है; जैसे—लड़का खेलता है। **कर्मवाच्य** क्रिया के उस रूप को कहते हैं जिससे जाना जाता है कि वाक्य का उद्देश्य क्रिया का कर्म है, जैसे—**पत्र भेजा गया**। **भाववाच्य** क्रिया के उस रूप को कहते हैं जिससे यह जाना जाता है कि वाक्य का उद्देश्य क्रिया अथवा कर्म कोई नहीं है, जैसे—बाहर **बैठा नहीं जाता**। कर्तृवाच्य अकर्मक और सकर्मक दोनों प्रकार की क्रियाओं में, कर्मवाच्य केवल सकर्मक क्रियाओं में और भाववाच्य केवल अकर्मक क्रियाओं में होता है। **८. काल** क्रिया के उस रूपान्तर को कहते हैं जिससे क्रिया के व्यापार का समय तथा उसकी पूर्ण अथवा अपूर्ण अवस्था का बोध होता है। हिन्दी में क्रिया के कालों के मुख्य तीन भेद होते हैं—वर्त्तमान काल, भूत काल और भविष्यत् काल। क्रिया की पूर्णता तथा अपूर्णता के विचार से पहले दो कालों के दो-दो भेद और होते हैं। क्रिया के जिस रूप से केवल काल का बोध होता है और व्यापार का पूर्ण अथवा अपूर्ण अवस्था का बोध नहीं होता उस काल की **सामान्य अवस्था** कहते हैं। सामान्य, अपूर्ण अथवा पूर्ण अवस्था के विचार से कालों के निम्नलिखित भेद होते हैं :—

(१) **सामान्य वर्तमान काल** से जाना जाता है कि व्यापार का आरम्भ बोलने के समय हुआ है, जैसे—हवा चलती है। (२) **अपूर्ण वर्त्तमान** काल से ज्ञात होता है कि वर्तमान काल में व्यापार हो रहा है, जैसे—पक्षी उड़ रहे हैं। (३) **पूर्ण वर्त्तमान** काल से ज्ञात होता है कि व्यापार वर्त्तमान काल में पूर्ण हुआ है, जैसे—मैं खा चुका हूँ। पुस्तक बिक गयी है। (४) **सामान्यभूत** काल से ज्ञात होता है कि व्यापार बोलने अथवा लिखने के पहले हुआ, जैसे—मैं आया। (५) **अपूर्ण भूतकाल** से ज्ञात होता है कि व्यापार गत काल

में पूरा नहीं हुआ, किन्तु जारी रहा; जैसे—गाड़ी जाती थी। मैं सो रहा था। (६) पूर्ण भूतकाल से ज्ञात होता है कि व्यापार को पूर्ण हुए बहुत समय बीत चुका है, जैसे—मैंने खाना खाया था। (७) सामान्य भविष्यत काल की क्रिया से ज्ञात होता है कि व्यापार का आरम्भ होनेवाला है, जैसे—नौकर आयेगा।

८. क्रिया के जिस रूप से विधान करने की रीति का बोध होता है उसे अर्थ कहते हैं। हिन्दी में क्रियाओं के पाँच मुख्य अर्थ होते हैं—निश्चयार्थ, सम्भवनार्थ, सन्देहार्थ, आज्ञार्थ, और संकेतार्थ। क्रिया के जिस रूप से किसी विधान का निश्चय सूचित होता है, उसे निश्चयार्थ कहते हैं। नौकर पत्र नहीं लाया, हम पढ़ते रहेंगे, लड़की गाती है आदि वाक्यों में लाया, पढ़ते रहेंगे और गाती है निश्चयार्थ क्रियाएँ हैं। सम्भवनार्थ क्रिया में अनुमान, इच्छा, कर्तव्य आदि का बोध होता है, जैसे—कदाचित् वह आ जाय। ईश्वर तुम्हारा भला करे। मेरा कर्तव्य है कि मैं तुम्हें पढ़ाऊँ। सन्देहार्थ क्रिया से किसी बात का सन्देह जाना जाता है, जैसे—वह खाता होगा। आज्ञार्थ क्रिया से आज्ञा, उपदेश, निषेध आदि का बोध होता है, जैसे—तुम जाओ। क्या मैं जाऊँ। संकेतार्थ क्रिया से ऐसी दो घटनाओं की असिद्धि सूचित होती है जिसमें कार्य-कारण का सम्बन्ध होता है, जैसे—यदि वह आता तो मैं चला जाता।

९. वाक्य में कर्त्ता अथवा कर्म के पुरुष, लिङ्ग और वचन के अनुसार जो अन्वय अथवा अनन्वय होता है उसे प्रयोग कहते हैं। हिन्दी में तीन प्रयोग होते हैं—कर्त्तरि प्रयोग, कर्मणि प्रयोग और भावे प्रयोग। कर्त्ता के लिङ्ग, वचन और पुरुष के अनुसार जिस क्रिया का रूपान्तर होता है उस क्रिया को कर्त्तरि प्रयोग कहते हैं, जैसे—मैं जाता हूँ। जिस क्रिया के पुरुष, लिङ्ग और वचन कर्म के पुरुष, लिङ्ग और वचन के अनुसार होते हैं उसे कर्मणि प्रयोग कहते हैं, जैसे—मैंने पुस्तक पढ़ी। जिस क्रिया के पुरुष, लिङ्ग और वचन कर्त्ता

अथवा कर्म के अनुसार नहीं होते उसे **भावे प्रयोग** कहते हैं। जैसे—मुझसे बैठा नहीं जाता।

ठ. क्रिया के जिन रूपों का प्रयोग दूसरे शब्दों के समान होता है उन्हें **कृदन्त** कहते हैं। हिन्दी में रूप के अनुसार कृदन्त दो प्रकार के होते हैं—विकारी और अविकारी अथवा अव्यय। विकारी कृदन्तों का प्रयोग बहुधा **संज्ञा** अथवा **विशेषण** के समान होता है। इनके चार भेद होते हैं—क्रियार्थक संज्ञा, कर्तृवाचक संज्ञा, वर्तमानकालिक कृदन्त और भूतकालिक कृदन्त। धातु के अन्त में ना जोड़ने से **क्रियार्थक संज्ञा** बनती है। इसका प्रयोग संज्ञा और विशेषण दोनों के समान होता है। यह केवल पुल्लिङ्ग और एक वचन में आती है। इसकी कारक-रचना सम्बोधन कारक के अतिरिक्त शेष कारकों में आकारान्त पुल्लिङ्ग संज्ञा के समान होती है, **जैसे**—जाने को, खाने में। जब क्रियार्थक संज्ञा विशेषण के समान आती है तब उसका रूप उसकी पूर्ति अथवा उसके कर्म के लिङ्ग-वचन के अनुसार बदलता है, **जैसे**—तुम्हें परीक्षा देनी होगी। क्रियार्थक संज्ञा के विकृत रूप के अन्त में वाला लगाने से कर्तृवाचक संज्ञा बनती हैं, **जैसे**—आनेवाला, खानेवाला इत्यादि। इसका प्रयोग कभी-कभी भविष्य-कालिक कृदन्त विशेषण के समान होता है, **जैसे**—मेरा भाई आनेवाला है। कर्तृवाचक संज्ञा का रूपान्तर संज्ञा और विशेषण के समान होता है। धातु के अन्त में ता लगाने से **वर्तमानकालिक कृदन्त** बनता है, **जैसे**—चलता, बनता। इसका प्रयोग विशेषण के समान होता है और इसका रूप आकारान्त विशेषण के समान बदलता है, जैसे—सोता बालक। कभी-कभी इसका प्रयोग संज्ञा के समान होता है और तब इसकी रचना आकारान्त पुल्लिङ्ग संज्ञा के समान होती है, **जैसे**—मरता क्या न करता। धातु के अन्त में आ जोड़ने से भूतकालिक कृदन्त बनता है, **जैसे**—**बोलना** से बोला, **बोना** से बोया, **छूना** से छुआ। भूतकालिक कृदन्त का प्रयोग बहुधा विशेषण और कभी-कभी संज्ञा के समान

होता है, जैसे—मरा आदमी में मरा विशेषण और मरे को मारना में मरे संज्ञा है। सकर्मक क्रिया से बना हुआ भूतकालिक कृदन्त विशेषण कर्मवाच्य होता है, जैसे—किया हुआ काम। अविकारी कृदन्त का उल्लेख अव्यय के अन्तर्गत किया जायगा।

ङ. क्रिया-प्रयोग के सम्बन्ध में नीचे लिखे नियम महत्वपूर्ण हैं :—

(१) वाक्य-रचना में कभी-कभी भूतकाल के लिए वर्तमान काल का प्रयोग किया जाता है। इसे ऐतिहासिक वर्तमान कहते हैं, जैसे—सूरदास कहते हैं। (२) धमकी आदि के अर्थ में भविष्यत् काल के लिए भूतकाल का प्रयोग होता है, जैसे—यदि तुमने यह बात कह दी तो अच्छा न होगा। (३) जब वक्ता तनिक क्रोध अथवा उदासी से कुछ कहता है तब क्रिया का लोप हो जाता है, जैसे—आपको इससे क्या मतलब। (४) जब सामान्य वर्तमान काल की क्रिया के आगे नहीं आता है तब सहायक क्रिया का लोप हो जाता है, जैसे—मैं वहाँ नहीं जाता। अब तक हमने विकारी शब्दों का प्रयोग किया है। अविकारी

क्रिया-विशेषण का प्रयोग

शब्द को अव्यय कहते हैं। जिस अव्यय से क्रिया की कोई विशेषता जानी जाती है उसे क्रियाविशेषण कहते हैं। क्रियाविशेषण विशेषण और क्रियाविशेषण की भी विशेषता प्रकट करते हैं। इनका वर्गीकरण तीन आधारों पर होता है—प्रयोग, रूप और अर्थ।

[१] प्रयोग के अनुसार क्रिया विशेषण तीन प्रकार के होते हैं:—साधारण, संयोजक और अनुबद्ध। जिनका प्रयोग वाक्य में स्वतंत्र होता है उन्हें साधारण क्रियाविशेषण कहते हैं, जैसे—हाय! अब मैं कहाँ जाऊँ। जिनका सम्बन्ध किसी उपवाक्य के साथ रहता है उन्हें संयोजक क्रियाविशेषण कहते हैं, जैसे—जब तुम ही नहीं तो मैं रहकर क्या करूँगा। जब, जहाँ, जैसे, ज्यों, जितना सम्बन्धवाचक सर्वनाम जो से बनते हैं और उसी अनुसार दो उपवाक्यों को मिलाते हैं। जिनका प्रयोग अवधारण के लिए किसी भी शब्द के साथ हो सकता है

उन्हें **अनुबद्ध** क्रियाविशेषण कहते हैं, **जैसे**—मैंने वह आम देखा तक नहीं। उसने मुझे धोखा ही दिया है।

[२] रूप के अनुसार क्रियाविशेषण तीन प्रकार के होते हैं—मूल, यौगिक और स्थानीय। जो क्रियाविशेषण किसी दूसरे शब्द से नहीं बनते उन्हें **मूल** क्रियाविशेषण कहते हैं, **जैसे**—ठीक, अचानक, दूर, फिर, नहीं, मत इत्यादि। जो क्रियाविशेषण दूसरे शब्दों में प्रत्यय अथवा शब्द जोड़ने से बनते हैं उन्हें **यौगिक** क्रियाविशेषण कहते हैं। नीचे लिखे यौगिक क्रियाविशेषण हैं :—

क. **संज्ञा से**—सबेरे, क्रमशः, आगे, प्रेमपूर्वक, दिनभर, राततक इत्यादि। ख. **सर्वनाम से**—यहाँ, वहाँ, अब, तब, इसलिए, तिसपर इत्यादि। ग. **विशेषण से**—धीरे, चुपके, इतने में, पहले, दूसरे ऐसे, वैसे इत्यादि। घ. **धातु से**—आते, करते, देखते हुए, चाहे, मानो, बैठे हुए इत्यादि। च. **अव्यय से**—यहाँ तक, कब का, ऊपर को, झट से, वहाँ पर इत्यादि। छ. क्रियाविशेषणों के साथ निश्चय जानने के लिए बहुधा ई अथवा ही लगाते हैं। जैसे अभी, यहीं, आते ही, पहले ही इत्यादि।

सयुक्त क्रियाविशेषण नीचे-लिखे शब्दों के मेल से बनते हैं :—

संज्ञाओं की द्विरुक्ति से—घर-घर, हाथों हाथ, घड़ी-घड़ी इत्यादि। (२) **दो भिन्न-भिन्न संज्ञाओं से**—रात-दिन, देश-विदेश, घर-बाहर इत्यादि। (३) **विशेषण की द्विरुक्ति से**—ठीक-ठीक साफ़-साफ़, एकाएक इत्यादि। (४) **क्रियाविशेषण की द्विरुक्ति**—धीरे-धीरे, जहाँ-जहाँ, बकते-बकते, बैठे-बैठे इत्यादि। (५) **दो भिन्न-भिन्न क्रियाविशेषणों के मेल से**—जहाँ-तहाँ, ज्यों-त्यों, जब-तब, कल-परसों इत्यादि। (६) **दो समान अथवा असमान क्रियाविशेषणों के बीच में न रखने से**—कुछ-न-कुछ, कभी-न-कभी इत्यादि। (७) **अनुकरणवाचक शब्दों की द्विरुक्ति से** तड़तड़, गटगट, सटासट, धड़ाधड़ इत्यादि। (८) **संज्ञा और विशेषण के मेल से**—एक साथ,

हर-घड़ी, लगातार इत्यादि। (९) अव्यय तथा अन्य शब्दों के मेल से—प्रतिदिन, यथाक्रम, अनजाने इत्यादि (१०) पूर्वकालिक कृदन्त [करके] और विशेषण के मेल से—एक-एक करके, मुख्य करके इत्यादि।

दूसरे शब्द, जो बिना किसी रूपान्तर के क्रियाविशेषण के समान प्रयोग में आते हैं, स्थानीय क्रियाविशेषण कहलाते हैं, जैसे—तुम मेरी मदद पत्थर करोगे। मेरे लिए यह काम कौन कठिन है ? वह मुझे क्या मारेगा। हमने इतना पुकारा। तुम दौड़कर चलते हो।

[३] अर्थ के अनुसार क्रियाविशेषण चार प्रकार के होते हैं :—स्थानवाचक, कालवाचक, परिमाणवाचक और रीतिवाचक।

क- स्थानवाचक क्रियाविशेषण दो प्रकार के होते हैं—स्थितिवाचक और दिशावाचक। यहाँ, वहाँ, जहाँ, कहाँ, तहाँ, आगे पीछे, ऊपर, नीचे, तले, सामने, साथ, बाहर, भीतर, पास, सर्वत्र, अन्यत्र आदि स्थितिवाचक और इधर, उधर, किधर, जिधर, तिधर, दूर, परे, दाहिने, बाएँ, आरपार, इस ओर इत्यादि दिशावाचकक्रियाविशेषण हैं। ख. कालवाचक क्रिया-विशेषण तीन प्रकार के होते हैं—समयवाचक, अवधिवाचक और पौन पुन्यवाचक। आज, कल, परसों, फिर, तभी, तुरन्त, पहले इतने में इत्यादि समयवाचक, आज, कल, नित्य, सदा, अभी, दिनभर, कबका, इत्यादि अवधिवाचक और बार-बार, प्रतिदिन, कईबार, इत्यादि, पौन पुन्य वाचक क्रियाविशेषण हैं। ग. परिमाणवाचक क्रियाविशेषणों से अनिश्चित संख्या अथवा परमाण का बोध होता है। इसके पांच भेद होते हैं। बहुत, अधिक, भारी, निरा, पूर्णतया, अतिशय, आदि अधिकताबोधक; कुछ, लगभग, थोड़ा, अनुमान, प्रायः, किञ्चित् आदि न्यूनताबोधक; केवल, बस, यथेष्ट, चाहे, ठीक, अस्तु पर्याप्तवाचक; अधिक, इतना, उतना, जितना, बढ़कर आदि तुलनावाचक और थोड़ा-थोड़ा, बारी-बारी से, यथाक्रम आदि क्रमबोधक क्रियाविशेषण

हैं। घ. रीतिवाचक क्रियाविशेषण असंख्य हैं। ये निम्नलिखित अर्थों में आते हैं:—(१) **प्रकार के अर्थ में**—ऐसे, वैसे, कैसे, मानों, यथा-तथा, अचानक, पैदल, यथाशक्ति, रीत्यनुसार इत्यादि (२) **निश्चय के अर्थ में**—अवश्य, सही, निःसन्देह, यथार्थ में, वस्तुतः इत्यादि। (३) **अनिश्चय के अर्थ में**—कदाचित्, यथासम्भव। (४) **स्वीकार के अर्थ में**—हां, जी, सच, ठीक। (५) **कारण के अर्थ में**—इस-लिए, क्यों, अतः, (६) **निषेध के अर्थ में**—न, नहीं, मत। (७) **अवधारण के अर्थ में**—तो, ही, मात्र, भर, तक, सा।

कुछ क्रियाविशेषणों के विशेष अर्थों और प्रयोगों के उदाहरण नीचे दिये जाते हैं :—

(१) **परसों और** कल का प्रयोग भूत और भविष्य दोनों कालों में होता है, जैसे—वह परसों आया। वह परसों आयेगा। वह कल आया ; वह कल आयेगा। (२) **कभी** का प्रयोग चार अवसरों पर होता है। (अ) **अनिश्चित काल में**, जैसे—हम से कभी कहना। (आ) **निषेधवाचक शब्दों के साथ**, जैसे—वहाँ कभी मत जाना। (इ) **क्रमगतकाल में**, जैसे—कभी तुम पढ़ो और कभी वह पढ़े। (ई) **आश्चर्य अथवा तिरस्कार में**, जैसे—तुमने कभी काशी देखी है ? (३) **कहीं का प्रयोग अनिश्चित** स्थान के अतिरिक्त अत्यन्त और कदाचित् के अर्थ में भी होता है, जैसे—कहीं बैठ जाओ। वह मुझसे कहीं सुखी है। कहीं तुमने ही यह बात न खोल दी हो। कहीं विरोध और आश्चर्यसूचक भी होता है, जैसे—कहीं धूप कहीं छाया। पत्थर कहीं पसीजता है। (४) **इसलिए** का प्रयोग क्रियाविशेषण और समु-च्चयबोधक की तरह होता है, जैसे—वह इसलिए पढ़ता है कि उसके माता पिता उससे प्रसन्न रहें। मैं जाता हूँ, इसलिए तुम्हें यहां रहना चाहिए। (५) न, नहीं और मत के प्रयोग में अन्तर है। न स्वतन्त्र शब्द है। इसलिए वह शब्द और प्रत्यय के बीच में प्रयुक्त नहीं हो सकता। जब दो अथवा अधिक में किसी का निषेध जताना

होता है तब और विधि में न का प्रयोग होता है, जैसे—न धर्म, न विद्या, न धन कुछ काम आया। यह पुस्तक किसी के हाथ में न देना। जिन क्रियाओं के साथ न और नहीं दोनों आ सकते हैं वहाँ न से केवल निषेध और नहीं से निषेध का निश्चय सूचित होता है, जैसे—वह न आया। वह नहीं आया। न प्रश्नवाचक अव्यय भी है, जैसे—सब काम करेगा न ? न निश्चय के अर्थ में आता है, जैसे—मैं तुम्हें अभी पढ़ाता हूँ न। न-न समुच्चयबोधक होते हैं, जैसे—न उन्हें नींद आती थी, न भूख प्यास लगती थी। सामान्य वर्तमान, तात्कालिक वर्तमान आसन्नभूत तथा किसी प्रश्न के उत्तर में नहीं का प्रयोग होता है, जैसे—मैं नहीं जाता। वह नहीं आरहा है। इस वर्ष मैंने परीक्षा नहीं दी है। क्या तुम यहाँ आये थे ? नहीं। मत केवल विधि में लाते हैं जैसे—वहाँ मत जाना। (६) बहुधा और प्रायः का प्रयोग सर्वव्यापक विधानों को परिमित करने के लिए होता है। बहुधा से जितनी सीमा बँधती है उसकी अपेक्षा प्रायः से कम होती है। जैसे—वह बहुधा अपने शत्रुओं से चारों ओर घिरा रहता था। वह प्रायः मेरे यहाँ आता है। (७) तो—से निश्चय और आग्रह सूचित होता है। यह प्रत्येक शब्द के साथ आ सकता है। इसके साथ नहीं और भी आते हैं और ये संयुक्त शब्द समुच्चय-बोधक होते हैं जैसे—तुम वहाँ बैठे तो थे। यदि तुम न आये तो मैं आऊँगा। मैं न पढ़ाऊँ तो भी तुम्हें पढ़ना चाहिए। तो क्या तुम न आओगे (८) मात्र संज्ञा और विशेषण के साथ ही के अर्थ में आता है। कभी-कभी इसका अर्थ सब भी होता है, जैसे—एक लड़का मात्र बची है। हिन्दी भाषी मात्र उनके चिरकृतज्ञ रहेंगे। (९) भर—परिमाणवाचक संज्ञाओं के साथ आकर विशेषण होता है। कभी-कभी यह केवल और सब के अर्थ में भी आता है, जैसे—मुट्ठी भर अनाज। मेरे पास आज भर के लिए चावल है। राज्य भर में यह प्रसिद्ध है। (१०) तक—अधिक, सीमा तथा ही के अर्थ

में आता है जैसे—इस पुस्तक का अनुवाद अँगरेजी तक में हो गया है। मैं यहाँ तक पढ़ चुका हूँ। मैंने उसे देखा तक नहीं है। (११) **सा**—यह शब्द कभी प्रत्यय, कभी सम्बन्धसूचक और कभी क्रिया विशेषण होकर आता है। यह किसी भी विकारी शब्द के साथ लगाया जा सकता है, जैसे—फूल-**सा** शरीर, कौन-**सा** काम। गुणवाचक विशेषण के साथ यह हीनतासूचक है, जैसे—काला-सा कपड़ा। परिमाणवाचक विशेषण के साथ यह अवधारण-बोधक होता है, जैसे—बहुत **सा** धन। इसका रूप विशेष्य के लिङ्ग वचन के अनुसार **सा, से, सी** होता है। कभी-कभी संज्ञा के साथ यह हीनतासूचक होता है जैसे—एक ज्योति-**सी** दिखायी देती है। [१२] ओर, तरफ़, तरह, मार्फत, नाईं इत्यादि के पहले **की** का प्रयोग होता है, जैसे—मोहन **की** ओर, उस **की** तरह इत्यादि।

सम्बन्धवाचक अव्यय

जो अव्यय किसी संज्ञा अथवा सर्वनाम का सम्बन्ध वाक्य के किसी दूसरे शब्द के साथ मिलाता है उसे **सम्बन्धवाचक अव्यय** कहते हैं, जैसे—पुस्तक मेज **पर** है। इस वाक्य में **पर** शब्द से मेज और पुस्तक का सम्बन्ध सूचित होता है। इसलिए यह सम्बन्धसूचक अव्यय है। प्रयोग के अनुसार सम्बन्धसूचक दो प्रकार के होते हैं—सम्बद्ध और अनुबद्ध। **सम्बद्धसूचक** संज्ञाओं की विभक्तियों के आगे आते हैं। जैसे—धन के **बिना**, नर की **नाईं**, पूजा **से** पहले। अनुबद्ध सम्बन्धवाचक संज्ञा के विकृत रूपों के साथ आते हैं, जैसे—पुत्रों समेत, किनारे तक इत्यादि। व्युत्पत्ति के अनुसार, सम्बन्धसूचक दो प्रकार के होते हैं—मूल और यौगिक। बिना, पर्यन्त, नाईं, पूर्वक आदि **मूल सम्बन्धसूचक** अव्यय हैं। यौगिक सम्बन्धसूचक अन्य शब्द-भेदों से मिलकर बनते हैं, जैसे—**संज्ञा से**—वास्ते ओर, अपेक्षा, नाम, विषय, इत्यादि। **विशेषण से**—तुल्य, समान, उलटा, सरीखा, योग्य, जैसा इत्यादि। **क्रिया विशेषण से**—ऊपर, भीतर, यहाँ, बाहर, पास, पीछे इत्यादि। **क्रिया से**—लिए

मारे, करके, जान इत्यादि। इनमें प्रयोग के सम्बन्ध में निम्नाङ्कित नियम महत्त्वपूर्ण हैं :—

१. सम्बद्ध सम्बन्धसूचक अव्ययों के पहले बहुधा के विभक्ति आती हैं, जैसे—धन के लिए, स्वामी के विरुद्ध। (२) आगे, पीछे, तले, बिना आदि कई एक सम्बन्धसूचक कभी-कभी बिना विभक्ति के आते हैं, जैसे—चिराग तले, पाठ पीछे, कुछ दिन आगे, मोहन बिना इत्यादि। (३) सा, ऐसा और जैसा के पहले जब विभक्ति नहीं आती तब उनके अर्थ में बहुधा अन्तर पड़ जाता है, जैसे—मोहन-सा पुत्र ; मोहन के से पुत्र। पहले वाक्यांश में से मोहन और पुत्र का एकार्थक सूचित करता है, किन्तु दूसरे वाक्यांश में उससे दोनों का भिन्नार्थ सूचित होता है। (४) सदृश, समान, तुल्य, योग्य, सरीखे शब्द विशेषण हैं और सम्बन्धसूचक के समान आकर भी संज्ञा की विशेषता बतलाते हैं, जैसे—यह पुस्तक उस पुस्तक के तुल्य है। इस समय मेरी दशा हिंसक पशुओं के सदृश हो रही है। मैं तुम्हें पुत्र के समान मानता हूँ। यह हीरा मुकुट के योग्य है। सरीखा शब्द के पहले बहुधा विभक्ति नहीं आती। इससे लिंग और वचन विशेष्य के अनुसार बदलते हैं : जैसे—मुझ सरीखे लोग। यह सदृश का पर्यायवाची है और पूर्व शब्द के साथ मिलकर विशेषण का काम देता है। ऐसा जैसा, सा आदि सरीखे के पर्यायवाची हैं। (५) अपेक्षा—यह संस्कृत संज्ञा है और इसके पूर्व की आता है। जब लेखक को किसी वस्तु की हीनता बतानी होती है तब उसके वाचक शब्द के आगे अपेक्षा लगाते हैं, जैसे—इस वर्ष गेहूँ की अपेक्षा धान बहुत उत्पन्न हुआ है। (६) कर, करके सम्बन्धसूचक बहुधा द्वारा, समान तथा नामक के अर्थ में आते हैं, जैसे—पण्डितजी शास्त्री करके प्रसिद्ध हैं। बछरा करि हम जान्यो याही।

जो अव्यय शब्दों, शब्द-समूहों और वाक्यों को एक दूसरे के साथ मिलाते हैं उन्हें समुच्चयबोधक अव्यय कहते हैं। शब्दों का जोड़

समुच्चयबोधक अव्यय शब्दों से, वाक्यांशों से और वाक्यों का वाक्यों से होता है। समुच्चयबोधक अव्यय दो प्रकार के होते हैं—समानाधिकरण और व्याधिकरण। जिन शब्दों द्वारा मुख्य वाक्य जोड़े जाते हैं उन्हें **समानाधिकरण समुच्चयबोधक अव्यय** कहते हैं। इनके चार उप-भेद हैं—संयोजक, विभाजक, विरोध दर्शक, और परिणाम-दर्शक। **और**, **व**, **एवं**, **तथा और भी** **संयोजक अव्यय**; **या**, **वा**, **अथवा**, **किंवा**, **कि**, **या-या**, **चाहे-चाहे**, **न-न**, **न कि**, **नहीं तो** **विभाजक अव्यय**; **पर**, **परन्तु**, **किन्तु**, **लेकिन**, **मगर**, **वरन्**, **बल्कि**, **प्रत्युत** **विरोधदर्शक अव्यय** और **इसलिए**, **सो**, **अतः** **अतएव**, **फलतः** **परिणामदर्शक अव्यय** हैं। इन अव्ययों के प्रयोग के सम्बन्ध में नीचे लिखे नियम महत्वपूर्ण हैं:—

(१) **और**, **व**, **तथा**, **एवं** साधारण अर्थ में पर्यायवाची हैं। व उर्दू भाषा का शब्द है। शिष्ट भाषा में इसका प्रयोग कम होता है। (२) **भी** का प्रयोग पूर्वकथित वाक्य से कुछ सादृश्य मिलाने के लिए होता है, जैसे—मैं हो नहीं, तुम **भी** तो ऐसे ही हो। कभी-कभी वह दूसरे वाक्य के बिना, केवल पहली कथा से सम्बन्ध मिलाता है, जैसे—अब मैं **भी** वहाँ जाऊँगा। दो वाक्यों अथवा शब्दों के बीच में **और** रहने पर इससे केवल अवधारण का बोध होता है, जैसे—मैंने उसे बताया और पूछा भी। कहीं-कहीं **भी** अवधारणबोधक प्रत्यय **ही** के समान अर्थ देता, जैसे—एक **भी** आदमी नहीं आया। कभी-कभी **भी** से आश्चर्य अथवा सङ्केत सूचित होता है, जैसे—पत्थर **भी** कहीं पसीजता है! कभी इससे आग्रह का भी बोध होता है, जैसे—खाओ भी। (३) **वा**, **या**, **अथवा**, **किंवा** शब्द साधारण अर्थ में पर्यायवाची हैं। **या** उर्दू भाषा का, शेष तीन संस्कृत भाषा के समुच्चयबोधक हैं। **वा अथवा** का एक-साथ प्रयोग द्विरुक्ति के निवारण के लिए होता है, जैसे—किसी पुस्तक की अथवा किसी ग्रंथकार या

प्रकाशक की एक से अधिक प्रति नहीं ली गयी। लेकिन कभी-कभी भूल से या की जगह और तथा और के स्थान पर या लिख देते हैं। इनसे वाक्य के अर्थ में अन्तर पड़ जाता है। किंवा का प्रयोग बहुधा कविता में होता है। (४) कि—विभाजक अव्यय होने पर कि का प्रयोग बहुधा कविता में होता है, जैसे—रखिहहिं भवन कि लेइहिं साथा। (५) या-या शब्द जोड़े से आते हैं, जैसे—या तो मैं विजयी होकर आऊँगा या समरक्षेत्र में मर जाऊँगा। (६) क्या-क्या शब्द जब जोड़े से आते हैं तब समुच्चयबोधक होते हैं, जैसे—क्या स्त्री क्या पुरुष इस काम में सब को हाथ बटाना चाहिए। (७) न-न शब्द क्रिया विशेषण हैं, किन्तु इस प्रकार समुच्चयबोधक हो जाते हैं। इनसे दो अथवा अधिक शब्दों में से प्रत्येक का त्याग सूचित होता है, जैसे—न मुझे नींद आती है न भूख-प्यास लगती है। कभी-कभी इनमें आवश्यकता का बोध होता है, जैसे—न मैं अपने काम से छुट्टी पाऊँगा। न कहीं जाऊँगा। न नौ मन तेल होगा न राधा नाचेगी। कभी-कभी इनसे कार्य कारण सूचित होता है। जैसे—न तुम आते न यह काम होता। (८) न कि—यह न और कि से मिलकर बना है। इससे दो बातों में से दूसरी का निषेध सूचित होता है, जैसे—इसका अर्थ यह है न कि यह। (९) नहीं तो—यह संयुक्त क्रियाविशेषण है और समुच्चयबोधक के समान प्रयुक्त होता है, जैसे—खाना खाते रहो नहीं तो कमजोर हो जाओगे। (१०) पर, परन्तु लेकिन, मगर, किन्तु, वरन्, साधारण अर्थ में पर्यायवाची हैं। पर ठेठ हिन्दी शब्द है। मगर उर्दू शब्द है, शेष संस्कृत शब्द हैं। वरन् बहुधा एक बात को कुछ दबाकर दूसरी को प्रधानता देने के लिए आता है। इसके पर्यायवाची बरञ्च और बल्कि हैं। किन्तु और वरन् का प्रयोग बहुधा निषेधवाचक वाक्यों के पश्चात् होता है, जैसे—प्राचीन सभ्यता हमारी परम्परा के अनुकूल है, किन्तु इससे प्रतिदिन हमारी क्षीणता होती जाती है। उसने

आध्यात्मिक उन्नति मुक्ति के उद्देश्य से नहीं वरन् इस कामना से की थी कि भौतिक सुख भोगने के लिए वह इस शरीर से अमर हो जाय। (११) **इसलिए, अतः, सो, अतएव** साधारण अर्थ में पर्यायवाची हैं। इन अव्ययों से यह जाना जाता है कि इनके आगे के वाक्य का अर्थ पिछले वाक्य के अर्थ का फल है, **जैसे**—मैं काम समाप्त कर चुका था, **इसलिए** मैं घर चला आया। इसलिए के स्थान पर कभी कभी **इससे, इस वास्ते,** और **इस कारण** भी आता है। सो का अर्थ कभी-कभी **तब** और **परन्तु** भी होता है।

जिन अव्ययों के योग से मुख्य वाक्य में एक अथवा अधिक वाक्य जोड़े जाते हैं उन्हें व्याधिकरण समुच्चयबोधक अव्यय कहते हैं। इनके चार भेद हैं—कारणवाचक, उद्देश्यवाचक, संकेतवाचक और स्वरूपवाचक। क्योंकि, जोकि, इसलिए कि **कारणवाचक;** कि, जो, ताकि, इसलिए कि **उद्देश्यवाचक;** जो तो, यद्यपि-तथापि, चाहे-परन्तु, कि **संकेतवाचक** और कि, जो अर्थात्, याने, मानो स्वरूपवाचक अव्यय हैं। इनके प्रयोग के नीचे-लिखे नियम हैं :—

(१) कारणवाचक अव्ययों से आरम्भ होनेवाला वाक्य पूर्ववाक्य का समर्थन करते हैं, **जैसे**—मैंने इस पुस्तक का अनुवाद किया है, क्योंकि मैं अँगरेजी जानता हूँ। **इसलिए** और कि वाक्य में कभी एक साथ और कभी **इसलिए** और कि पृथक-पृथक प्रयुक्त होते हैं, **जैसे**—मैं उस कुएँ का पानी पीता हूँ, **इसलिए** कि वह पत्थरों का बना हुआ है। मैं उस पुस्तक को इसलिए पढ़ता हूँ कि उसके अक्षर मोटे हैं। जोकि का प्रयोग कानूनी भाषा में होता है। (२) **कि, जो, ताकि,इसलिए कि,** प्रायः समानार्थी अव्यय हैं। इन अव्ययों के पश्चात् आनेवाला वाक्य दूसरे वाक्य का उद्देश्य अथवा हेतु सूचित करता है। उद्देश्यवाचक वाक्य बहुधा दूसरे वाक्य के पश्चात् आता है, पर कभी-कभी वह उसके पूर्व भी आता है, **जैसे**—हम तुम्हें काशी भेजना चाहते हैं, **ताकि** तुम वहाँ हिन्दू-विश्वविद्यालय में पढ़

सको। जो के बदले कभी-कभी **जिससे** अथवा **जिसमें** आता है। (३) **जो-तो, यदि-तो, यद्यपि-तथापि, चाहे, परन्तु, कि** संकेत-वाचक हैं। इनमें से कि के अतिरिक्त शेष शब्द जोड़े से आते हैं। इन शब्दों द्वारा जुड़नेवाला वाक्यों में से एक में **जो, यद्यपि** अथवा **चाहे** आता है और दूसरे वाक्य में क्रमशः **तो, तथापि** अथवा **परन्तु** आता है। जिस वाक्य में **जो, यदि, यद्यपि,** अथवा **चाहे** का प्रयोग होता है उसे पूर्व वाक्य और दूसरे को **उत्तर वाक्य** कहते हैं। इन अव्ययों को सङ्केतवाचक इसलिए कहते हैं कि पूर्व वाक्य में जिस घटना का वर्णन रहता है उससे उत्तर वाक्य की घटना का सङ्केत पाया जाता है। जब पूर्व वाक्य में कही हुई शर्त पर उत्तर वाक्य की घटना निर्भर रहती है तब **जो-तो,** अथवा **यदि, तो** का प्रयोग होता है। **जो** साधारण भाषा में और **यदि** शिष्ट भाषा में प्रयुक्त होता है। **यदि** के स्थान पर कभी-कभी **कदाचित्** आता है। **यद्यपि-तथापि** जिन वाक्यों में आते हैं उनके निश्चयात्मक विधानों में परस्पर विरोध पाया जाता है जैसे—यद्यपि मैं निर्बल हूँ तथापि मैं तुमसे अधिक काम कर सकता हूँ। जब यद्यपि के अर्थ में कुछ सन्देह रहता है तब उसके स्थान पर चाहे आता है। चाहे बहुधा सम्बन्धवाचक सर्वनाम, विशेषण और क्रियाविशेषण के साथ आकर उनकी विशेषता बतलाता है और प्रयोगानुसार क्रिया-विशेषण होता है **जैसे**—यहाँ चाहे जितना पढ़ो परन्तु वहाँ एक भी याद नहीं रहेगा। जब कि सङ्केतवाचक होता है तब उसका अर्थ **ज्योंही** होता है। कभी कभी उसका समानार्थी वाक्यांश इतने में आता है, **जैसे**—मैं जानेवाला ही था कि तुम आगये। मैं कहने ही जा रहा था कि इतने में तुमने कह दिया। (४) कि, जो, अर्थात्, याने, मानो स्वरूपवाचक हैं। कि और जो समानार्थी हैं। इनसे किसी बात की प्रस्तावना सूचित होती है, **जैसे**—मैंने कहा कि यह संसार असार है। जो अब कम प्रयुक्त होता है। कभी-कभी मुख्य वाक्य में **ऐसा, इतना, यहाँ तक,** अथवा, कोई विशेषण आता है और

उसका स्वरूप स्पष्ट करने के लिए कि के पश्चात् आश्रित वाक्य आता है जैसे—कल इतना पानी बरसा कि छत टपकने लगी। कभी-कभी यहाँ तक और कि साथ-साथ आते हैं, जैसे—मैं बराबर चढ़ता चला गया, यहाँ तक कि मैं थक गया। अर्थात्, याने, मानो, समानार्थी हैं। ये किसी शब्द अथवा वाक्य का अर्थ स्पष्ट करने में प्रयुक्त होते हैं। इनमें परस्पर मेल है अर्थात् ये एक दूसरे से पृथक् नहीं हैं।

विस्मयादिबोधक अव्यय

जिन अव्यायों का सम्बन्ध वाक्य से नहीं रहता और जो वक्ता के मन के हर्ष-शोकादि भाव सूचित करते हैं उन्हें विस्मयादिबोधक अव्यय कहते हैं। व्याकरण में इन शब्दों का विशेष महत्व नहीं है। इनका प्रयोग वहीं होता है जहाँ वाक्य के अर्थ की अपेक्षा अधिक तीव्र भाव सूचित करने की आवश्यकता होती है। भिन्न-भिन्न मनोविकार सूचित करने के लिए भिन्न-भिन्न विस्मयादिबोधक प्रयोग में आते हैं:—

(१) हर्षबोधक— आहा! वाह! धन्य धन्य! शाबाश! (२) शोकबोधक—आह! हाय! हा राम! अरे बाप रे! (३) आश्चर्य-बोधक—हैं! ओहो! क्या! (४) अनुमोदनबोधक—ठीक! अच्छा! हां हां! (५) तिरस्कारबोधक—छिः! हट! धिक! चुप! (६) स्वीकारबोधक—हां! अच्छा! ठीक! (७) सम्बोधनबोधक—हे! अरे! अजी! हो! क्यों जी!

कृदन्त अव्यय

हम अन्यत्र यह बता चुके हैं कि अविकारी कृदन्त अव्यय होते हैं और बहुधा क्रियाविशेषण तथा कभी-कभी सम्बन्धसूचक के समान प्रयुक्त होते हैं। ये चार प्रकार के होते हैं—पूर्व-कालिक कृदन्त, तात्कालिक कृदन्त, अपूर्ण क्रिया-द्योतक और पूर्ण क्रियाद्योतक।

[१] पूर्वकालिक कृदन्त अव्यय से बहुधा मुख्य क्रिया के पहले होने वाले व्यापार की समाप्ति का बोध होता है। इसके अतिरिक्त पूर्व-

कालिक क्रिया से नीचे लिखे अर्थ पाये जाते हैं।

[अ] कार्य-कारण—वह कुसङ्ग में पड़कर कौड़ी का तीन हो गया। [आ] रीति - वह दौड़कर चलता है। [इ] द्वारा—फाँसी लगाकर मरना [ई] विरोध—तुम मुसलमान होकर उर्दू नहीं जानते।

[२] वर्तमानकालिक कृदन्त के ता को ती करके उसके आगे ही जोड़ने से वर्तमानकालिक कृदन्त अव्यय बन जाता है, जैसे—जाते ही, खाते ही। इससे मुख्य क्रिया के साथ होनेवाले व्यापार की समाप्ति का बोध होता है, जैसे—उसने आते ही शोर मचाना शुरू किया।

[३] अपूर्ण क्रियाद्योतक कृदन्त अव्यय का रूप तात्कालिक कृदन्त अव्यय के समान केवल ता को ते आदेश करने से बनता है, जैसे—सोते, रहते। इससे मुख्य क्रिया से साथ होनेवाले व्यापार की अपूर्णता सूचित होती है, जैसे—मुझे लौटते रात हो जायगी।

[४] पूर्णक्रियाद्योतक कृदन्त अव्यय भूतकालिक कृदन्त विशेषण के अन्त्य आ का ए आदेश करने से बनता है। इस कृदन्त से बहुधा मुख्य क्रिया के साथ होनेवाले व्यापार की समाप्ति का बोध होता है, जैसे—इतनी रात गये तुम क्यों आये?

शब्द-भेदों में परिवर्तन

हिन्दी भाषा में कुछ शब्द प्रयोग के अनुसार भिन्न-भिन्न शब्द-भेदों में आते हैं। ऐसे उदाहरण नीचे दिये जाते हैं।

अच्छा—संज्ञा—अच्छों से मिलकर प्रसन्नता होती है।

विशेषण—अच्छे आदमियों से मिलना चाहिए।

क्रियाविशेषण—यह काम अच्छी तरह करो।

अव्यय—अच्छा, तुम आ गये।

और—विशेषण—थोड़ी देर में और आदमी आ गये।

समुच्चयबोधक अव्यय-रामनाथ और मोहन में मित्रता है।

संज्ञा—औरों की बात जाने दीजिए।

एक—विशेषण—एक दिन वह यहाँ आया।
सर्वनाम—एक मरता है, एक पैदा होता है।
क्रियाविशेषण—एक तुम्हारे कारण ही मैं यहाँ रहता हूँ।

कुछ—सर्वनाम—आपके हाथ में कुछ है।
विशेषण—(१) संख्यावाचक—हमें कुछ आम दो।
(२) परिमाणबोधक—कुछ पानी पिलाओ।
क्रियाविशेषण—वह लड़का उम्र में कुछ छोटा है।
समुच्चयबोधक—कुछ तुमने कमाया, कुछ तुम्हारे भाई कमायेंगे।

कोई—सर्वनाम—अभी कोई आया था।
विशेषण—कोई पुस्तक दो।
क्रियाविशेषण—इसमें कोई १०० पृष्ठ हैं।

क्या—सर्वनाम—राम ने आप से क्या कहा?
विशेषण—उन्होंने आपसे क्या बात कही?
क्रिया विशेषण—आप चलते क्या हैं दौड़ते हैं।
समुच्चयबोधक—क्या स्त्री क्या पुरुष, यहां सब आते हैं।

जो—सर्वनाम—लड़का जो अभी यहाँ था चला गया।
विशेषण—जो किताब छपी है अच्छी है।
अव्यय—उसमें इतनी ताकत नहीं जो आपका सामना करे।

यह—सर्वनाम—यह किसकी किताब है?
विशेषण—यह किताब मेरी है।
क्रियाविशेषण—लीजिए, मैं यह चला।

साथ—संज्ञा—दुःख में कोई साथ नहीं देता।
सम्बन्धबोधक अव्यय—मैं आपके साथ आया हूँ।
क्रियाविशेषण—सब लड़के साथ पढ़ते हैं।

सीधा—संज्ञा—सीधे का मुँह कुत्ता चाटता है।

विशेषण—सीधा आदमी सर्वप्रिय होता है।

क्रियाविशेषण—शेर पानी में सीधा तैरता है।

हाँ—संज्ञा—मैं उनकी हाँ-में-हाँ मिलाता हूँ।

अव्यय—हाँ ! हाँ !! कहाँ घुसे जाते हो !

क्रियाविशेषण—हाँ, मैं यहीं रहता हूँ।

हम बता चुके हैं कि हिन्दी भाषा में रूपान्तर के अनुसार शब्द दो प्रकार के होते हैं—विकारी और अविकारी। विकारी शब्दों में लिङ्ग, वचन तथा कारक के कारण रूपान्तर होता है। इसलिए अगली पंक्तियों, में हम इन्हीं के संबंध में विचार करेंगे। पहले हम लिङ्ग-निर्णय लेते हैं।

लिंग-विचार

लिङ्ग का अर्थ है चिह्न। इस चिह्न से हमें स्त्री अथवा पुरुष का बोध होता है। इस प्रकार लिंग दो प्रकार होते हैं—पुल्लिंग और स्त्रीलिंग। शब्दों में लिंग-निर्णय दो प्रकार से होता है—शब्द के अर्थ से तथा उसके रूप से; प्राणिवाचक संज्ञाओं का लिङ्ग बहुधा अर्थ के अनुसार और अप्राणिवाचक संज्ञाओं का लिङ्ग बहुधा रूप के अनुसार निश्चित करते हैं। जिन शब्दों का लिङ्ग इन दोनों रीतियों से निश्चित नहीं हो सकता, उनका व्यवहार के अनुसार मानते हैं।

[१] **अर्थ के अनुसार लिङ्ग-निर्णय**—जिन प्राणिवाचक संज्ञाओं से जोड़े का ज्ञान होता है, उनकी पुरुष-बोधक संज्ञाएँ पुल्लिंग और स्त्री-बोधक स्त्रीलिंग होती हैं, जैसे,—पुरुष, घोड़ा, मोर आदि पुल्लिङ्ग हैं और स्त्री, घोड़ी, मोरनी आदि स्त्रीलिङ्ग हैं।

अपवाद—'सन्तान' और 'सवारी' (यात्री) स्त्रीलिंग हैं।

[२] कई एक मनुष्येतर प्राणियों के नामों से दोनों का बोध होता है और वे व्यवहार के अनुसार पुल्लिंग अथवा स्त्रीलिंग माने जाते हैं, जैसे—पुल्लिङ्ग—पक्षी, उल्लू, कौवा, भेड़िया, चीता खटमल, कीड़ा, कछुआ, साँप, गोह, गिद्ध आदि। स्त्री०—चील, कोयल, मैना, लावा, गिलहरी, जोंक, तितली, मक्खी, मछली, दीमक आदि। इनके नामों

के साथ पुरुष का बोध करने के लिए "नर" और स्त्री के बोध के लिए "मादा" भी लगाते हैं, परन्तु इन उपसर्गों के कारण शब्दों के मूललिंग में अन्तर नहीं पड़ता, जैसे—मादा-मक्खियां नर-मक्खियों को खिला कर शहद वृथा नहीं खोतीं।

[३] प्राणियों के समुदाय-वाचक नाम व्यवहार के अनुसार नित्य पुं० अथवा स्त्री० होते हैं, जैसे—पुल्लिङ्ग—झुण्ड, कुटुम्ब, सङ्घ, दल, मेल इत्यादि। स्त्री—भीड़, सेना, फौज, सभा, प्रजा, टोली, सरकार, इत्यादि। 'समाज' शब्द स्त्रीलिङ्ग में अधिक आता है; पर कोई-कोई लेखक इसे पुल्लिंग भी लिखते हैं।

[४] अप्राणिवाचक शब्दों का लिङ्ग-निर्णय प्रायः उनके रूप के अनुसार ही होता है; परन्तु किसी किसी वैयाकरण ने उनके लिङ्ग-निर्णय के कुछ खास नियम भी बतलाये हैं। मेरी राय से वे अव्यापक और अपूर्ण हैं। उनमें से कुछ नियम यहां भी दिये जाते हैं। नीचे के शब्द पुल्लिंग होते हैं :—

(क] शरीर के अवयवों के नाम—बाल, सिर, मस्तक, तालू, ओठ दांत, मुंह, कान, गाल, हाथ, पांव, नख, ओठ इत्यादि। अपवाद—आँख, नाक, जीभ, बाँह, खाल, नस, चूतड़, कांख, इन्द्रिय इत्यादि। (ख) धातुओं के नाम—सोना, रूपा, लोहा, तांबा, सीसा, कांसा, पीतल, टीन इत्यादि। अपवाद—चांदी इत्यादि। (ग) रत्नों के नाम—हीरा, मोती, माणिक, मूँगा, पन्ना इत्यादि। अपवाद—मणि, चुन्नी, लालड़ी इत्यादि। (घ) पेड़ों के नाम—पीपल, बड़, सागौन, शीशम, देवदारु, तमाल, अशोक इत्यादि। अपवाद—नीम, जामुन, कचनार, ऊख, सेम, अद्रक इत्यादि। (ङ) अनाजों के नाम—जौ, गेहूँ चावल, बाजरा, मटर, चना, तिल इत्यादि अपवाद—मक्का, जुआर मूँग, अरहर इत्यादि। (च) द्रव-पदार्थों के नाम—घी, तेल, पानी, दही, शर्बत, सिरका, इत्र, आसव, अवलेह इत्यादि। अपवाद—छाछ, स्याही, खीर इत्यादि। (छ) जल और थल के विभागों के नाम—देश

नगर, पर्वत, द्वीप, समुद्र, सरोवर, आकाश, पाताल इत्यादि। **अपवाद**—पृथ्वी, झील, नदी, घाटी इत्यादि। (ज) ग्रहों के नाम—सूर्य, चन्द्र, मङ्गल, राहु, केतु, शनि इत्यादि। **अपवाद**—पृथ्वी।

निम्नलिखित शब्द स्त्रीलिङ्ग होते हैं—(क) नदियों के नाम—गङ्गा, यमुना, नर्मदा, ताप्ती, कृष्णा इत्यादि। (ख) तिथियों के नाम—परिवा, दूज, तीज, चौथ, पञ्चमी, इत्यादि। (ग) नक्षत्रों के नाम—अश्विनी, भरणी, कृत्तिका, रोहिणी इत्यादि। (घ) वर्णमाला के अक्षर इ, ई, ऋ, ए, ऐ, इत्यादि। (च) किराने का नाम—इलायची, लौंग, सुपारी, जावित्री, केशर, दालचीनी इत्यादि। **अपवाद**—तेजपात, कपूर इत्यादि। (छ) भोजनों के नाम—पूड़ी, कचौड़ी, खीर, दाल, रोटी, तरकारी, कढ़ी, खिचड़ी इत्यादि। **अपवाद**—भात, हलुआ, रायता, मोहनभोग।

रूप के अनुसार लिङ्ग निर्णय—हम कह चुके हैं कि अप्राणि-वाचक संज्ञाओं के लिङ्ग का निर्णय बहुधा शब्द के रूप के अनुसार ही किया जाता है। हिन्दी में संस्कृत और विदेशी शब्द भी आते हैं; इसलिए इन भाषाओं के शब्दों का अलग-अलग विचार करने में सुभीता है। **हिन्दी शब्द : पुल्लिङ्ग**—(१) गुणवाचक संज्ञाओं को छोड़ शेष हिन्दी की आकारान्त सज्ञाए पुल्लिंग होती हैं—गन्ना, पैसा, पहिया, दरिया, आटा, कपड़ा इत्यादि (२) जिन भाववाचक संज्ञाओं के अन्त में "ना" "आव", "पन", और "पा" होता है,—अना, आना, गाना, चढ़ाव, बड़प्पन, बुढ़ापा, भैयापा इत्यादि। (३) कृदन्त की नकारान्त संज्ञाएँ जिनकी धातु नकारान्त न हो और जिनका उपान्त्य वर्ण आकारान्त हो,—लगान, मिलान, खान, पान, गान, नहान, उठान, ध्यान इत्यादि। अपवाद—सड़ान। **स्त्रीलिंग : (१) ईकारान्त संज्ञाएँ**—नदी, चिट्ठी, उदासी इत्यादि। अपवाद—पानी, घी, मोती जी, दही इ० (२) गुणवाचक आकारान्त संज्ञाएँ—फुड़िया, खड़िया, डिबिया, ठिलिया इत्यादि। (३) तकरान्त संज्ञाएँ—रात, बात, लात छत,

पत इ० । अप०—भात, खेत, सूत, दाँत, गात इ० । (४) ऊकारान्त संज्ञाएँ,—बालू, लू, तराजू, दारू, ब्यालू, आबरू, इ० । अप०—आलू, रतालू, चाकू, लड्डू, डमरू, जनेऊ इ० । (५) अनुस्वारान्त संज्ञाएँ—सरसों, भौं, दाँ, चूँ, लौं, इ० । अप०—कादों, गेहूँ इत्यादि । सकारान्त संज्ञाएँ—प्यास, मिठास, रास (लगाम), बाँह, घास, साँस, रोआस इत्यादि । अप०—निकास, रास (नृत्य), विकास इत्यादि । (७) कृदन्त की नकारान्त संज्ञाएँ—जिनका उपान्त्य वर्ण अकारान्त अथवा जिनकी धातु नकारान्त हो—सूजन, जलन, गढ़न रहन, सहन, छान, गान, पहचान, इ० । अप०—चलन, चाल-चलन उभयलिंग है। (८) कृदन्त की अकारान्त संज्ञाएँ—लूट, मार, समझ, दौड़, सम्हाल, रगड़, चमक, छाप, पुकार, गन्ध आदि । अप०—खेल, मेल, बिगाड़, बोल, उतार इत्यादि । (९) जिन संज्ञाओं के अन्त में ख होता है,—ऊख, दाख, साख, भीख, राख, आँख, कांख, कोख, साख, परख, चांख, देख, रेख, आदि । अप०—पाख, रुख । (१०) जिन भाववाचक संज्ञाओं के अन्त में आई, हट, वट होते हैं :—भलाई, चिल्लाहट, बनावट इत्यादि ।

२. संस्कृत शब्द : पुल्लिङ्ग—(१) त्रान्त संज्ञाएँ,—पात्र, चित्र इ० । (२) नान्त संज्ञाएँ,—पालन, पोषण, दमन इ० । अप०—पवन उभयलिंग है। (३) जान्त संज्ञाएँ,—जलज, उरोज इ० । (४) जिनके अन्त में त्व, त्य, व, र्य हो—सतीत्व, कृत्य, लाघव, मधुर्य इ० । (५) जिन संज्ञाओं के अन्त में आ, आय या आस हो - विकार, विस्तार, अध्याय, उल्लास, ह्रास इ० । अप०—सहाय उभयलिंग और आय स्त्रीलिंग है । (६) अ प्रत्ययान्त संज्ञाएँ :—क्रोध, मोह इ० । अप०—शपथ, कुशल, सामर्थ्य, पुस्तक, जय, नारायण, गन्ध स्त्रीलिंग हैं और विनय उभयलिंग है । (७) जिनके अन्त में ख होता है—मुख, नख इत्यादि । स्त्रीलिंग : (१) आकारान्त संज्ञाएँ :—दया, शोभा, प्रार्थना इ० । (२) उकारान्त संज्ञाएँ—वायु, रज्जु, मृत्यु, आयु, जानु

वस्तु, ऋतु, बाहु, रेणु। अप०—साधु, शम्भु, मधु, अश्रु, तालु, तरु, सेतु इ०। (३) ति और ता प्रत्ययान्त क्रान्ति, नम्रता, जड़ता इ०। अप०—देवता। (४) इकारान्त संज्ञाएँ—विधि, निधि, परिधि, राशि, अग्नि, आग, छवि, रुचि, केलि आदि। अप०—वारि, गिरि, जलधि, क्राम, बलि, पाणि इ०। (५) इमा प्रत्ययान्त—महिमा, गरिमा, लघिमा आदि।

२. विदेशी शब्द पुल्लिंग—(१) जिन शब्दों के अन्त में 'आब' होता है—गुलाब, हिसाब, असबाब, खिजाब, जवाब इ०। अप०—शराब, मिहराब, किताब, ताब, किमखाब इ०। (२) जिनके अन्त में आर या आन हो—बाजार, इकरार, इजहार, इश्तिहार, इन्कार, एहसान, मकान इ०। अप०—दूकान, जान, सरकार, तकरार, दीवार इ०। (३) जिनके अन्त में ह हो—(हिन्दी में यह 'ह' बहुधा 'आ' होकर अन्त्य स्वर में मिल जाता है।) पर्दा, गुस्सा, किस्सा, रास्ता, तम्बूरा, चश्मा, तमगा इ०। अप०—दफा इत्यादि। स्त्रीलिंग—(१) ईकारान्त—भाववाचक संज्ञाएँ—बीमारी, गरमी, गरीबी इ०। (२) शकारान्त संज्ञाएँ—नालिश, कोशिश, लाश, तलाश, मालिश, ख्वाहिश इ०। अप०—ताश, होश इ०। (३) तकारान्त संज्ञाएँ—दौलत, कसरत, हजामत, अदालत, कीमत, मुलाकात, हालत, जमानत, लियाकत, दावत इ०। अप०—दस्तखत, दरख्त, औसत, खत, सबूत, तख्त आदि। (४) हकारान्त, संज्ञाएँ—राह, तरह, आह, सलाह, सुलह। अप०—माह, गुनाह, इत्यादि। (५) आकारान्त संज्ञाएँ—हवा, दवा, सजा, दुनिया, बला (हि०बलाय) इत्यादि। अप०—'मजा' उभयलिंग और 'दगा' पुल्लिंग है। (६) 'तफईल' के वजन की संज्ञाएँ—तसवीर, तहसील, जागीर, तामील, तफसील इत्यादि। अप०—तावीज। (७) हिन्दी में लगभग तीन चौथाई शब्द संस्कृत के हैं जो तत्सम और तद्भव रूप से आते हैं। संस्कृत में पुल्लिंग और नपुंसक लिंग के शब्द हिन्दी में, बहुधा, पुल्लिंग होते हैं और स्त्रीलिंग शब्द प्रायः

स्त्रीलिङ्ग ही होते हैं; तथापि कई एक तत्सम और तद्भव शब्दों का मूल लिङ्ग हिन्दी में बदल गया है। आग, जय, आत्मा, महिमा, और देह संस्कृत में पुल्लिङ्ग किन्तु हिन्दी में स्त्रीलिङ्ग हैं। व्यक्ति, तारा, और देवता संस्कृत में स्त्रीलिङ्ग हैं, किन्तु हिन्दी में पुल्लिंग हैं। शपथ, विन्दु, तन्तु शब्द संस्कृत में पुल्लिंग हैं, किन्तु इनके हिन्दी तद्भव सौंह, बूँद, ताँत स्त्रीलिग हैं (८) अरब', फारसी आदि विदेशी भाषाओं के शब्दों में भी इसी तरह हिन्दी में लिंगान्तर के कुछ उदाहरण पाये जाते हैं, जैसे—'मुहावरात' अरबी स्त्रीलिंग और मुहावरा हिन्दी पुल्लिग हो गया है। (६) अंग्रेजी शब्दों के सम्बन्ध में लिंग-निर्णय के लिए प्रायः अर्थ और रूप दोनों का विचार किया जाता है। कई एक शब्द आकारान्त होने के कारण पुल्लिंग और ईकारान्त स्त्रीलिंग हुए हैं:—पु० सोड़ा, डेल्टा इ० । स्त्री०—चिमनी, गिनी म्युनिसिपालटी इत्यादि। (१०) लालटेन, कल, मशीन, तोप, बन्दूक, मेज, टेबुल, स्लेट, अपील, मोटर, कौंसिल, कांग्रेस, रिपोर्ट आदि स्त्रीलिंग हैं (११) अधिकांश सामासिक शब्दों का लिंग अन्त्य शब्द के लिंग के अनुसार होता है:—रसोईघर (पु०), धर्मशाला (स्त्री), माँ-बाप (पु०) आब-हवा (स्त्री०) कांजी-हौस (पु०) इत्यादि। (१२) कई एक हिन्दी व्याकरणों में यह ऊपर का नियम व्यापक माना गया है, परन्तु सभी स्थानों में यह नियम नहीं लगता। 'मन्दगति' शब्द केवल कर्मधारय में स्त्रीलिंग है औरों में विशेष्य के अनुसार होता है, जैसे—मन्दगति बालक। (१३) सभा, पत्र, पुस्तक, और स्थान के व्यक्तिवाचक नामों का लिंग प्रायःशब्द के रूप के अनुसार होता है, जैसे:—महासभा (स्त्री), महामण्डल (पु०) मर्यादा (स्त्री), प्रभा (स्त्री), प्रताप (पु०), भारतमित्र (पु०), रघुवंश, (पु०) महाभारत (पु०) आगरा (पु०), मथुरा (स्त्री), प्रयाग (पु०), दिल्ली (स्त्री)। (१४) यूनानी, ईरानी, पुर्तगाली और तुर्की आदि भाषाओं के हिन्दी में आये हुए जो शब्द हैं, उनका लिंग-निर्णय व्यापार के अनुसार होता है। अब तो कितने ही शब्द हिन्दी के निजी भी हो गये हैं।

पुल्लिंग से स्त्रीलिंग बनाने के कुछ नियम—(१) बहुधा अकारान्त और आकारान्त शब्दों को ईकारान्त कर देते हैं, जैसे—दास दासी, देव देवी, रोट रोटी, नट नटी, दादा दादी, घोड़ा घोड़ी, बेटा बेटी, इत्यादि। (२) कहीं कहीं शब्दों के अन्त के 'आ' को 'अ' कर देते हैं, जैसे—भैंसा-भैंस, भेड़ा-भेड़। (४) कुछ अकारान्त शब्दों के अन्त में 'नी' लगा देते हैं, जैसे—शेर-शेरनी, बाघ-बाघनी, ऊँट-ऊँटनी, मोर-मोरनी, सिंह-सिंहनी। (५) कुछ शब्दों के अंतिम स्वर का लोप करके 'इन' जोड़ देते हैं,—जैसे लोहार-लोहारिन, धोबी-धोबिन, तेली-तेलिन। (६) पदवीवाचक शब्दों के अंतिम स्वर का लोप करके 'आइन' लगा देते हैं, जैसे—ठाकुर से ठकुराइन, चौबे से चौबाइन, बनिया से बनियाइन इ०। (७) अंतिम स्वर को 'इया' कर देते है, जैसे—कुत्ता-कुतिया, बेटा-बिटिया, लोटा-लुटिया। (८) कुछ शब्दों के स्त्रीलिंग शब्द बिलकुल भिन्न होते हैं, जैसे—बैल का गाय, पिता का माता, राजा का रानी, पुरुष का स्त्री इ० (९) जिन शब्दों के रूप दोनों लिंगों में समान होते हैं उनके पहले नर अथवा मादा शब्द लगाकर लिंगभेद माना जाता है, जैसे—नर-भेड़िया, मादा भेड़िया, नर चील, मादा चील इत्यादि। (१०) कई एक संज्ञाओं और विशेषणों में आ प्रत्यय लगाते हैं, जैसे—सुत सुता, बाल-बाला, प्रिय-प्रिया, शिव-शिवा, शूद्र-शूद्रा, वैश्य-वैश्या इ० (११) अक प्रत्ययांत शब्दों में अ के स्थान में आ हो जाती है, जैसे—पाठक-पाठिका, बालक बालिका, उपदेशक-उपदेशिका इ० (१२) किसी-किसी देवता के नाम के आगे आनी प्रत्यय लगाया जाता है, जैसे—भव भवानी, रुद्र रुद्राणी इन्द्र इन्द्राणी, (१३) किसी-किसी शब्द के दो और तीन स्त्रीलिंग रूप भी होते हैं, जैसे—मातुल—मातुली, मातुलानी। उपाध्याय—उपाध्यायानी, उपाध्यायी उपाध्याया (१४) सामासिक पदों के लिंग की पहिचान पद के अंतिम शब्द से होती है। यथा—विद्यासागर। इस पद में अंतिम शब्द 'सागर' है; अतः यह समस्त पद पुल्लिंग है।

वचन-विचार—वचन से संज्ञा तथा विकारी शब्दों की संख्या जानी जाती है। वचन से यह मालूम होता है कि वहाँ हुआ संज्ञा शब्द एक वस्तु के लिए आया है अथवा एक से अधिक के लिए। हिन्दी में वचन दो हैं—एकवचन और बहुवचन। (१) एकवचन से एक वस्तु का बोध होता है, जैसे—घोड़ा, लड़का, किताब, कलम इत्यादि। (२) बहुवचन से एक से अधिक वस्तुओं का बोध होता है, जैसे—घोड़े, लड़के, बछड़े इत्यादि। बहुत से शब्दों के रूप दोनों वचनों में एक-से रहते हैं। इनका वचन वाक्य का आशय समझकर बतलाया जा सकता है। उदाहरण—(क) आदमी सोता है—एकवचन। (ख) आदमी सोते हैं—बहुवचन। बहुधा आदर प्रकट करने के लिए भी एकवचन की जगह बहुवचन का प्रयोग किया जाता है, जैसे—(१) रामचंद्र जी दशरथ के सबसे बड़े लड़के थे। (२) महात्मा जी कहाँ गये हैं। कहीं-कहीं एक वचन के आगे वर्ग, लोग, गण इत्यादि शब्द लगा देने से बहुवचन का अर्थ निकलता है, जैसे—(क) साधु लोग सदाचारी होते हैं। (ख) विद्यार्थीगण पढ़ रहे हैं।

बहुवचन बनाने के कुछ नियम

(१) कहीं-कहीं स्त्रीलिंग अकारान्त शब्दों के 'अ' को 'एँ' कर देते हैं, जैसे—बहिन—बहिनें, रात—रातें, गाय—गायें (२) कुछ आकारान्त संज्ञाओं के अन्त में केवल अनुस्वार लगाया जाता है, जैसे—डिबिया—डिबियाँ, गुड़िया—गुड़ियाँ—लुटिया—लुटियाँ। (३) कुछ इकारान्त स्त्रीलिंग शब्दों के अन्त में 'याँ' जोड़ देने से बहुवचन हो जाता है, जैसे—प्रति—प्रतियाँ, तिथि—तिथियाँ, मिति—मितियाँ, रीति—रीतियाँ। (४) कुछ ईकारान्त स्त्रीलिंग शब्दों को इकारान्त करके उनके अन्त में 'याँ' जोड़ देते हैं, जैसे—सखी—सखियाँ, नदी—नदियाँ, सदी—सदियाँ। (५) कुछ आकारान्त स्त्रीलिंग शब्दों के अंत में बहुवचन बनाने के लिए 'एँ' लगा देते हैं, जैसे—माला—मालाएँ। कथा-कथाएँ। लता—लताएँ। नोट—ऊकारान्त 'बहू' शब्द का

भी बहुवचन 'बहुएँ' होता है। (६) आकारान्त पुल्लिंग शब्दों के 'आ' को बहुधा 'ए' कर देते हैं, जैसे—बेटा—बेटे, सोटा—सोटे, लोटा—लोटे। नोट—अधिकतर पुल्लिंग शब्द दोनों वचनों में समान होते हैं। विशेष परिवर्तन स्त्रीलिंग शब्दों में होता है।

कारक विचार

संज्ञा अथवा सर्वनाम का वह रूप, जिसके द्वारा उसका सम्बन्ध वाक्य में क्रिया अथवा किसी दूसरे शब्द के साथ प्रकाशित होता है, कारक कहलाता है। जिस प्रकार स्वस्थ शरीर के लिए अंगों का बलिष्ठ और सुडौल होना परमावश्यक है, उसी प्रकार वाक्य की स्पष्टता और सार्थकता के लिए कारकों का समुचित प्रयोग भी अत्यावश्यक है। उदाहरण के लिए एक वाक्य लीजिए—**राम ने रावण को बाण से मारा**। इस वाक्य में तीन संज्ञा शब्द हैं राम, रावण, और बाण। तीनों शब्द भिन्न कारकों में हैं। पहले शब्द में 'ने' विभक्ति है, दूसरे में 'को' और तीसरे में 'से'। अब इनके पारस्परिक सम्बन्ध पर विचार कीजिए।

प्रस्तुत वाक्य का अर्थ केवल **'राम ने'** और **'मारा'** इन दो शब्दों पर ही अवलम्बित है। **राम ने** शब्द है और **मारा** क्रिया है। यदि **राम ने** शब्द इस वाक्य से निकाल दिया जाय, तो बचे हुए वाक्य-खण्ड का कुछ भी अर्थ न होगा। कहने का तात्पर्य यह है कि **मारा** क्रिया की सार्थकता **राम ने** संज्ञा शब्द से ही प्रकट होती है। पुनः **रावण को** संज्ञा शब्द लीजिए—जब हमारा ध्यान वाक्य के अर्थ की ओर जाता है, तब हमें मालूम होता है कि **रावण को** शब्द तीन अन्य शब्दों अर्थात् **राम ने**, **बाण से** और **मारा** के सहित शृंखला की तरह सम्बद्ध है। यदि हम इस शृंखला में से **रावण को** निकाल दें, तो बचा हुआ वाक्य "राम ने...बाण से मारा" अर्थहीन हो जायगा। अतः वाक्य में इस शब्द का होना अर्थ के लिए अत्यावश्यक है। इसके बिना यह नहीं पता चल सकता कि मारने वाले की क्रिया का फल कहाँ आश्रय पायगा। पीछे के वाक्य में **बाण से** शब्द भी

विचारणीय है। बाण शब्द का सम्बन्ध पूर्ववत् सब शब्दों से है। मारा क्रिया किसकी सहायता से सम्पादित हुई है? इस प्रश्न का उत्तर बाण से शब्द में पाया जाता है। पुनः बाण शब्द का सम्बन्ध रावण और राम शब्दों से भी वैसा ही है। संक्षेपतः वाक्य में कारकों-द्वारा ही शब्दों का पारस्परिक सम्बन्ध समुचित रूप से जाना जा सकता है।

कारकों के पहचानने के लिए जो चिह्न संज्ञा या सर्वनाम के आगे लगाये जाते हैं उन्हें **विभक्तियाँ** कहते हैं।

हिन्दी में **आठ कारक** होते हैं। (१) **कर्त्ताकारक**—क्रिया के द्वारा जिस संज्ञा शब्द अथवा संज्ञा के स्थान में आने वाले शब्द के विषय में कुछ कथन किया जाता है उसे **कर्त्ताकारक** कहते हैं। वाक्य में कर्त्ता दो प्रकार से संयुक्त होता है—एक प्रधान रूप से, दूसरे अप्रधान रूप से। वाक्य में जहाँ क्रिया कर्त्ता के लिंग, वचन और पुरुष के अनुसार हो वहाँ कर्त्ता **प्रधान** अथवा **उक्त** कहलाता है, परन्तु जहाँ वाक्य में क्रिया का लिंग-वचन और पुरुष कर्त्ता के अनुसार न होकर कर्म के अनुसार हो वहाँ कर्त्ता **अप्रधान** अथवा **अनुक्त** कहलाता है। जैसे—राम पुस्तक पढ़ रहा है। राम ने प्रथम पुस्तक पढ़ी है।

ऊपर के पहले उदाहरण में 'राम' प्रधान कर्त्ता और दूसरे उदाहरण में राम अप्रधान कर्त्ता है। कर्त्ताकारक का चिह्न 'ने' है। वह चिह्न कहीं-कहीं नहीं भी रहता; अतः कर्त्ताकारक की पहचान के लिए 'ने' विभक्ति का होना परमावश्यक नहीं है।

(२) **कर्मकारक**—जिस वस्तु पर क्रिया के व्यापार का फल पड़ता है उसे सूचित करने वाले संज्ञा के रूप को **कर्मकारक** कहते हैं। कर्मकारक सकर्मक क्रियाओं के साथ वाक्य में दो प्रकार से आते हैं—एक प्रधान रूप से और दूसरे अप्रधान रूप से। जहाँ वाक्य में क्रिया के लिंग, वचन और पुरुष कर्म के लिंग-वचन और पुरुष के अनुसार

आते हैं वहाँ कर्म कर्मप्रधान अथवा उक्त कहलाता है, परन्तु जहाँ वाक्य में क्रिया के लिंग वचन और पुरुष कर्म के अनुसार न होकर कर्त्ता के लिंग वचन और पुरुष के अनुसार आते हैं वहाँ कर्म कर्म-अप्रधान अथवा अनुक्त कहलाता है, जैसे—(१) स्त्री से कपड़ा सिया जाता है। (२) स्त्री कपड़ा सीती है।

प्रथम उदाहरण में कपड़ा प्रधान अथवा उक्तकर्म है और दूसरे उदाहरण में कपड़ा अप्रधान अथवा अनुक्तकर्म है। कई सकर्मक क्रियाएँ द्विकर्मक कहलाती हैं। इन दोनों कर्मों में से एक मुख्य और दूसरा गौण कर्म होता है, जैसे—उसने मुझे दवा दी। इस वाक्य में दवा मुख्य और मुझे गौणकर्म है। मुख्य कर्म वस्तुबोधक और गौड़कर्म प्राणिबोधक होता है। यदि किसी अकर्मक क्रिया के साथ उसी की धातु से बना हुआ कर्म आवे तो सजातीय कर्म कहते हैं, जैसे—वह एक चाल चला। इस वाक्य में चाल सजातीय कर्म है। कर्म का चिह्न 'को' है परन्तु कहीं-कहीं यह लुप्त भी रहता है।

(३) करणकारक—संज्ञा या सर्वनाम के जिस रूप के द्वारा क्रिया का कार्य किया जाय उसे करणकारक कहते हैं, जैसे—इसने मोहन को लाठी से मारा।

इस वाक्य में मारने का कार्य लाठी से किया गया है; अतः लाठी से करणकारक में है। करणकारक का चिह्न से है। कई स्थानों में यह से का चिह्न छिपा भी रहता है, जैसे—न आँखों देखा, न कानों सुना।

(४) सम्प्रदानकारक—जिसके लिए कोई कार्य किया जाय अथवा जिसको कोई वस्तु दान कर दी जाय उसके स्थानों में प्रयुक्त संज्ञा के रूप को सम्प्रदानकारक कहते हैं, जैसे १. उसने मोहन को किताब दी २. वह नाचने गया है।

इन वाक्यों में मोहन को और नाचने शब्द सम्प्रदानकारक में हैं। सम्प्रदान का चिह्न को है। बहुधा के लिए, के अर्थ, के निमित्त

इत्यादि शब्दों के लगाने से भी सम्प्रदान का अर्थ होता है।

(५) **अपादानकारक**—वाक्य में संज्ञा अथवा सर्वनाम के जिस रूप से किसी वस्तु का अलग होना पाया जाय उसे **अपादानकारक** कहते हैं, जैसे—**पेड़ से** पत्ते गिरते हैं।

इस वाक्य में पेड़ से पत्तों का अलग होना स्पष्ट है; इसलिए 'पेड़ से' अपादानकारक में है।

(६) **सम्बन्धकारक**—वाक्य में जिस संज्ञा या सर्वनाम का सम्बन्ध किसी दूसरी वस्तु से सूचित होता है उसे **सम्बन्धकारक** कहते हैं, जैसे—यह राजा का घोड़ा है। यह मेरी पुस्तक है। यहाँ **राजा का** और **मेरी** शब्द सम्बन्धकारक में हैं। सम्बन्धकारक के चिह्न का, के, की हैं, परन्तु सर्वनाम में रा, रे, री और ना, ने, नी होते हैं।

(७) **अधिकरणकारक**—जो संज्ञा अथवा सर्वनाम शब्द किसी क्रिया का आधार हो उसे **अधिकरणकारक** कहते हैं, जैसे—बन्दर पेड़ पर बैठा है। मोहन घर में सो रहा है। पहले वाक्य में बैठने का आधार **'पेड़'** है, इसलिए **पेड़ पर** अधिकरणकारक में है। दूसरे वाक्य में होने का आधार **घर** है; इसलिए **घर में** अधिकरण कारक में है। अधिकरण कारक के चिन्ह में, पर, पै, ऊपर हैं।

(८) **सम्बोधनकारक**—संज्ञा के जिस रूप-द्वारा कोई किसी को पुकारता है उसे **सम्बोधनकारक** कहते हैं, जैसे—**अरे मोहन** ! तू क्या कर रहा है ? **हे नाथ** ! दया करो। सम्बोधन कारक के चिन्ह हे, हो, अरे, अरी, रे, री है। अरी-री स्त्रीलिंग में प्रयुक्त होते हैं। अन्य कारकों के चिह्न उन कारक जताने वाले शब्दों के आरम्भ में आते हैं परन्तु सम्बोधन कारक के चिह्न शब्दों के अन्त में आते हैं।

कारकों के सम्बन्ध में कुछ विशेष बातें नीचे दी जाती हैं :—

(१) समानाधिकरण शब्दों में से एक शब्द कर्त्ता या किसी अन्य कारक में हो, तो दूसरा शब्द भी उसी कारक में होगा, जैसे—मोहन का **लड़का रामदास** बड़ा सुशील है। मैंने आज मोहन के लड़के

रामदास को मदरसे में देखा है। इन उदाहरणों के प्रथम वाक्य में लड़का और रामदास कर्त्ताकारक में है; पर द्वितीय वाक्य में लड़के और रामदास को कर्म कारक में हैं (२) कर्म और सम्प्रदान दोनों कारकों के लिए बहुधा को चिन्ह आता है; अतः इनके पहचानने में कुछ कठिनाई पड़ती है। जैसे—उसने राम को देखा। राजा ने ब्राह्मण को दान दिया। पहले वाक्य में देखने का प्रभाव राम पर पड़ता है इसलिये राम को कर्मकारक में है। दूसरे वाक्य में दान देने की क्रिया ब्राह्मण के लिए की गयी है, इसलिए ब्राह्मण को सम्प्रदान कारक मे है। (३) करण और अपादानकारकों के लिए बहुधा से चिन्ह आता है। कभी कभी यही चिन्ह कर्मकारक में भो प्रयुक्त होता है, जैसे—उसने लाठी से साँप को मारा। आकाश से बिजली गिरी। उसने मोहन से यह बात कही। पहले वाक्य में लाठी की सहायता से क्रिया की गया है, इसलिये लाठी से करणकारक में है। दूसरे वाक्य में आकाश से बिजली पृथक हुई है, इसलिये आकाश से अपादान कारक में है और तीसरे वाक्य में बात कहने का प्रभाव मोहन पर पड़ा है, इसलिये मोहन से कर्मकारक में है। (४) भाना, रुचना, सुहाना, शोभना, भवन इत्यादि के योग में सम्प्रदान कारक होता है। (५) भिन्नता, अपेक्षा, आरम्भ, परे, लज्जा, भय, रहित, अतिरिक्त, तुलना इत्यादि अर्थ में से विभक्ति अपादानकारक में होती है। (६) सपूर्णता, मूल्य, समय, परिमाण, व्याप्ति, अवस्था इत्यादि के अर्थ में सम्बन्धकारक होता है।

कारक की विभक्तियाँ संस्कृत विभक्तियों से बिलकुल भिन्न हैं। ये विभक्तियाँ प्राकृत से हिन्दी में आयी हैं। इसका रूप दोनों वचनों मे एक-सा रहता है। इनके लिखने के सम्बन्ध में विद्वानों के दो मत हैं किसी-किसी का कहना है कि हिन्दी में कारक की विभक्तियाँ जिन कारकों के लिए प्रयुक्त हों उसके साथ मिलाकर लिखना चाहिए और किसी

विभक्तियों का प्रयोग

का कथन है कि विभक्तियों को शब्द से अलग रखना ही ठीक है। पहले वर्ग का कहना है कि विभक्तियाँ स्वतंत्र नहीं हैं और न स्वतन्त्र रूप से प्रयुक्त होती हैं। एक मत संस्कृत व्याकरण पर और दूसरा हिन्दी व्याकरण पर अवलंबित है। ऐसी दशा में दोनों मत मान्य हैं। इस सम्बन्ध में यह बात याद रखनी चाहिए कि सम्बन्ध कारक में आनेवाले सर्वनाम की विभक्तियाँ अलग नहीं लिखी जातीं। इसी प्रकार सम्बोधनकारक का चिह्न भी शब्द के पहले पृथक् लिखा जाता है। इन विभक्तियों के प्रयोग के सम्बन्ध में नीचे-लिखे नियम महत्त्व-पूर्ण हैं:—

[१] ने का प्रयोग—वाक्य में ने का प्रयोग समापिका क्रिया अर्थात् मुख्य किया के अनुसार होता है। इस सम्बन्ध में पूर्वकालिक क्रिया का विचार नहीं किया जाता। क. कर्मवाच्य और भवावाच्य क्रियाओं तथा वर्त्तमानकाल, भविष्यत्काल और विधि-सम्भावना के साथ ने का प्रयोग नहीं होता। ख. जब मुख्य क्रिया के साथ अकर्मक क्रियाएँ सकना, जाना, उठना, बैठ चुकना, पड़ना, रहना, लगना के योग से संयुक्त क्रियाएँ बनाई जाती हैं, तब ने का प्रयोग नहीं होता, जैसे—वह पुस्तक पढ़ सकता था। ग. नहाना, छींकना, खाँसना और थूकना के अतिरिक्त शेष अकर्मक क्रियाओं के साथ ने का प्रयोग नहीं होता। घ. सकर्मक भूलना क्रिया के कर्त्ता में ने चिह्न का प्रयोग नहीं होता, जैसे—मैं भूल गया था। च. सामान्य, आसन्न, पूर्ण और संदिग्ध भूत भिन्न सभी कालों की सकर्मक क्रियाओं के कर्त्ता ने चिन्ह रहित होते हैं, जैसे—मैं रोटी खाता था। छ. सकर्मक क्रियाओं के सामान्य भूत, आसन्न भूत, पूर्ण भूत और संदिग्ध भूत कालों में कर्त्ता के आगे ने चिह्न आता है, परन्तु बकना, भूलना, बोलना, लाना और ले जाना में ने का प्रयोग नहीं होता, जैसे—मैंने रोटी खायी है। वह आम लाया है। समझना, जानना, सोचना और पुकारना सकर्मक क्रियाओं में कभी ने का प्रयोग होता

है और कभी नहीं होता, जैसे—मैंने यह बात समझी। मैं यह बात समझा। झ. सजातीय कर्म लेने के कारण कभी-कभी अकर्मक क्रिया भी सकर्मक हो जाती है। ऐसी दशा में यदि क्रिया भूत कालों मे रहे तो ने प्रयुक्त नहीं होता, जैसे—उसने खूब चाल चली। कभी-कभी ने प्रयुक्त नहीं होता, जैसे—वह खूब चाल चला। ट. जब संयुक्त क्रिया म दोनों खण्ड सकर्मक हों तो सामान्य, आसन्न, पूर्ण और सन्दिग्ध भूत कालों में कर्त्ता का ने चिह्न आता है। जैसे—मैंने भर पेट खा लिया। निश्चयता-बोधक सकर्मक क्रिया में अर्थात् जिस संयुक्त क्रिया के आगे करना शब्द रहे, ने का प्रयोग नहीं होता, जैसे—मैं गाया किया। ठ. यदि संयुक्त अकर्मक क्रिया का अन्तिम खण्ड डालना हो तो सामान्य, आसन्न, पूर्ण और सन्दिग्ध भूत कालों में कर्त्ता का चिह्न ने आता है, जैसे—तुमने इतना रो डाला।

[२] को का प्रयोग—इस चिह्न का प्रयोग निम्नलिखित अवस्थाओं में होता है :—क. अनुक्त कर्म में—तारों को देखता हूँ। ख. व्यक्ति-वाचक, अधिकारवाचक और व्यापार कर्तृवाचक में, जैसे—राम को जाने दो। मालिक को समझा दो। वह नौकर को कभी नहीं पीटता। ग. गौण कर्म अथवा सम्प्रदानकारक में, जैसे—उसने मुझको दो आम दिये। यदि कर्म सर्वनाम हो तो को के बदले कभी-कभी ए चिह्न भी आता है, जैसे—उसने मुझे पाँच रुपये दिये। घ. आना, सजाना, पचना, पढ़ना, भाना, मिलना, रुचना, लगना, शोभना, सुहाना, सूझना, होना और चाहिए के योग में को चिह्न आता है, जैसे—मुझको चैन नहीं पड़ती। आपको यह टोपी अच्छी नहीं लगती। च. निमित्त, आवश्यकता और अवस्था-द्योतक में, जैसे—तुमको यहाँ फिर आना होगा। वे स्नान को गये हैं। छ. योग्य, उपयुक्त, उचित, आवश्यक, नमस्कार, धिक्कार और धन्यवाद आदि तथा इनके अर्थवाची, अन्य शब्दों के योग में को का प्रयोग होता है, जैसे—तुमको वहाँ जाना उचित है। पण्डित जी को नमस्कार। आपको धन्यवाद। ज.

छोटे-छोटे जीवों तथा अप्राणिवाचक संज्ञाओं के साथ प्रायः को नहीं आता, जैसे—बैल घास खाता है।

[३] से का प्रयोग—यह चिह्न निम्नलिखित अवस्थाओं में आता है। क. करण-कारक में, जैसे—बाण से मारा। ख. अनुक्त कर्त्ता में, जैसे—रानी से सहा नहीं जाता। ग. प्रेरक कर्त्ता में, जैसे—मैं मोहन से यह पुस्तक पढ़वाता हूँ। घ. क्रिया करने की रीति अथवा प्रकार बताने में, जैसे—वह सारी शक्ति से काम करता है। धीरे से बोलो। च. मूल्यवाचक संज्ञा और प्रकृति बोध में, जैसे—सुख पैसों से मोल नहीं ले सकते। छूने से जाड़ा लगता है। छ. कारण, साथ, द्वारा, चिह्न, विकार, उत्पत्ति, और निषेध में, जैसे—दया से उसका हृदय पिघल गया। मैं मोहन से परामर्श करता हूँ। मैं नौकर से भेज दूँगा। रुई से वस्त्र बनते हैं इत्यादि। ज. अपादानकारक में जैसे—पेड़ से पत्ते गिरते हैं। झ. पूछना, दुहना, जाँचना, कहना, रींधना इत्यादि क्रियाओं के गौण कर्म में। जैसे—मैं आपसे पूछता हूँ। नोट—कहीं कहीं से के स्थान पर के भी लाते हैं। ट. भिन्नता, परिचय, अपेक्षा, आरम्भ, परे, बाहर, रहित, हीन, दूर, आगे, पीछे, ऊपर, नीचे, अतिरिक्त लज्जा, बचाव, डर, निकलना तथा दिशावाचक शब्दों के योग में बहुधा इसका प्रयोग होता है, जैसे—मोहन से बड़ा है। समुद्र से परे है। दूर से देखो। लज्जा से गड़ जाना। मोहन से नीचे। ऊपर से अच्छा मालूम होना इत्यादि। ठ. स्थान और समय बताने में, जैसे पटना से कलकत्ता। आज से। परसों से। ड. कभी-कभी से क्रिया विशेषण के योग में आता है, जैसे—बाहर से भीतर। यहाँ से वहाँ। ढ. अनुकरण-वाचक शब्दों में से के योग से क्रिया-विशेषण बनते हैं, जैसे—धम से, फक से। त. रीति, प्रकार, विधि, भाँति, तरह आदि शब्दों के साथ बहुधा से आता है, जैसे—रीति से, तरह से।

[४] में का प्रयोग—इस चिह्न का प्रयोग निर्धारण, अधिकरण, कारण, भीतर, अभिव्यापक, भेद, मूल्य, विरोध, अवस्था, और द्वारा

के अर्थ में होता है, जैसे—पशुओं में हाथी बड़ा है। समुद्र में अथाह जल है। पैर में जूता है। दूध में घी है। वह ध्यान में लीन है। एक बाण में उसका काम तमाम हो गया।

[५] पर का प्रयोग—इस चिन्ह का प्रयोग निम्नलिखित अवस्थाओं में होता है। क. अधिकरण में पर का प्रयोग होता है, जैसे—पेड़ पर पक्षी हैं। ख. अनुसार, दूरी, ऊपर, विरोध, संलग्नता, अधिकता, निश्चितकाल, अनन्तर के अर्थों में और वार्तालाप के प्रसंग में पर का प्रयोग होता है, जैसे—पत्र पर आये। नियम पर अटल रहा। घोड़े पर चढ़ो। इस पर वह बोला। ग. गत्यर्थ धातुओं के साथ कभी-कभी इसका प्रयोग होता है, जैसे—वह घर पर गया। घ. जहाँ कहाँ, यहाँ, वहाँ, ऊँचे, नीचे आदि कुछ स्थानवाचक क्रियाविशेषणों के साथ विकल्प से पर आता है, जैसे—यहाँ पर। वहाँ पर।

[६] का की के का प्रयोग—इस सम्बन्ध में निम्नलिखित नियम महत्त्वपूर्ण हैं। क. सम्बन्ध में का की प्रयोग होता है, जैसे—मोहन की पुस्तक, हाथ की अँगुली, मिट्टी का घड़ा। ख. सम्पूर्णता, मूल्य, समय, परिमाण, व्याप्ति, अवस्था, दर, बदला, प्रयोजन, स्थान, प्रकार, योग्यता, शक्ति के साथ भविष्यत्, कारण, आधार, निश्चय, शुद्धता, भाव, लक्षण और शीघ्रता आदि में, जैसे—गाँव का गाँव। चार रुपये की पुस्तक। दो दिन का काम। एक हाथ का साँप। राई का पर्वत, बैठने का कोठा, मुँह का हलका, दूध का दूध इत्यादि। ग. तुल्य, अधीन, समीप, ओर, आगे, पीछे, नीचे, बाहर, बायाँ, दाहिना, योग्य, अनुसार, प्रति, पास इत्यादि और इनके अर्थ-वाची अन्य शब्दों तथा अव्ययों के योग में का, के और की का प्रयोग होता है जैसे—राम के तुल्य। कर्म के अधीन। मेरे घर के समीप। बाहर की ओर, नीचे की ओर इत्यादि। घ. विशेष्य उपमान हो तो उपमेय में का, की अथवा के का प्रयोग होता है, जैसे—कर्म की फांसी, प्रेम की गाँठ।

ऊपर की पंक्तियों में जिन-जिन विभक्तियों के प्रयोग बताये गये हैं उनके सम्बन्ध में निम्नलिखित नियम ध्यान देने योग्य हैं :—

१. यदि वाक्य के शब्दों में एक ही कारक हो, तो प्रायः अन्तिम शब्द के साथ विभक्ति लगायी जाती है। २. यदि वाक्य के कई शब्दों में एक कारक हो, तो अवधारण के लिए प्रत्येक के साथ विभक्ति लगाना आवश्यक है। ३. सर्वनाम शब्दों में से हर एक में विभक्ति लगानी चाहिए। समानाधिकरण शब्द जिस कारण में आता है उसी में उसका मुख्य शब्द भी रहता है, जैसे—राजा जनक की पुत्री, सीता, के लिए स्वयंवर रचा गया।

वाक्य में विभक्तियों का प्रयोग समझ बूझकर करना चाहिए, क्योंकि एक ही शब्द में भिन्न-भिन्न चिन्ह के लगाने से अर्थ में भेद पड़ता है। कुछ उदाहरणों पर विचार कीजिए :—

क. उसके भाई नहीं हैं और उसका भाई नहीं है। इन दोनों में अन्तर है। पहले वाक्य का अर्थ यह है कि उसके भाई हैं ही नहीं और दूसरे का अर्थ है कि यह उसका भाई नहीं, दूसरे का भाई है।

ख. दो दिन पर आये। और दो दिन में आये। इन दोनों वाक्यों में अन्तर है। पहले वाक्य का अर्थ यह है कि दो दिन बीत जाने पर आये और दूसरे का अर्थ यह है कि दो दिन के भीतर आ गये।

ग. लङ्का भारत से दक्षिण है और मद्रास भारत के दक्षिण है। दोनों वाक्यों में अन्तर है। पहले का अर्थ यह है कि लङ्का भारत से बाहर है और दूसरे का अर्थ है कि मद्रास भारत का एक भाग है।

अब तक हमने विकारी तथा अविकारी शब्द-भेदों तथा उसके प्रयोग के सम्बन्ध में विचार किया। हम यह भी बता चुके हैं कि व्याकरण के नियमों-द्वारा अथवा भाषा की रीति के अनुसार

पद-स्थापन प्रणाली सिद्ध पदों की स्थापना-विधि को वाक्य-रचना कहते हैं। अतएव वाक्य-रचना में पद-स्थापन प्रणाली अथवा पद क्रम के नियमों पर विचार करना अत्यन्त आवश्यक है।

१. वाक्य में पहले कर्त्ता अथवा उद्देश्य और अन्त में क्रिया अथवा विधेय पद का क्रम रहता है, जैसे—तारे चमक रहे हैं।

२. यदि क्रिया सकर्मक हो तो उसके कर्म को क्रिया के पूर्व और द्विकर्मक हो तो पहले गौणकर्म और उसके बाद मुख्य कर्म रखते हैं। जैसे—राम रोटी खाता है। वह मोहन को हिन्दी पढ़ाता है।

३. शेष कारकों के आनेवाले पद उन पदों के पूर्व आते हैं जिनमें उनका सम्बन्ध रहता है, जैसे—श्याम ने आलमारी से राम की पुस्तक निकाली।

४. सम्बोधन-पद वाक्य के प्रारम्भ में रहता है और उसके चिह्न—हो, हे, रे आदि—ठीक सम्बोधन-पद के पूर्व रहते हैं, जैसे—अरे मोहन ! अबतक तू यहीं बैठा है ?

५. सम्बन्ध-पद के बाद उसका सम्बन्धी-पद आता है। यदि सम्बन्धी पद का कोई विशेषण हो तो वह सम्बन्धी-पद के ठीक पहले रहता है, जैसे—यह श्याम की धोती है।

जब सम्बन्धी पद उद्देश्य-विधेय-पद रूप में आता है तब विधेय-पद वाक्य के पहले आता है, जैसे—लोगों की सेवा करना ईश्वर की सेवा करने के समान है।

६. कर्म कारक में आनेवाले शब्द प्रायः कर्म के पहले आते हैं और उनके विशेषण उनके पूर्व रहते हैं, जैसे—राम ने अपने सुकुमार हाथों से फूल तोड़े।

७. अपादानकारक अपने अर्थबोधक-पद से पहले आता है, जैसे—वह कल पटने से घर चला गया।

८. विशेषण-सहित कर्म और अधिकरण कारक में आनेवाले शब्द अपादान से प्रायः पीछे आते हैं; परन्तु करण और क्रियाविशेषण अपादान से पहले रखे जाते हैं, जैसे—(क) शीतल ने मेरे 'सिर से' 'टोपी' उतारकर अपने 'सिर पर' रख ली। (ख) वह 'धीरे-धीरे' 'यहाँ से' चम्पत हो गया।

६. बहुधा अधिकरण-पद अपने आधेय के पूर्व रहा करता है, जैसे—गुलाब में काँटे होते हैं। (क) कालवाचक अधिकरण-पद वाक्य के पहले आता है, जैसे—रात्रि में ही चन्द्रदेव उदय होते हैं। (ख) जिस वाक्य में कालवाचक और स्थानवाचक दोनों ही अधिकरण-पद हों वहाँ पहले कालवाचक, पीछे स्थानवाचक रहता है, जैसे—वह दिन में कार्यालय में रहता है।

नोट—ऊपर बताये गये पदक्रम के नियमों में बहुत कुछ अन्तर भी पड़ जाता है अर्थात् वाक्य में जिस पद की प्रधानता दिखानी हो उसे उपर्युक्त नियमों के विरुद्ध पहले रखते हैं जिससे वाक्य के अन्य अंशों में भी उलट-फेर हो जाता है, जैसे :—

(क) **कर्त्ता का स्थानान्तर**—सिरतोड़ मेहनत कर कमाये 'राम' और खाय 'सोहन'। (ख) **कर्म का स्थानान्तर**—मिठाई छोड़ कोई 'चीज' मैं खाऊँगा ही नहीं। (ग) **करण का स्थानान्तर**—'तलवार से उसने चोर का सिर काट लिया। (घ) **सम्प्रदान का स्थानान्तर**—'आप के ही लिए' तो यह सब कुछ किया गया है। (ङ) **अपादान का स्थानान्तर**—'वृक्ष से' जितने फल गिरे सब के सब बरबाद हो गये। (छ) **सम्बन्ध का स्थानान्तर**—'मेरी' घड़ी तो राम ले गया। कभी-कभी पद के सिलसिले में सम्बन्धपद अपने सम्बन्धी के पीछे व्यवहृत होता है, जैसे—यह घड़ी किसकी है? (च) **अधिकरण का स्थानान्तर**—इसी पर सब कुछ निर्भर करता है। (ज) **क्रिया का स्थानान्तर**—वाह साहब! मैंने पुकारा किसे और 'टपक' पड़े आप!

१०. प्रायः विशेषण अपने विशेष्य के पहले आता है। एक से अधिक विशेषण पद एक साथ आने पर उनके बीच में संयोजक अव्यय कोई लाते हैं और कोई नहीं भी लाते। क्योंकि उनका लाना और न लाना वाक्य की बनावट और लालित्य पर निर्भर करता है। जहाँ न देने से वाक्य का लालित्य भ्रष्ट होने लगे वहाँ देना चाहिए और जहाँ लालित्य में कोई बाधा न पड़े वहाँ न देना चाहिए। हाँ, स्थानान्तर

हो जाने से यदि एक से अधिक विशेषण प्रयुक्त हो तो संयोजक अव्यय जोड़ना आवश्यक हो जाता है, जैसे :—

(क) 'बली' भीम ने दुःशासन को गदा के प्रहार से मार डाला। (ख) भक्तवत्सल, दीनपालक, नरश्रेष्ठ और बली राम ने रावण को मारा। (ग) गुलाब का फूल बड़ा ही सुन्दर और मनमोहक होता है।

११. क्रियाविशेषण या क्रियाविशेषण के रूप में व्यवहृत वाक्यांश बहुधा क्रिया के पहले आता है, जैसे—राम चुपचाप रास्ता नाप रहा है।

१२. जब पूर्वकालिक क्रिया और समापिका क्रिया का एक ही कर्त्ता हो तब पूर्वकालिक क्रिया बहुधा समापिका क्रिया के पहले आती है और जिस क्रिया के जो कर्म, करण आदि पद होते हैं वे उससे पहले आते हैं। जैसे—वह कुछ फल खाकर सिनेमा देखने के लिए चला गया।

१३. सर्वनाम पदों में विशेषण प्रायः पीछे ही आते हैं, जैसे—वह बड़ा चतुर है।

नोट—शब्द पर जोर देने के लिए उपर्युक्त नियमों में फेर-फार हो जाया करता है, जैसे—(क) क्रियाविशेषण कर्त्ता से भी पहले—एक एक कर वह सब आम खा गया। (ख) विशेषण का स्थानान्तर—राम बड़ा सुशील है। (ग) पूर्वकालिक क्रिया का स्थानान्तर—देख कर भी उसने बात टाल दी।

१४. प्रश्नवाचक सर्वनाम या अव्यय उस पद के पहले आता है जिस पद के विषय में प्रश्न किया जाता है, जैसे—यह किसकी टोपी है?

स्थानान्तर—(क) यदि पूरा वाक्य ही प्रश्न हो तो प्रश्न-वाचक सर्वनाम या अव्यय वाक्य में पहले हो आता है, जैसे—क्या आप कल कलकत्ते जानेवाले हैं? (ख) वाक्य में जोर देने के लिए प्रश्न-वाचक सर्वनाम या अव्यय मुख्य क्रिया और सहायक क्रिया के बीच

में भी आ सकता है, जैसे—पटने से आ कैसे सकेगा ? (ग) कभी-कभी वाक्य में प्रश्नवाचक सर्वनाम अथवा अव्यय नहीं होता, केवल प्रश्नवाचक का चिह्न ही अन्त में रहता है, जैसे—सचमुच वह पढ़ेगा ? (घ) प्रश्नवाचक अव्यय 'क्या' प्रायः वाक्य के आरम्भ में ही आता है। कभी-कभी बीच अथवा अन्त में भी आ जाता है, जैसे—क्या वह पुस्तक खो गयी ? वह पुस्तक खो गयी क्या ? वह पुस्तक क्या खो गयी ? (च) जब 'न' प्रश्नवाचक अव्यय के समान प्रयुक्त होता है तब वह वाक्य के अन्त में आता है जैसे—आप स्कूल जायँगे न ? मोहन कलकत्ते जायगा न ?

१५. तो, भी, ही, भर, तक और मात्र शब्द किसी वाक्य में जोर पैदा करने के लिए ही व्यवहृत होते हैं और उन्हीं शब्दों के पीछे आते हैं जिनपर जोर देना होता है। इनके स्थान-परिवर्तन से वाक्य के अर्थ में परिवर्तन हो जाता है; जैसे—मैं भी वहाँ जाने को तैयार हूँ। मैं वहाँ भी जाने को तैयार हूँ। मैं तो जरूर सिनेमा देखूँगा। मैं सिनेमा तो जरूर देखूँगा।

स्थानान्तर—उपर्युक्त शब्दों में 'मात्र' को छोड़कर शेष शब्द मुख्य क्रिया और सहायक क्रिया के बीच में आते हैं। 'भी' तथा 'तो' को छोड़कर शेष शब्द संज्ञा और विभक्ति के बीच में भी आ सकते हैं। 'ही' शब्द कर्तृवाचक कृदन्त तथा सामान्य-भविष्यत्-काल प्रत्यय के पहले भी आ सकता है, जैसे—अब तो वह कुछ खाता भी है। पटने से कलकत्ते की दूरी ३७५ मील है। मोहन ही ने तो ऐसी अफवाह उड़ायी थी। चाहे जो कुछ हो जाय, वह विलायत जायगा ही। अब उसे देखनेवाला ही कौन है ?

१४. सम्बन्धवाचक क्रिया विशेषण जहाँ, तहाँ, जब, तब, जैसे, तैसे आदि प्रायः वाक्य के आरम्भ में आते हैं, जैसे—जहाँ दिल चाहे तहाँ जाकर रहो। लोग 'तहाँ' के बदले 'वहीं' या 'वहाँ' और 'तब' के बदले 'तो' का भी व्यवहार करने लगे हैं जैसे—जहाँ राम पढ़ेगा वहीं (वहाँ)

में भी पढ़ूंगा। जब वह जायगा तो तुम भी जाना।

१७. निषेधवाचक अव्यय (न, नहीं, मत) प्रायः क्रिया के पहले आते हैं, जैसे—वह कभी न आवेगा। मैंने 'रङ्गभूमि' अब तक नहीं पढ़ी है। तुम मत जाओ।

स्थानान्तर—(क) 'नही'' और 'मत' क्रिया के पीछे भी आते हैं, जैसे—तुम वहाँ जाना मत। तुम तो वहाँ गये ही नहीं, वहाँ की बात क्या खाक जानोगे ! (ख) यदि क्रिया संयुक्त हो तो ये निषेधवाचक अव्यय मुख्य क्रिया और सहायक क्रिया के बीच में भी आते हैं, जैसे—मैं इस बात का समर्थन कर नहीं सकता। तुम शीघ्र चले मत जाना।

१७. समुच्चयबोधक अव्यय जिन शब्दों या वाक्यों को जोड़ते है उनके बीच में आते हैं, जैसे—राम और श्याम सहोदर भाई हैं। मैं काशी गया और वहाँ विश्वनाथ जी के दर्शन किये।

नोट—(क) यदि संयोजक समुच्चबोधक अव्यय कई शब्दों अथवा वाक्यों को जोड़ता हो तो वह अन्तिम शब्द या वाक्य के पूर्व आता है, जैसे—मैं फुलवारी गया, वहाँ जाकर सुगन्धित फूलों को चुना और उनकी एक सुन्दर माला बनायी। इस पौधे के पत्ते, पुष्प और फल सभी सुहावने हैं। (ख) संकेतवाचक समुच्चयबोधक यदि, तो यद्यपि, तथापि, प्रायः वाक्य के आरम्भ में ही आते हैं, जैसे—यदि तुम यह पुस्तक आद्योपान्त पढ़ जाओ तो बहुत से नये-नये शब्द जान जाओगे।

१८. वाक्य में जब कोई शब्द दो बार आता है तब 'वीप्सा' कहलाता है जो सम्पूर्णता, एक कालीनता, निकटता, केवलता आदि अर्थ का द्योतक है, जैसे:—

घर घर डोलत दीन ह्वै, जन जन जाँचत जाय।—बिहारी

अन्यत्र यह बताया जा चुका है कि वाक्य-रचना के समय पदों के क्रम और सम्बन्ध पर विशेष ध्यान दिया जाता है। पदों का क्रम जिस

मेल अथवा अन्वय ढग से बैठाया जाता है उसके सम्बन्ध में भी थोड़ा बहुत प्रकाश डाला जा चुका है। अब पदों के सम्बन्ध के विषय में, जिसे मेल कहते हैं, मोटी-मोटी बातें लिखी जाती हैं।

प्रायः देखा जाता है कि हिन्दी के वाक्यों में कर्त्ता या कर्म पद के साथ क्रिया-पद का, संज्ञा-पद के साथ सर्वनाम-पद का, सम्बन्ध के साथ सम्बन्धी-पद का और विशेष्य के साथ विशेषण का सम्बन्ध तथा मेल रहता है। कुछ और शब्द भी आपस में सम्बन्ध रखते हैं जिन्हें 'नित्य सम्बन्धी' कहते हैं।

कर्त्ता और क्रिया का अन्वय (१) यदि वाक्य में कर्त्ता का कोई चिह्न प्रकट न रहे तो उसकी क्रिया के लिंग, वचन और पुरुष कर्त्ता के लिंग, वचन और पुरुष के अनुसार होते हैं चाहे कर्म किसी भी रूप में क्यों न रहे, जैसे—मोहन टहलता है। स्त्रियाँ स्नान करती हैं (२) यदि वाक्य में एक ही लिंग, वचन और पुरुष के अनेक चिह्न-रहित कर्त्ता हों तो क्रिया उसी लिंग के बहुवचन में होगी, परन्तु यदि उनके समूह से एक वचन का बोध हो तो क्रिया भी एकवचन में होगी, जैसे—शकुंतला; प्रियम्वदा और अनसूया पुष्प-वाटिका में पौधों को सींच रही थीं। (३) यदि वाक्य में दोनों लिंगों और वचनों के अनेक चिह्न-रहित कर्त्ता हों तो क्रिया बहुवचन होगी और उसका लिंग अन्तिम कर्त्ता के अनुसार होगा, जैसे—एक गाय, दो घोड़े और एक बकरी मैदान में चर रही हैं। (४) यदि वाक्य में दोनो लिंगों के एकवचन के चिह्न-रहित अनेक कर्त्ता हों तो क्रिया प्रायः बहुवचन और पुल्लिंग होगी, जैसे—बाघ और बकरी एक घाट पानी पीते हैं। (५) यदि वाक्य में अन्तिम कर्त्ता एकवचन में आये तो क्रिया भी प्रायः बहुवचन में व्यवहृत होती है जैसे—ईसा की जीवनी में उनके हिसाब का खाता तथा डायरी नहीं मिलेगी। (६) यदि वाक्य में कई चिह्न-रहित कर्त्ता हों और उनके बीच में विभाजक

शब्द हो तो उनकी क्रिया के लिंग और वचन अन्तिम कर्त्ता के लिए, और वचन के अनुसार होंगे, जैसे—मेरी गाय अथवा उसके बैल तालाब में पानी पीते हैं। (७) यदि वाक्य में अनेक चिह्न-रहित कर्त्ता हों और उनकी क्रिया के बीच कोई समूहवाचक शब्द हो तो क्रिया के लिंग और वचन समूहवाचक शब्द के अनुकूल होंगे जैसे—युवक वृद्ध, स्त्री पुरुष, लड़का लड़की सब के सब आनन्द से उन्मत्त हो उठे। (८) यदि वाक्य में अनेक चिह्न-रहित कर्त्ता हों और उनसे एक वचन का बोध हो तो क्रिया एकवचन में और बहुवचन का बोध हो तो बहुवचन में होगी—चाहे कर्त्ताओं और क्रिया के बीच समूह-सूचक कोई शब्द रहे या न रहे। परन्तु यह याद रखना चाहिए कि यह नियम केवल अप्राणिवाचक कर्त्ता के लिए है; प्राणिवाचक के लिए नहीं जैसे—आज उसे चार रुपया तेरह आने तीन पैसे मिले। इस काम को करने में कुल दो महीना और एक बरस लगा। विद्यालय के लिए दो हजार रुपया दान-स्वरूप मिला इत्यादि। (९) जब अनेक संज्ञाएँ चिह्न-रहित कर्त्ता कारक में आकर किसी एक ही प्राणी व पदार्थ को सूचित करती हैं तब क्रिया एक वचन में आती है, जैसे—वह राजनीतिज्ञ और योद्धा सन् १८९८ ई० में मर गया। (१०) अनेक सर्वनाम कर्त्ताओं में पहले मध्यम पुरुष, उसके बाद अन्य पुरुष और अन्त में उत्तम पुरुष रहता है और क्रिया अन्तिम के अनुसार आती है, जैसे—तुम, वह और मैं जाऊँगा। (११) यदि वाक्य में चिह्न-रहित कर्त्ता तीनों पुरुष में आयें तो क्रिया के लिंग और वचन उत्तमपुरुष के लिंग वचन के अनुसार होंगे; यदि मध्यम पुरुष और उत्तमपुरुष अथवा अन्य पुरुष और उत्तमपुरुष में आयें तो भी उत्तमपुरुष के ही अनुसार होंगे और यदि केवल अन्य पुरुष और मध्यम पुरुष में आयें तो मध्यम पुरुष के अनुसार होंगे, जैसे—तुम, वह और मैं जाऊँगा। तुम और मैं जाऊँगा। वह और हम जायँगे। तुम और वह जाओगे। (१२) आदर का भाव प्रदर्शित करने के लिए चिह्न-रहित कर्त्ता अगर एक वचन भी

हो तो क्रिया उसकी बहुवचन में होगी, जैसे—वह चले गये। (१३) ईश्वर के लिए एकवचन की क्रिया का प्रयोग ही अच्छा मालूम पड़ता है, जैसे—मैं अपनी निर्दोषता कैसे सिद्ध करूँ—ईश्वर ही इसका साक्षी है। ईश्वर, तू है पिता हमारा! (१४) जहाँ-जहाँ वाक्य में क्रिया कर्त्ता के अनुसार होती है वहाँ-वहाँ मुख्य कर्त्ता के ही अनुसार होती है—विधेय रूप में आये हुए अप्रधान कर्त्ता के अनुसार नहीं, जैसे—'राम' सूखकर 'काँटा' हो गया। (१५) यदि वाक्य में एक ही कर्त्ता की दो अथवा अधिक समापिका क्रियाएँ भिन्न-भिन्न कालों में या कोई अकर्मक और कोई सकर्मक हों तो कर्त्ता का चिह्न केवल पहली क्रिया के अनुसार आता है, जैसे—हरि ने दोपहर का खाना खाया और सो रहा। (१६) किसी वाक्य में प्रयुक्त दो या दो से अधिक क्रियाओं के समान कर्त्ता को कई बार न लिखकर केवल एक बार लिखना चाहिए, जैसे—वह बराबर यहाँ आता है। (१७) कर्त्ता का चिह्न पूर्वकालिक क्रिया के अनुसार नहीं आता। किसी वाक्य में पूर्वकालिक क्रिया का वही कर्त्ता होगा जो समापिका क्रिया का होगा, जैसे—वह खाकर सो रहा। (१८) यदि एक अथवा अधिक चिह्न-रहित कर्त्ताओं का कोई समानाधिकरण शब्द हो तो क्रिया उसी के अनुसार होती है, जैसे—स्त्री और पुत्र कोई साथ नहीं जाता। (१९) यदि वाक्य में कर्त्ता का 'ने' चिह्न और कर्म का 'को' चिह्न प्रकट रहें तो क्रिया सदा एकवचन, पुल्लिङ्ग और अन्य पुरुष में होगी, जैसे—मोहन ने अपन बहिन को बुलाया। (२०) यदि वाक्य में कर्त्ता का 'ने' चिह्न प्रकट रहे और कर्म रहे पर उसका 'को' चिह्न प्रकट न रहे तो क्रिया के लिंग, वचन और पुरुष कर्म के लिंग, वचन और पुरुष के अनुसार होंगे, जैसे—सीता ने राम के गले में जयमाल डाल दी। (२१) यदि वाक्य में कर्त्ता का 'ने' चिह्न रहे और कर्म न रहे या लुप्तावस्था में रहे तो क्रिया सदा एकवचन, पुल्लिंग और अन्य पुरुष में आती है, जैसे—सीता ने कहा। (२२) क्रियार्थक संज्ञा की क्रिया भी

सदा एकवचन, पुल्लिंग और अन्य पुरुष में आती है, जैसे—उसका जाना सफल हुआ। (२३) वाक्य में कर्त्ता अथवा कर्म के, जिसके अनुसार क्रिया में लिंग, वचन आदि का प्रयोग किया जाता है, लिंग में सन्देह हो तो क्रिया पुल्लिंग में व्यवहृत होती है, जैसे—शास्त्रों में लिखा है। (२४) कुछ संज्ञाएँ केवल बहुवचन में प्रयुक्त हुआ करती हैं, जैसे—उसके होश उड़ गये। मुफ़्त में प्राण छूट गये। आँखों से आँसू निकल पड़े।

कर्म कारक और क्रिया के मेल के अधिकांश नियम कर्त्ता और क्रिया के मेल के सम्बन्ध में लिखे गये नियमों के ही समान हैं। संक्षेप में वे नियम यहाँ दिये जाते हैं। (१) कर्म के अनुसार होने वाली क्रियावाले वाक्य में यदि एक ही लिंग और वचन के अनेक प्राणिवाचक चिह्न-रहित कर्मकारक हों तो क्रिया उसी लिंग के बहुवचन में आती है, जैसे—उसने बकरी और गाय मोल लीं। (२) उपर्युक्त नियम के अनुसार आये हुए कर्मों में यदि पृथकता का बोध हो तो क्रिया एक वचन में आयेगी, जैसे—मोहन ने एक आम और एक संतरा भेजा। उसने एक गाय और एक बकरी मोल ली। (३) यदि वाक्य में एक ही लिंग और वचन के अनेक चिह्न-रहित अप्राणिवाचक कर्म हों तो क्रिया एकवचन में आती है जैसे—उसने सुई और कंघी खरीदी। (४) यदि वाक्य में भिन्न-भिन्न लिंग के अनेक चिह्न-रहित कर्म एकवचन में रहें तो क्रिया पुल्लिंग और बहुवचन में आती है, जैसे—मैंने बैल और गाय मोल लिये। (५) यदि वाक्य में भिन्न-भिन्न लिंगों और वचनों के एक से अधिक चिह्न-रहित कर्म रहें तो क्रिया के लिंग और वचन अन्तिम कर्म के अनुसार होंगे, जैसे—मैंने सुई, कंघी, दर्पण और पुस्तकें मोल लीं। नोट—अन्तिम कर्म प्रायः बहुवचन में आता है (६) यदि वाक्य में कई चिह्न-रहित कर्म हों और वे विभाजक अव्यय-द्वारा संयुक्त हों तो क्रिया

कर्म और क्रिया का अन्वय

अन्तिम कर्म के अनुसार होगी, जैसे—तुमने मेरी टोपी अथवा डंडा मार लिया है। (७) यदि वाक्य में अनेक चिह्न-रहित कर्म से किसी एक वस्तु का बोध हो तो क्रिया एकवचन में आयेगी, जैसे—मोहन ने एक अच्छा मित्र और बन्धु पाया है। (८) यदि वाक्य में व्यवहृत कई चिह्न-रहित कर्म का कोई समानाधिकरण शब्द रहे तो क्रिया समानाधिकरण शब्द के अनुसार होगी, जैसे—उसने धन, जन, कुल, परिवार आदि सब कुछ त्याग दिया। (९)चिह्न-रहित दो कर्मों से क्रिया मुख्य कर्म के अनुसार होती है, जैसे—मीर कासिम ने अपनी राजधानी मुँगेर बनायी।

वाक्य में संज्ञा और सर्वनाम का परस्पर सम्बन्ध जानना अत्यन्त आवश्यक है। यहाँ कुछ उपयोगी नियम दिये गये हैं। (१) सर्वनाम शब्दों के दोनों लिंग समान होते हैं और क्रियाविशेषण के लिंग अथवा प्रकरण से उनके लिंगों का निश्चय होता है। (२) वाक्य में किसी सर्वनाम के लिंग और वचन उसी संज्ञा के लिंग और वचन के अनुसार होते हैं जिसके बदले में वह आता है जैसे—स्त्रियाँ कहती हैं कि हम गंगा स्नान करने जायँगी। यदि वाक्य में कई संज्ञाओं के बदले एक ही सर्वनाम-पद हो तो उसके लिंग और वचन संज्ञापद-समूह के लिंग और वचन के अनुसार होंगे, जैसे—इस समय राम और श्याम खेल रहे हैं। (४) पुरुषवाचक, निश्चयवाचक और सम्बन्धवाचक सर्वनाम जिन संज्ञाओं के स्थान पर आते हैं उनके लिंग और वचन सर्वनामों में पाये जाते हैं; परन्तु संज्ञाओं का कारक सर्वनामों में होना आवश्यक नहीं है, जैसे पिता ने पुत्रियों से पूछा कि तुम किसके भाग्य से खाती हो? (५) यदि अप्रधान पुरुषवाचक सर्वनाम व्यापक अर्थ में उद्देश्य अथवा कर्म होकर आता है तो क्रिया बहुधा पुल्लिंग रहती है। कोई कुछ कहता है, कोई कुछ। सब अपना भला चाहते हैं (६) आदरसूचक आप शब्द वाक्य में उद्देश्य हो तो क्रिया अन्य पुरुष बहुवचन में

संज्ञा और सर्वनाम का अन्वय

आती है और परोक्ष विधि में आन्त रूप आता है, जैसे—आप क्या करते हैं ? आप आइएगा।

(१) विशेषण का सर्वथा वही लिंग रहता है जो उसके विशेष्य का होता है। आकारान्त पुल्लिंग विशेषणों का रूप स्त्रीलिंग में ईकारांत हो जाता है, जैसे—पीला कपड़ा, पीली पुस्तक। आकारांत विशेषणों के अतिरिक्त शेष विशेषण दोनों लिंगों में आते हैं (२) विशेषण का वचन वही होता है जो उसके विशेष्य का रहता है। आकारांत विशेषणों का रूप पुल्लिंग बहुवचन में एकारांत हो जाता है; परन्तु जो विशेषण स्त्रीलिंग में ईकारान्त हो जाते हैं वे एक वचन तथा बहुवचन में ईकारान्त हो जाते हैं, जैसे—पीला कपड़ा—पीले कपड़े। पीली पुस्तकें। (३) यदि अनेक विशेष्यों का एक ही विकारी विशेषण हो तो वह प्रथम विशेष्य के लिंग वचनानुसार बदलता है, जैसे—वह कौन-सा जप-तप, होम-यज्ञ और प्रायश्चित्त है ? (४) यदि एक विशेष्य के पूर्व अनेक विशेषण हों तो उन सभी विशेषणों में विशेष्य के अनुसार विकार होगा, जैसे—एक मोटी और अच्छी पुस्तक लाओ। (५) काल, दूरता, माप, धन, दिशा और रीतिवाचक संज्ञाओं के पहले जब संख्यावाचक विशेषण आता है और उन संज्ञाओं से समुदाय का बोध नहीं होता तब वे विकृत कारकों में भी बहुधा एक वचन में आते हैं, जैसे—दो दिन में, दो कोस का अन्तर, चार मन चीनी, दस हजार रुपए में, तीन ओर। पांच दिन में, पांच दिनों में, पांचों दिन में, पांचों दिनों में सूक्ष्म अन्तर है। पहले में साधारण गिनती है, दूसरे में अवधारण है और तीसरे तथा चौथे में समुदाय का अर्थ है। (६) विभक्ति रहित कर्म के पश्चात् आनेवाला आकारान्त विधेय विशेषण उस कर्म के साथ लिंग वचन में अन्वित होता है, जैसे—दरजी ने कपड़े ढीले बनाये। (७) चिह्न रहित कर्मकारक का विकारी विशेषण अगर विधेय के रूप में व्यवहृत हो तो उसके लिंग और वचन कर्म के अनुसार होंगे पर यदि

विशेषण और विशेष्य का मेल

कर्म का चिह्न प्रकट रहे तो विशेषण ज्यों का त्यों रह जाता है अर्थात् विकल्प से बदलता है, जैसे—उसने अपने सिर की टोपी सीधी की। उसने अपने सिर की टोपी को सीधा--सीधी—किया। (८) यदि क्रिया का साधारण रूप किसी संज्ञा के आगे विधेय विशेषण होकर आता है और उससे सम्प्रदान या क्रिया की पूर्ति का अर्थ प्रदर्शित होता है तो उसके लिंग और वचन उसी संज्ञा के अनुसार होंगे जिसके साथ वह आया है, परन्तु यदि उससे उस संज्ञा के सम्बन्धी का बोध हो तो उसका रूप ज्यों का त्यों रह जायगा, जैसे—रोटी खानी पड़ेगी। परीक्षा देनी होगी। व्यर्थ का कसम खाना छोड़ दो।

यहाँ पर 'रोटी खानी पड़ेगी' आदि वाक्यों में क्रिया सम्प्रदान या क्रिया की पूर्ति का अर्थ प्रदर्शित करता है, परन्तु 'कसम खाना' में क़सम सम्बन्धकारक के ऐसा व्यवहृत हुआ है जिसका सम्बन्धी 'खाना' है अर्थात् 'क़सम का खाना'। इसलिए पहले तीनों वाक्यों, विधेय-विशेषण क्रिया का रूप संज्ञा के रूप के अनुसार बदल गया है और अंतिम वाक्य में ज्यों का त्यों रह गया है।

सम्बन्ध और सम्बन्धी का मेल

(१) सम्बन्धकारक में आकारान्त विशेषण के समान विकार होता है। सम्बन्धकारक को भेदक और उसके सम्बन्धी शब्द को भेद्य कहते हैं। यदि भेद्य विकृत रूप में रहे तो भेदक में भी वैसा ही विकार होता है, जैसे—राजा के महल में। सिपाहियों के कपड़े। (२) सम्बन्ध के चिह्न में वही लिंग और वचन होंगे जो सम्बन्धी के होंगे, जैसे—राम की गाय, मोहन की लड़की, उसके घोड़े इत्यादि। (३) जिस प्रकार आकारान्त विशेषण में विशेष्य के अनुसार विकार उत्पन्न होता है उसी प्रकार सम्बन्धकारक के चिह्न में सम्बन्धी के अनुसार विकार उत्पन्न होता है, जैसे—काली गाय। राम की गाय। अच्छी लड़की। मोहन की लड़की। यदि एक ही सम्बन्ध के कई एक सम्बन्धी हों तो सम्बन्ध के चिह्न में पहले सम्बन्धी के अनुसार विकार उत्पन्न होगा जैसे—राम की गाय, घोड़े और बकरियाँ चरती हैं।

अध्याय १५

वाक्य-रचना का अभ्यास

हम अन्यत्र यह बता चुके हैं कि लेखक की लोकप्रियता उसके विचारों के स्पष्टीकरण पर अवलम्बित रहती है। जो लेखक जितने आकर्षक ढङ्ग से अपने विचारों दूसरों के हृदय में उतारता है वह उतना ही सफल समझा जाता है। इस प्रकार की सफलता उसकी वाक्य-रचना पर निर्भर रहती है। अतएव लेखन-कला में सफलता प्राप्त करने के लिए वाक्य-रचना का अभ्यास होना अत्यन्त आवश्यक है।

वाक्य रचना के अभ्यास के सम्बन्ध में मुख्य-मुख्य नियम पूर्व प्रकरण में बताये जा चुके हैं। उन पर ध्यान देने से साधारण वाक्य बनाने में कोई कठिनाई नहीं होती, परन्तु कहीं-कहीं प्रायः यह देखा जाता है कि अभिप्राय को स्पष्ट करने के लिए तथा वाक्य में सरलता लाने के लिए आवश्यकतानुसार उसे शिथिल अथवा संकुचित करना पड़ता है। ऐसी दशा में उद्देश्य, विधेय-पद, वाक्यांश, और खण्ड-वाक्य में परस्पर परिवर्तन करना आवश्यक हो जाता है।

यह बताया जा चुका है कि प्रत्येक साधारण वाक्य के दो अङ्ग होते हैं—उद्देश्य और विधेय। जिनके विषय में कुछ कहा जाय उसे उद्देश्य और उद्देश्य के विषय में जो कुछ कहा जाय उसे विधेय कहते हैं। वाक्य कितना ही छोटा अथवा बड़ा क्यों न उद्देश्य और विधेय हो ये दोनों भाग उसमें अवश्य रहते हैं। कभी-कभी वाक्य में कहीं उद्देश्य, कहीं विधेय और कहीं दोनों लुप्त रहते हैं। ऐसी दशा में प्रसंगानुसार उद्देश्य अथवा विधेय की पूर्ति अपनी ओर से करनी पड़ती है।

उद्देश्य का विस्तार विशेषण से होता है और जो शब्द उद्देश्य की विशेषता बतलाते हैं उन्हें उद्देश्य का विस्तार कहते हैं। उद्देश्य के नीचे-लिखे शब्द-भेद हो सकते हैं :—(१)

उद्देश्य का विस्तार

संज्ञा—मोहन जाता है। (२) सर्वनाम—मैं सोता हूँ। (३) विशेषण—विद्वान सुखी हैं। (४) क्रिया विशेषण—जिनका भीतर बाहर एक-सा हो। (५) वाक्यांश—प्रातःकाल टहलना अच्छा। (६) संज्ञावत् शब्द—पढ़कर पूर्वकालिक कृदन्त है।

उद्देश्य बहुधा कर्त्ताकारक में आता है। इसके विस्तार के नीचे लिखे शब्द-भेद हो सकते हैं:—(१) विशेषण—लाल गाय दूध देती है। (२) समानाधिकरण—मोहन के पिता रामदास घर में हैं। (३) सम्बन्ध—राम का नौकर आज नहीं आया। (४) वाक्यांश—बारह वर्ष की एक बालिका द्वारा लिखा जाना इस कविता की विशेषता है।

क्रिया पद की रचना के अनुसार विधेय दो प्रकार का होता है—सरल और जटिल। जब एक ही क्रियापद पूरा अर्थ प्रकाशित करता है तब उसे सरल अथवा साधारण विधेय कहते

विधेय का विस्तार

हैं। जैसे—मैं पुस्तक लिखता हूँ। साधारण विधेय में केवल एक समापिका क्रिया रहती है और वह किसी भी वाच्य, अर्थ, काल, पुरुष, लिंग, वचन और प्रयोग में आ सकती है। क्रिया शब्द में संयुक्त क्रिया का भी समावेश होता है। साधारणतः अकर्मक क्रियाएँ अपना अर्थ स्वयं प्रकट करती हैं, परन्तु कोई-कोई अकर्मक क्रियाएँ ऐसी भी होती हैं कि उनका अर्थ पूरा करने के लिए उनके साथ कोई शब्द लगाने की आवश्यकता होती है। ऐसी दशा में विधेय जटिल होता है, जैसे—नौकर पागल हो गया। इस वाक्य में पागल पद हो गया सहित जटिल विधेय है। ऐसी सकर्मक क्रियाओं की अर्थ-पूर्ति के लिए बहुधा संज्ञा, विशेषण अथवा क्रिया विशेषण आते हैं। विधेय के विस्तार में नीचे-लिखे शब्द-भेद हो

सकते हैं :—(१) कर्मपद—घोड़ा हरी-हरी घास खाता है। (२) करण पद—सिपाही चोर को रस्सी से बाँधता है। (३) अपादान पद—गंगा नदी हिमालय से निकलती है। (४) अधिकरण पद—वह घर में बैठा है। (५) क्रिया-विशेषण—वह बहुत धीरे-धीरे चलता है। (६) असमापिका का क्रिया-पद-वह कहते कहते रोने लगा। (७) पूर्वकालिक कृदन्त—मोहन खाना खाकर चला गया। स्वतंत्र वाक्यांश—तुम इतनी रात गये क्यों आये ? (९) तत्कालबोधक कृदन्त—मैं आज ही सो गया (१०) सम्बन्ध सूचकान्त—बन्दर धोती समेत भाग गया।

कर्म इत्यादि अन्यान्य कारकों में भी उद्देश्य के ही समान शब्द-भेद और विस्तार हो सकते हैं। इसी प्रकार विस्तार का प्रत्येक अंश आवश्यकतानुसार विशेषण अथवा क्रियाविशेषण इत्यादि शब्द की सहायता से बढ़ाया जा सकता है। अर्थ के विचार से विधेय-वर्द्धक के छः भेद होते हैं:—(१) कालवाचक—उसका उत्तर आने तक ठहरूँगा। (२) रीतिवाचक—धीरे-धीरे ज्ञान होता है (३) परिणाम वाचक—थोड़ा सोचना भी चाहिए। (४) करणवाचक—तुम्हारे आने से जान बच गयी। (५) कार्यवाचक—मेरे लिए ऐसा क्यों करते हो ? (६) स्थानावाचक—वह वहाँ से चला गया।

पूर्वोक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि साधारण वाक्य के अवयवों को निम्न क्रम में प्रदर्शित करना चाहिए :—

(१) सब प्रथम वाक्य का साधारण उद्देश्य लिखना चाहिए। (२) इसके पश्चात् यदि उद्देश्य के गुणवाचक शब्द हों तो उन्हें लिखना चाहिए। (३) अब साधारण विधेय पर विचार करना चाहिए। यदि विधेय में अपूर्ण क्रिया हो तो उसकी पूर्ति लिखनी चाहिए। (४) यदि विधेय में सकर्मक क्रिया हो तो उसका कर्म बताना चाहिए। इसी प्रकार यदि क्रिया द्विकर्मक अथवा सकर्मक हों तो क्रमशः उनका गौण कर्म अथवा पूर्ति भी लिखनी चाहिए। (५) विधेय-पूरक के गुण

वाचक शब्दों को विधेय-पूरक के साथ ही लिखना चाहिए और विधेय-वर्द्धक भी बताना चाहिए।

पद वाक्यांश और खण्डवाक्य का परस्पर परिवर्तन—पद वाक्यांश और खण्डवाक्य को आपस में परिवर्तन करना **समास,** कृदन्त, और तद्धितान्त पर अवलम्बित रहता है। इनका परस्पर परिवर्तन करते समय इस पर ध्यान रखना आवश्यक है कि अर्थ में किसी प्रकार की बाधा उपस्थित न हो। नीचे की पंक्तियों में इस प्रकार के कुछ परिवर्तनों की ओर सङ्केत किया गया है :—

(१) **पद का वाक्यांश में परिवर्तन** :—हम सामासिक पद, कृदन्त और तद्धितान्त पद को वाक्यांश में परिवर्तित कर सकते हैं, जैसे—**आपदमस्तक**—पैर से सिर तक। **लब्धप्रतिष्ठ**—प्रतिष्ठा प्राप्त किये हुए। **अधित्यका**—पहाड़ का ऊपरी भाग। **उपत्यका**—पहाड़ का निचला भाग। **पार्थिव**—पृथ्वी से बने हुए पदार्थ।

(२) **वाक्यांश का पद में परिवर्तन** :—हम वाक्यांश को सामासिक पद, कृदन्त और तद्धितान्त में परिवर्तन कर सकते हैं,—जैसे दर्शन-शास्त्र जाननेवाला—**दार्शनिक**। विष्णु के उपासक—**वैष्णव**। तर्क जाननेवाला—**तार्किक**। न बहुत ठंढा, न बहुत गरम—**समशीतोष्ण**। शक्ति के उपासक—**शाक्त**।

(३) **पद का खण्डवाक्य में परिवर्तन**—जैसे—**कृतज्ञ**—जो उपकारी का उपकार मानता है। **कृतघ्न**—जो उपकारी का उपकार नहीं मानता। **सर्वज्ञ**—जो सब कुछ जाननेवाला हो। **सर्वान्तर्यामी**—जो सब के अन्तःकरण की बात जाननेवाला हो।

(४) **खण्डवाक्य का पद में परिवर्तन**—जैसे—जिसने आशा को आश्रय दिया हो—**आशावादी**। धन का दुरुपयोग करता हो—**अपव्ययी**। धन को बहुत अधिक व्यय करनेवाला हो—**अमितव्ययी**। भूख से कुछ कम भोजन करनेवाला हो—**मिताहारी**।

(५) खण्डवाक्य का वाक्यांश में परिवर्तन—जैसे—जैसे ही मैं वहाँ जाताहूँ—मेरे वहाँ जाते ही । जब वह आ गया तब—उसके आने पर । जो शक्ति से बाहर है—शक्ति से परे ।

(६) वाक्यांश का खण्डवाक्य में परिवर्तन—जैसे—निन्दा का पात्र—जिसकी निन्दा सभी करते हैं । नीति का जाननेवाला—जो नीति को जानता है । जब जाड़ा समाप्त होगा तब—जाड़ा समाप्त होने पर ।

वाक्य-संकोचन विधि

अर्थ में बिना किसी प्रकार का भेद उत्पन्न किये हुए अनेक पदों से बने वाक्य के भाव को थोड़े ही पदों द्वारा व्यक्त करने की विधि को **वाक्य-संकोचन-विधि** कहते है । वाक्य-रचना करते समय यह बात सदा ध्यान में रखनी चाहिए कि वाक्य सरल हो, सुगमता से समझ में आजाय और व्यर्थ पद वाक्य में व्यवहृत न हों । वाक्य को गठीला और रोचक बनाने के लिए ही वाक्य-संकोचन की आवश्यकता पड़ती है । वाक्य-सङ्कोचन की मुख्य दो विधियाँ हैं ;—(१) वाक्य में व्यहृत कई समापिका क्रियाओं को असमापिका अथवा पूर्वकालिका क्रिया में बदलकर वाक्य संकुचित किया जा सकता है, जैसे—वाक्यः नौकर आया और फिर चला गया । संकुचित वाक्यः नौकर आकर लौट गया । (२) आनुषंगिक वाक्य, वाक्यांश अथवा पदों के स्थान पर एक सामासिक, प्रत्ययान्त अथवा, अल्प पद का प्रयोग करने से वाक्य संकुचित किया जाता है, जैसे—वाक्यः जिसे भूख लगी है उसे भोजन दो । संकुचित वाक्यः भूखे को भोजन दो । वाक्यः उसने दसों इन्द्रियों को वश में कर लिया है । संकुचित वाक्यः वह जितेन्द्रिय है ।

नोट—एक वाक्य मे दो अथवा दो से अधिक पूर्वकालिक क्रियाओं को एक साथ प्रयुक्त करने से वाक्य की मधुरता नष्ट हो जाती है । इसलिए वाक्य-संकोचन में इस बात पर विशेष रूप से ध्यान रखना चाहिए ।

अर्थ में बिना किसी प्रकार का भेद उत्पन्न किये हुए थोड़े-थोड़े पदों के वाक्य के भाव और भी स्पष्ट करने के लिए उन्हें अनेक पदों में प्रकाशित करने की विधि को **वाक्य सम्प्रसारण-विधि** कहते हैं। इस प्रकार वाक्य-संकोचन का उलटा वाक्य-सम्प्रसारण है। वास्तव में, वाक्य का भाव स्पष्ट करने के लिए ही वाक्य-सम्प्रसारण की आवश्यकता पड़ती है। वाक्य-सम्प्रसारण करते समय हमें वाक्य-सङ्कोचन के विपरीत नियमों पर ध्यान देना चाहिए। इस सम्बन्ध में हमें यह सदैव स्मरण रखना चाहिए कि वाक्य में अनावश्यक पद भाषा का सौन्दर्य बिगाड़ देते हैं। इसके साथ ही वाक्य में एक संज्ञा का बार-बार प्रयोग भी रचना कला की दृष्टि से अनुचित है। अतएव एक संज्ञा को छोड़कर शेष के लिए सर्वनामों का प्रयोग करना चाहिए। कुछ उदाहरण देखिए :—

वाक्य-सम्प्रसारण विधि

संकुचित वाक्यः चैतन्य वैष्णव थे। **प्रसारित वाक्य** चैतन्य विष्णु के उपासक थे। **संकुचित वाक्य**—मोहन ने परदेश से लौट कर अपने पुत्रों को शिक्षा दी। **प्रसारित वाक्यः** मोहन परदेश से लौट आया और फिर उसने अपने पुत्रों को शिक्षा दी।

दो अथवा दो से अधिक वाक्यों को मिलाकर एक वाक्य बनाने की विधि को **वाक्य-संयोजन-विधि** कहते हैं। वाक्य संयोजन करते समय पूर्वोक्त वाक्य-संकोचन विधि पर ध्यान देना आवश्यक है क्योंकि दोनों की विधियाँ प्रायः समान हैं। भेद केवल इतना ही है कि वाक्य-संकोचन में एक विस्तृत वाक्य को संकुचित करना पड़ता है और वाक्य-संयोजन में वाक्य-समूह को मिलाना पड़ता है।

वाक्यसंयोजन विधि

अर्थ में बिना किसी प्रकार की विभिन्नता उत्पन्न किये ही नीचे लिखी विधियों से कई वाक्य एक वाक्य में संयोजित हो जाते हैं :—

(१) समापिका क्रिया को असमापिका क्रिया में बदलने तथा उभयनिष्ठ पदों को एक ही बार प्रयुक्त करने से कई

वाक्य—मोहन कलकत्ते गया। मोहन चार दिन में कलकत्ते से लौट आया। संयोजित वाक्य—मोहन कलकत्ते से जाकर चार दिन में वहाँ लौट आया।

(२) अव्यय के प्रयोग से : कई वाक्य—राम ग़रीब है। राम सन्तोषी है। राम सुखी है। संयोजित वाक्य—यद्यपि राम ग़रीब है तथापि सन्तोषी होने से सुखी है।

(३) वाक्यों के शब्दों को आवश्यकतानुसार परिवर्तित करने से : कई वाक्य—रामायण हिन्दी साहित्य का एक महाकाव्य है। गोस्वामी तुलसीदास उसके रचयिता हैं। उन्होंने इस काव्य को लिखकर हिन्दी साहित्य में युगान्तर उपस्थित कर दिया है। संयोजित वाक्य—गोस्वामी तुलसीदास विरचित रामायण हिन्दी साहित्य में एक युगान्तरकारी महाकाव्य है।

अर्थ में बिना किसी प्रकार की विभिन्नता उत्पन्न किये हुए एक संयोजित वाक्य को कई सरल वाक्यों में विभाजित करने की विधि को

वाक्य-विभाजन विधि

वाक्य-विभाजन-विधि कहते हैं। वाक्य-संयोजन का उलटा वाक्य-विभाजन है, इसलिए वाक्य-संयोजन के विपरीत क्रम से वाक्य-विभाजन करते हैं। कुछ नमूने देखिए :—

(१) असमापिका क्रिया में बदलने तथा उभयनिष्ठ पदों का प्रयोग करने से : संयोजित वाक्य—श्याम ने पुस्तक पढ़कर उसकी आलोचना की। कई वाक्य—श्याम ने पुस्तक पढ़ी। श्याम ने उस पुस्तक की आलोचना की।

(२) अव्यय को हटाने से संयोजित वाक्य—ज्योंही वह खाना खाकर उठा त्योंही पानी बरसने लगा। कई वाक्य—उसने खाना खाया। वह उठा। तुरन्त पानी बरसने लगा।

(३) वाक्य के शब्दों को आवश्यकतानुसार परिवर्तित करने से: संयोजित वाक्य—पथिक की वीणा का मधुर शब्द सुनते ही

मृगा सुध-बुध खोकर चारों ओर उस स्वर-लहरी की खोज में दौड़ने लगा। कई वाक्य—मृगा ने बधिक की वीणा का मधुर शब्द सुना। मृगा ने सुध-बुध खो दी। मृगा चारों ओर उस स्वर-लहरी की खोज में दौड़ने लगा।

वाक्य-परिवर्तन

हम अन्यत्र बता चुके हैं कि स्वरूप की दृष्टि से वाक्य तीन प्रकार के होते हैं—सरल, मिश्रित और संयुक्त। **सरल वाक्य** में एक उद्देश्य और एक विधेय रहता है। जिस वाक्य में मुख्य उद्देश्य और मुख्य विधेय के अतिरिक्त एक अथवा कई समापिका क्रियाएँ रहती हैं उसे **मिश्रित वाक्य** कहते हैं। मिश्रित वाक्य के मुख्य उद्देश्य और मुख्य विधेय से जो वाक्य बनता है उसे **मुख्य वाक्य** कहते हैं और अन्य वाक्यों को **आश्रित उपवाक्य** कहते हैं। आश्रित उपवाक्य स्वयं सार्थक नहीं होते; परन्तु मुख्य वाक्य के साथ उनके अर्थ का स्पष्टीकरण होता है। यह तीन प्रकार के होते हैं:—संज्ञा उपवाक्य, विशेषण उपवाक्य और क्रियाविशेषण उपवाक्य। मुख्य उपवाक्य की किसी संज्ञा अथवा संज्ञा वाक्यांश के स्थान पर जो उपवाक्य आता है उसे **संज्ञा उपवाक्य** कहते हैं, जैसे—**मैंने** मोहन ने कहा कि मैं कल जाऊँगा। यह एक मिश्रित वाक्य है। इसमें मैंने मोहन से कहा मुख्य वाक्य है और मैं कल जाऊंगा मुख्य वाक्य का आश्रित उपवाक्य है। यह आश्रित उपवाक्य सकर्मक क्रिया 'कहा' कर्म होने के कारण संज्ञा उपवाक्य है। **विशेषण उपवाक्य** मुख्य उपवाक्य की किसी संज्ञा की विशेषता बताता है, जैसे—वह आदमी, जिसे तुमने कल देखा था, आज चला गया। इस मिश्रित वाक्य में **वह आदमी आज चला गया** मुख्य उपवाक्य और **जिसे तुमने कल देखा** था मुख्य उपवाक्य का आश्रित विशेषण उपवाक्य है। यह आदमी की विशेषता प्रकट करता है। **क्रिया विशेषण उपवाक्य** मुख्य उपवाक्य की क्रिया की विशेषता प्रकट करता है, जैसे—जब सबेरा हुआ तब हम लोग बाहर गये।

इस मिश्रित वाक्य में जब सवेरा हुआ क्रियाविशेषण उपवाक्य है। यह मुख्य उपवाक्य के सवेरे क्रियाविशेषण के स्थान पर आया है। मुख्य उपवाक्य—सवेरे हम लोग बाहर गये—होगा। इस प्रकार—जब सवेरा हुआ—गये क्रिया का क्रियाविशेषण उपवाक्य है। मिश्रित वाक्य के इस विवेचन से यह भलीभाँति स्पष्ट हो जाता है कि आश्रित उपवाक्यों के स्थान में, उनकी जाति के अनुरूप, उसी अर्थ की संज्ञा, विशेषण अथवा क्रियाविशेषण रखने से मिश्रित वाक्य साधारण वाक्य में परिवर्तित हो जाता है और इसके विरुद्ध साधारण वाक्यों की संज्ञा, विशेषण अथवा क्रियाविशेषण के बदले उनकी जाति के अनुरूप, उसी अर्थ के संज्ञा उपवाक्य, विशेषण उपवाक्य अथवा क्रियाविशेषण उपवाक्य रखने से साधारण वाक्य मिश्रित उपवाक्य हो जाता है। जिस प्रकार साधारण वाक्य में समानाधिकरण संज्ञाएँ, विशेषण अथवा क्रियाविशेषण आसकते हैं, उसी प्रकार मिश्रित वाक्य में दो अथवा अधिक समानाधिकरण आश्रित उपवाक्य भी आसकते हैं। इतना ही नहीं, मिश्रित वाक्य में जिस प्रकार प्रधान उपवाक्य के सम्बन्ध में भी आश्रित उपवाक्य आते हैं उसी प्रकार आश्रित उपवाक्य के सम्बन्ध में भी आश्रित उपवाक्य आसकते हैं। संयुक्त वाक्य मिश्रित वाक्य से भिन्न होता है। जिस वाक्य में साधारण अथवा मिश्रित वाक्यों का केवल मेल रहता है उसे संयुक्त वाक्य कहते हैं। संयुक्त वाक्यों के मुख्य वाक्यों को समानाधिकरण उपवाक्य कहते हैं, क्योंकि वे एक दूसरे के आश्रित नहीं रहते। संयुक्त वाक्यों के समानाधिकरण उपवाक्यों में चार प्रकार का सम्बन्ध पाया जाता है: संयोजक, विभाजक, विरोधदर्शक और परिणामदर्शक। यह सम्बन्ध बहुधा समानाधिकरण समुच्चयबोधक अव्ययों द्वारा सूचित होता है। नमूने देखिए:—

(१) संयोजक—मैं घर जाता हूँ, और तुम यहीं रहो। और, व तथा, एवं, भी आदि संयोजक अव्यय हैं।

(२) विभाजक—मेरा भाई यहाँ आगया था मैं ही वहाँ जाऊँगा। या, वा, अथवा, किंवा विभाजक अव्यय हैं।

(३) विरोधदर्शक—मैं वहाँ नहीं जा सकता, किन्तु तुम वहाँ जा सकते हो। पर, परन्तु, किन्तु, लेकिन, मगर, वरन्, बल्कि आदि विरोधदर्शक अव्यय हैं।

(४) परिणामदर्शक—मैं वहाँ नहीं जाना चाहता, इसलिए तुम्हीं चले जाओ। इसलिए, सो, अतः, अतएव इत्यादि परिणामदर्शक अव्यय हैं।

संयुक्तवाक्य में कभी-कभी समानाधिकरण उपवाक्य बिना ही समुच्चय-बोधक के जोड़ दिये जाते हैं, अथवा जोड़े से आनेवाले अव्ययों में से किसी का लोप हो जाता है।

वाक्यभेद के उपर्युक्त विवेचन से यह भलीभाँति स्पष्ट है कि सरल, मिश्रित और संयुक्त वाक्य एक दूसरे में परिवर्तित हो सकते हैं। ऐसे वाक्यों को परिवर्तित करने मे वाक्य-संयोजन और वाक्य-विभाजन की आवश्यकता पड़ती है। अतएव पूर्ववर्णित वाक्य-संयोजन तथा वाक्य-विभाजन के नियमों का सदा ध्यान रखना चाहिए।

सरल वाक्य में प्रयुक्त विधेय-पूरक, विधेय-विशेषण, विधेय के विस्तार तथा उद्देश्यवर्द्धक विशेषण के रूप में प्रयुक्त पद अथवा पदसमूह

सरलवाक्य से मिश्रवाक्य बनाना

को वाक्य के रूप में बदलकर जो-वह, यदि-तो, जब-तब, यद्यपि-तथापि आदि नित्यसम्बन्धी अव्ययों-द्वारा मिला देने से मिश्र वाक्य बन जाता है। पद-विन्यास के नियमानुसार कभी-कभी नित्य सम्बन्धी अव्यय लुप्त भी रहा करते हैं। (१) सरल वाक्य—सज्जन कटुवचन नहीं बोलते। मिश्र वाक्य—जो सज्जन हैं वे कटु वचन नहीं बोलते (२) सरल वाक्य—गरमी में मैं प्रतिदिन गंगा-स्नान करता हूँ। मिश्र वाक्य—जब गरमी आती है तब मैं प्रतिदिन गंगा-स्नान करता हूँ।

मिश्र वाक्य में आये हुए आनुषंगिक अथवा सहायक वाक्य को

मिश्रवाक्य से सरल वाक्य बनाना

वाक्यांश अथवा पद-समूह में परिवर्तित करने और अन्य योजक शब्दों को हटा देने से सरल वाक्य बन जाता है। ऐसा करते समय काल तथा अर्थ पर विशेष ध्यान देना चाहिए। (१) **मिश्र वाक्य**—जबतक मोहन बी० ए० पास न होगा तबतक उसका विवाह नहीं होगा। **सरल वाक्य**—मोहन का बिना बी० ए० पास किये विवाह नहीं होगा। (२) **मिश्र वाक्य**—जिसे दया नहीं वह पशु है। **सरल वाक्य**—दयाहीन मनुष्य पशु है।

सरल वाक्य से संयुक्त वाक्य बनाना

सरल वाक्य के किसी वाक्यांश को एक सरल वाक्य में अथवा असमापिका क्रिया को समापिका क्रिया में बदलकर और, किन्तु, परन्तु इसलिए आदि योजकों के प्रयोग से संयुक्त वाक्य बनाया जाता है। (१) **सरल वाक्य**—मैं खाना खाकर सो गया। **संयुक्त वाक्य**—मैंने खाना खाया और सो गया। (२) **सरल वाक्य**—दुर्बलता के कारण मैं आ न सका। **संयुक्तवाक्य**—मैं दुर्बल था, इसलिए आ न सका।

संयुक्त वाक्य से सरल वाक्य बनाना

संयुक्तवाक्य के किसी स्वतन्त्र वाक्य को वाक्यांश में अथवा किसी समापिका क्रिया को पूर्वकालिक क्रिया में परिवर्तित करने से सरल वाक्य बनता है (१) **संयुक्त वाक्य**—प्रातःकाल हुआ और चिड़िया चहचहाने लगीं। **सरलवाक्य**—प्रातःकाल होने पर चिड़िया चहचहाने लगीं। (२) **संयुक्त वाक्य**—वह बराबर खेलता रहा, इसलिए असफल रहा। **सरलवाक्य**—वह बराबर खेलने के कारण असफल रहा।

मिश्रवाक्य से संयुक्त वाक्य बनाना

मिश्र वाक्य के अङ्ग वाक्य को एक स्वतन्त्र वाक्य बना देने तथा उसके नित्य-सम्बन्धी दोनों शब्दों का लोप कर नहीं, तो, किन्तु, इसलिए, अन्यथा आदि संयोजक अथवा विभाजक अव्ययों का प्रयोग करने से संयुक्त वाक्य बनता है। (१) **मिश्र वाक्य**—यदि तुम सफल होना चाहते

हो तो परिश्रम करो। संयुक्त वाक्य—तुम सफल होना चाहते हो, इसलिए परिश्रम करो। (२) मिश्र वाक्य—मैं जो कहता हूँ उसे कर दिखाता हूँ। संयुक्त वाक्य—मैं कहता हूँ और कर दिखाता हूँ।

संयुक्त वाक्य से मिश्रितवाक्यबनाना

संयुक्त वाक्य के स्वतन्त्र वाक्यों में से एक वाक्य को मुख्य उपवाक्य मानकर शेष को आनुषङ्गिक वाक्य बना देने से मिश्र वाक्य बन जाता है। (१) संयुक्त वाक्य—वह अधिक शिक्षित नहीं है तथापि बड़े-बड़े के कान काटता है। मिश्रवाक्य—यद्यपि वह अधिक शिक्षित नहीं है तथापि बड़े-बड़ों के कान काटता है। (२) संयुक्त वाक्य—मैंने एक पुस्तक मोल ली और वह लाभप्रद सिद्ध हुई है। मिश्रवाक्य—मैंने जो पुस्तक मोल ली वह लाभप्रद सिद्ध हुई।

वाच्य परिवर्तन

किसी पूर्व प्रकरण में हम बता चुके हैं कि क्रिया में वाच्यकृत तीन भेद होते हैं—कर्तृवाच्य, कर्मवाच्य और भाववाच्य। कर्तृवाच्य क्रिया के वचन आदि कर्त्ता के अनुसार होते हैं। कर्मवाच्य क्रिया के वचन आदि कर्म के अनुसार होते हैं और भाववाच्यक्रिया सदा एकवचन, पुल्लिंग रहती है। वाच्य का भेद केवल भूतकालिक क्रिया में होता है। कर्तृवाच्य के कर्म में कोई चिह्न नहीं रहता, किन्तु भाववाच्य के कर्त्ता में ने चिह्न और कर्म में को चिह्न रहता है। सकर्मक धातु से बने हुए कर्तृवाच्य से कर्मवाच्य और अकर्मक धातु से बने हुए कर्तृवाच्य से भाववाच्य बनाये जाते हैं। फिर कर्मवाच्य और भाववाच्य का रूपान्तर कर सकते हैं।

कर्तृवाच्य से कर्म वाच्य में रूपान्तर

सकर्मक कर्तृवाच्य में कर्त्ता को करण के रूप में बदल कर क्रिया की मुख्य धातु को सामान्य भूत में बनाते हैं और उसके आगे जाना धातु के रूप को कर्म के लिंग, वचन और पुरुष के अनुसार उसी काल में जोड़ देते हैं। इस प्रकार कर्तृवाच्य से कर्मवाच्य बन जाता है। (१) कर्तृ

वाच्य—राम ने पुस्तक पढ़ी। कर्मवाच्य—राम से पुस्तक पढ़ी गयी (२) कर्तृवाच्य—मैंने चोर पकड़ा। कर्मवाच्य—चोर मुझसे पकड़ा गया।

कर्मवाच्य में करण-रूप में व्यवहृत कर्त्ता से चिह्नों को उड़ाकर कर्त्ता के अनुसार क्रिया को बदल देने से कर्तृवाच्य हो जाता है। (१) कर्मवाच्य—राम से पुस्तक दी जायगी। कर्तृवाच्य राम पुस्तक देगा। (२) कर्तृवाच्य—मुझसे पत्र लिखा गया। कर्तृवाच्य—मैंने पत्र लिखा।

कर्मवाच्य से कर्तृवाच्य में रूपान्तर

कर्तृवाच्य से भाववाच्य बनाने में कर्त्ता को करण कारक में रूपान्तर करके क्रिया की मुख्य धातु के सामान्य भूत के रूप के आगे जाना धातु, काल के अनुसार एकवचन-पुल्लिङ्ग में जोड़ दिया जाता है। केवल जाना धातु को सामान्य भूत में रूपान्तर न करके उसका जाया कर देते हैं। (१) कर्तृवाच्य—मैं सोता हूँ। भाववाच्य—मुझसे सोया जाता है। कर्तृवाच्य—मैं जाता हूँ। भाववाच्य—मुझसे जाया जाता है।

कर्तृवाच्य से भाववाच्य में रूपान्तर

भाववाच्य के करण रूप में प्रयुक्त कर्त्ता को स्वाभाविक रूप में लाकर कर्त्ता के अनुसार क्रिया को कर देने से कर्तृवाच्य हो जाता है। (१) भाववाच्य—मुझसे शान्त होकर नहीं बैठा जाता है। कर्तृवाच्य—मैं शान्त होकर नहीं बैठता। (२) भाववाच्य—मोहन से सोया गया। कर्तृवाच्य—मोहन सोया।

भाववाच्य से कर्तृवाच्य में रूपान्तर

जब किसी की कही हुई बात को किसी दूसरे से कहते हैं तब उसे या तो वक्ता की ही उक्ति में प्रकट करते हैं या अपनी उक्ति में प्रकट करते हैं। जब किसी वक्ता के शब्दों को बिना किसी हेर-फेर के प्रकट करते हैं तब उसे प्रत्यक्ष अथवा साक्षात् उक्ति कहते हैं और जब वक्ता के कथन को अपने शब्दों में व्यक्त करते हैं तब उसे परोक्ष अथवा व्यस्त उक्ति कहते हैं। प्रत्यक्ष

उक्ति-भेद

उक्ति के आदि और अन्त में दोहरे उलटे अल्प विराम("......") लगाते हैं परन्तु परोक्ष उक्ति के पहले कि अव्यय जोड़ते हैं। यह अंग्रेजी ढंग है। हिन्दी में परोक्ष उक्ति लिखने का कोई मुख्य नियम नहीं है।

(१) प्रत्यक्ष उक्ति—मोहन ने कहा—"पृथ्वी घूमती है।" परोक्ष उक्ति—मोहन ने कहा कि पृथ्वी घूमती है। (२) प्रत्यक्ष उक्ति—राम ने कहा—"मैं आऊँगा।" परोक्ष उक्ति—(१) राम ने कहा कि मैं आऊँगा। (२) राम ने अपने आने की बात कही।

जिस प्रकार एक ही शब्द के कई पर्यायवाची शब्द होते हैं उसी प्रकार एक वाक्य के अर्थ-बोधक भी कई वाक्य हो सकते हैं। ऐसे वाक्य एकार्थबोधक वाक्य कहलाते हैं। वाक्य-रचना के अभ्यास के लिए एक ही अर्थ का बोध करानेवाले अनेक रूप के वाक्यों को स्मरण रखना आवश्यक है। इससे रचना में मधुरता आती है और लेखक की पटुता और अभिज्ञता प्रकट होती है। एकार्थ-बोधक वाक्यों के कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं :—

एकार्थबोधक वाक्य

(१) उसका जन्म हुआ—उसने प्रकाश की प्रथम किरण देखी। उसका अवतार हुआ। उसका प्रादुर्भाव हुआ। वह अवतीर्ण हुआ।

(२) वह सोया—उसने विश्राम लिया। उसने निद्रा देवी की गोद में शरण ली। निद्रा देवी ने उसे अपना लिया। वह निद्रा देवी के वशीभूत हो गया।

(३) वह भाग गया—वह नौ दो ग्यारह हुआ। वह रफूचक्कर हो गया। वह चम्पत हो गया।

(४) वह मर गया—वह चल बसा। उसने आँखें बन्द कर लीं। उसने अन्तिम साँस लिया। उसने सदा के लिए महानिद्रा की गोद में विश्राम लेलिया। उसका स्वर्गवास हो गया। उसका देहान्त हो गया। उसका शरीरान्त हो गया। वह अमरपुरी को सिधारा। उसका जीवन-प्रदीप बुझ गया गया। उसकी मृत्यु हो गयी। वह काल-कवलित हुआ।

उसने अपनी मानव-लीला समाप्त की। उसने संसार से अन्तिम विदा ली। वह परलोक सिधारा। वह भव-बन्धन से मुक्त हो गया।

(५) संसार नश्वर है—संसार क्षण-भंगुर है। ध्वंस ही संसार का नियम है। संसार अस्थायी है। संसार नाशमान है।

ऊपर की पंक्तियों में वाक्य-रचना के अभ्यास के सम्बन्ध में जिन बातों की ओर सङ्केत किया गया है उनके अतिरिक्त निम्नलिखित नियमों पर भी ध्यान देना अत्यन्त आवश्यक है : [१] व्याकरण की स्पष्टता—वाक्य रचना करते समय इस बात का विशेष रूप से ध्यान रखना चाहिए कि व्याकरण की दृष्टि से वाक्य शुद्ध हो और पहली बार पढ़ते ही उसकी व्याकरण-सम्बन्धी रचना स्पष्ट हो जाय। इससे पाठकों को उसका अर्थ समझने में किसी प्रकार की कठिनाई नहीं होती। [२] वाक्य विस्तार—वाक्य-रचना करते समय उसके विस्तार पर ध्यान देना चाहिए। विषय और भाव के अनुकूल कभी लम्बे और कभी छोटे अर्थपूर्ण वाक्य रचना में जीवन डाल देते हैं और पाठकों को अपनी ओर आकर्षित कर लेते हैं। लम्बे वाक्यों में प्रायः व्याकरण की भूलें हो जाती हैं और पाठक का चित्त शब्दाडम्बर में ऐसा उलझ जाता है कि वह लेखक के आदेश को भूल-सा जाता है। (३) आश्रित उपवाक्यों का प्रयोग—मिश्र वाक्य बनाते समय इस बात का विशेष रूप से ध्यान रखना चाहिए कि उसमें जो आश्रित उपवाक्य जोड़े जायँ वह अजागलस्तन की तरह उसमें लटके न रहें वरन् दूध और पानी की भाँति मिलजुल कर एक हो जाँय एक मिश्र वाक्य में अधिक से अधिक दो अथवा तीन आश्रित वाक्यों का प्रयोग होना चाहिए और प्रधान वाक्य से उनका सम्बन्ध व्याकरण के नियमों पर दृष्टि रखकर और अर्थ पर विचार करके स्थापित करना चाहिए। (४) समानाधिकरण वाक्यों का प्रयोग-संयुक्त वाक्यों की रचना, विषय और प्रसङ्ग के

वाक्यरचना-सम्बन्धी आवश्यक बातें

अनुकूल होना चाहिए। उसमें समानाधिकरण वाक्यों का प्रयोग करते समय हमें यह अच्छी तरह स्मरण रखना चाहिए कि ऐसे वाक्यों यद्यपि स्वतंत्र होते हैं तथापि जहाँ उनका प्रयोग किया जाता है वहाँ वे प्रधान वाक्य के अर्थानुसार ही प्रयुक्त होते हैं। यदि एक संयुक्त वाक्य में दो अथवा दो से अधिक वाक्य एक दूसरे से स्वतंत्र रहें तो उनमें अर्थ-सङ्गति उत्पन्न होना असम्भव हो जाय। अतएव अर्थ की स्पष्टता पर विचार करके ही दो वाक्यों को मिलाकर संयुक्त वाक्य बनना चाहिए। (५) सन्तुलन—लम्बे वाक्यों की रचना करते समय इस बात पर विशेष रूप से ध्यान रखना चाहिये कि उनके अंग-अंग में अनुरूपता हो और प्रत्येक वाक्य उचित रूप से नपा तुला जान पड़े। एक अंग भारी और दूसरा हलका होने से वाक्य का साहित्यिक सौन्दर्य नष्ट हो जाता है (६) एकता—एक वाक्य में केवल एक ही विचार व्यक्त करना चाहिए। भिन्न-भिन्न विचारों को एक ही वाक्य में स्थान देने से अर्थ-सौंदर्य नष्ट हो जाता है। (७) क्रम—वाक्य रचना में पद-क्रम पर विशेष रूप से ध्यान देना चाहिए। इस सम्बन्ध में लेखक को व्याकरण के नियमों का पालन करना चाहिए। आवश्यकता पड़ने पर साहित्यिक दृष्टि से प -क्रम में थोड़ा परिवर्तन कर देने से वाक्य में लालित्य आ जाता है। [८] सङ्गति—विशेषण, व्याख्या अथवा परिणामसूचक वाक्य-खण्डों को प्रधान प्राक्य में समुचित संयोजक अव्ययों द्वारा मिलना चाहिए। इससे वाक्य में संगति बनी रहती है।

अध्याय १६

विराम-चिह्न-विचार

हिन्दी साहित्य को अंग्रेज़ी साहित्य से जो दान मिला है उसमें विराम-चिह्नों का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। विराम चिन्हों से भाषा-रचना में बड़ी सहायता मिलती है। लेखक को किसी भाषा में अपने भाव व्यक्त करते समय इस बात पर ध्यान देना पड़ता है कि उसकी अभिव्यक्ति शुद्ध हो। ऐसी दशा में उसे अपने भाव तथा विचारों को क्रम देना पड़ता है, अपने विषय को भिन्न-भिन्न भागों में विभाजित करना पड़ता है। इसलिए लिखते अथवा बोलते समय विशेष सङ्केतों से काम लेना पड़ता है। पाठक इन्हीं सङ्केतों की सहायता से ठहर-ठहर कर, कुछ विराम लेकर, लेखक के मनोभावों से परिचय प्राप्त करता है। अतएव इन चिन्हों को विराम-चिन्ह कहते हैं।

विराम चिह्नों की उपयोगिता

विराम-चिन्ह भाषा-रचना का विषय है। जिस प्रकार लेखक अथवा वक्ता अपने विचार स्पष्टरूप से प्रकटकरने के लिए अभ्यास एवं अध्ययन से शब्दों के अनेकार्थ, विचारों का सम्बन्ध तथा आशय की स्पष्टता से जानकारी प्राप्त कर लेता है उसी प्रकार लेखक को इन विराम-चिन्हों का उपयोग केवल भाषा के व्यवहार से ही ज्ञात होता है।

विराम-चिह्नों के मुख्य भेद—आज कल हिन्दी में निम्नलिखित विराम-चिन्हों का प्रयोग होता है:—(१) पूर्णविराम, (२) अल्पविराम, (३) अर्द्धविराम, (४) प्रश्नबोधक चिन्ह, (५) विस्मयादिबोधक चिन्ह, (६) अवतरण चिन्ह, (७) निर्देशक, (८) कोष्ठ, (९) विभाजन।

पूर्ण विराम को हिन्दी में पाई भी कहते हैं। इसका चिन्ह यह (।) है। इस चिन्ह का प्रयोग निम्नलिखित अवसरों पर होता है:—(१) प्रत्येक

पूर्ण विराम का प्रयोग

पूर्ण वाक्य के अन्त में, जैसे—यह पुस्तक अत्यन्त सुन्दर है। (२) बहुधा शीर्षक के अन्त में, जैसे—हिन्दी साहित्य का विकास। (१) पद्यों की अर्द्धाली के अन्त में, जैसे—सियाराम मय सब जग जानी। करहुँ प्रणाम जोर युग पानी॥ पूरे छन्द के अन्त में दो पाइयाँ लगायी जाती हैं।

अल्प विराम को अंग्रेज़ी में कामा कहते हैं। इसका चिन्ह, है। इसका प्रयोग निम्नलिखित अवसरों पर होता है :—(१) जब एक ही

अल्प-विराम का प्रयोग

शब्द-भेद के दो शब्दों के बीच में समुच्चयबोधक हो, जैसे—मैंने रोटी, भात और तरकारी खायी। (२) समानाधिकरण शब्दों के बीच में, जैसे—अयोध्या के राजा, राम, ने रावण पर चढ़ाई की। (३) जब कई शब्द जोड़े से आते हैं तब प्रत्येक जोड़े के पश्चात्, जैसे—संसार में दुःख और सुख, मरना और जीना, रोना और हँसना लगा ही रहता है। (४) समुच्चयबोधक शब्द से जुड़े हुए दो शब्दों पर विशेष अवधारण देने के समय, जैसे—यह कार्य आवश्यक, अतएव शीघ्र करने योग्य, है। (५) क्रियाविशेषण वाक्यांशों के साथ, जैसे—महात्मा गांधी ने, गम्भीर मनन के पश्चात्, अहिंसा का व्रत लिया है। (६) जब किसी वाक्य में कई वाक्यांश अथवा खण्डवाक्य एक ही रूप में प्रयुक्त हों तो अन्तिम पद को छोड़कर शेष के आगे, जैसे—पुस्तक पढ़ने से ज्ञान बढ़ता है, विचार पुष्ट होते हैं, बुरी सङ्गत से बचाव होता है और दुःख का समय कट जाता है। (७) जब छोटे समानाधिकरण प्रधान वाक्यों के बीच में कोई समुच्चयबोधक शब्द न हो तब उनके बीच में, जैसे—आकाश बादलों से घिर गया, बिजली चमकने लगी, ओले गिरने लगे। (८) हाँ, अस्तु, लो के पश्चात्, जैसे—हाँ, तुम यह काम कर सकते हो। (९) 'कि' के अभाव में जैसे—मैं जानता हूँ, तुम कल यहाँ नहीं थे। (१०) संज्ञावाचक के अतिरिक्त मिश्र वाक्य के शेष बड़े उपवाक्यों के बीच में, जैसे— मैं एक ऐसे पुरुष की खोज में

हूँ, जो मेरा काम कर सके।

जहाँ अल्प विराम की अपेक्षा कुछ अधिक काल तक ठहरने की आवश्यकता पड़ती है और जहाँ एक वाक्य का दूसरे वाक्य के साथ दूर का सम्बन्ध दिखाना होता है वहां अर्द्धविराम लगाया जाता है। इस चिह्न (;) को अंगरेजी में 'सेमीकोलन' कहते हैं। इसके लिए निम्नलिखित अवसर उपयुक्त होते हैं:—(१) जब संयुक्त वाक्यों के प्रधान वाक्यों में परस्पर विशेष सम्बन्ध नहीं रहता, जैसे—खनिज पदार्थों में लोहा मुख्य है; पर वहाँ सीसा और जस्ता भी मिलता है। (२) उन पूरे वाक्यों के बीच में जो विकल्प से अन्तिम समुच्चयबोधक-द्वारा जोड़े जाते हैं, जैसे—वे आये; मैंने उनका स्वागत किया; उनके ठहरने का प्रबन्ध किया और उन्हें सुलाकर ऊपर चला गया। (३) एक ही मुख्य वाक्य पर अवलम्बित रहने वाले वाक्यों के बीच में, जैसे—जबतक हम निर्धन हैं; अशक्त हैं; दूसरों के बल पर कूदने वाले हैं तब तक हमारा कल्याण नहीं हो सकता।

अर्द्धविराम-चिह्न का प्रयोग

प्रश्नसूचक वाक्य के अन्त में पूर्णविराम की जगह जो चिह्न प्रयोग किया जाता है उसे प्रश्नबोधक चिह्न कहते हैं। यह चिह्न इस प्रकार (?) का होता है। इसका प्रयोग नीचे-लिखे अवसरों पर होता है। (१) प्रश्न और आज्ञासूचक वाक्यों के अन्त में, जैसे—उस कारीगर का नाम बताओ, जिसने यह बनाया है? (२) वाक्यों में प्रश्नवाचक शब्दों का अर्थ सम्बन्ध-वाचक का सा होने पर, जैसे—तुम क्या चाहते हो, मैं नहीं जानता?

प्रश्नबोधक चिह्न का प्रयोग

विस्मय, हर्ष, विषाद, करुणा, आश्चर्य, भय आदि मनोवृत्तियों को प्रकट करने के लिए पद, वाक्यांश अथवा वाक्य के अन्त में जो चिह्न लगाया जाता है उसे विस्मयादिबोधक चिह्न कहते हैं। यह इस प्रकार (!) का होता है। इसके निम्नलिखित प्रयोग हैं।—(१) मनोविकारसूचक

विस्मयादिबोधक चिह्न का प्रयोग

शब्दों, पदों तथा वाक्यों के अन्त में, जैसे—वाह ! कल तो तुम खूब आये ! (२) तीव्र मनोविकारसूचक सम्बोधन पदों के अन्त में, जैसे—मेरे प्यारे कृष्ण ! अब तो कृपा करो। (३) मनोविकार-सूचक प्रश्नवाचक शब्द के अन्त में, जैसे—क्या यही आप की योग्यता है ! (४) बढ़ता हुआ मनोविकार सूचित करने में, जैसे—खूब ! बहुत खूब !!

अवतरण चिह्न का प्रयोग

जब किसी दूसरे के वाक्य अथवा युक्ति को ज्यों का त्यों उद्धृत करना पड़ता है तब अवतरण चिह्न का प्रयोग होता है। यह इस प्रकार (“ ”) का होता है। शब्दों पर प्रायः इस प्रकार (‘ ’) का चिह्न लगाते हैं, जैसे—(१) उसने कहा—“मैं इस समय व्यस्त हूँ।” (२) हिन्दी में ‘स्ट’ प्रयोग नहीं होता।

निर्देशक चिह्न का प्रयोग

निर्देशक चिह्न को अंग्रेजी में डैश कहते हैं। यह इस प्रकार (—) का होता है। इसका प्रयोग निम्नलिखित स्थानों में होता है:—(१) समानाधिकरण शब्दों, वाक्यांशों अथवा वाक्यों के बीच में, जैसे—आँगन में ज्योत्स्ना—चाँदनी—बिखरी हुई थी। (२) किसी विषय के साथ तत्सम्बन्धी अन्य बातों की सूचना देने में, जैसे—साहित्य के दो अंग हैं—एक पद्य, दूसरा गद्य। (३) किसी के वचनों को उद्धृत करते समय जैसे—शशिबाला—तुमने यह अच्छा काम नहीं किया। (४) लेख के नीचे लेखक या पुस्तक के नाम के पूर्व, जैसे—पराधीन सपनेहुँ सुखनाहीं। —तुलसी। (५) ऐसे शब्द अथवा उपवाक्य के पूर्व जिसपर अवधारण की आवश्यकता हो। जैसे—लेखक का नाम है—श्री रामनाथ ‘सुमन’।

जहाँ किसी विषय पर विशेष प्रकाश डालने के लिए व्याख्या करने की आवश्यकता पड़ती है वहाँ कोलन-डैश (:—) का प्रयोग होता है।

कोष्ठक चिह्न इस प्रकार ( ) अथवा [] का होता है। निम्नलिखित

स्थानों में इसका प्रयोग होता है :—(१) विषय-विभाग में क्रमसूचक अक्षरों अथवा अंकों के साथ, जैसे :—(क), (ख), (१), (२)। (२) समानार्थी शब्द अथवा वाक्यांश के साथ, जैसे—अफ्रिका के नीग्रो (हब्शी) बहुत काले होते हैं। (३) नाटकादि संवादमय लेखों में हाव भाव सूचित करने के लिए, जैसे—शशिप्रभा (प्रसन्न होकर) आज यहीं विश्राम करो, कल चले जाना। (४) भूल के संशोधन या सन्देह में, जैसे—मैं रात सोते समय पानी (दूध ?) पीता हूँ।

कोष्ठक चिह्न का प्रयोग

विभाजन-चिह्न

जहाँ दो अथवा दो से अधिक शब्दों को संयुक्त कर एक पद के रूप में लिखना हो वहाँ विभाजन (-) चिह्न प्रयोग करते हैं, जैसे—सब से मिलना-जुलना अच्छा होता है। इसे अँगरेजी में 'हाइफन' कहते हैं।

अन्य चिह्न—इन चिन्हों के अतिरिक्त कुछ चिह्न और हैं जिनका प्रयोग भाषा-रचना में होता है। इस प्रकार के चिह्न निम्नलिखित हैं:—

(१) रेखा—जिन शब्दों पर विशेष जोर देने की आवश्यकता होती उसके नीचे कभी-कभी रेखा लगा देते हैं यह यों———होती है।

(२) अपूर्णतासूचक चिह्न—किसी लेखमें से जब कोई अनावश्यक अंश छोड़ दिया जाता है तब + + + अथवा...लगाते हैं। जैसे—

++ +

पराधीन सपनेहु सुख नाहीं

जब वाक्य का कोई अंश छोड़ा जाता है तब यह चिह्न (...) लगाते हैं, जैसे—वह पुस्तक...हमें मिल गयी। उसने कहा, "मैं आज नहीं जाऊँगा; किन्तु···।"

(३) लिखते समय जब कोई शब्द भूल जाता है तब यह चिन्ह ‸ लगाया जाता है, जैसे—

पुस्तक
तुम्हारी ‸ अच्छी नहीं है।

(४) टीका-सूचक चिह्न—रचना में जिन शब्दों की अधिक* व्याख्या करनी हो उन पर यह चिह्न* लगाकर हाशिये पर व्याख्या कर दी जाती है।

अब तक हमने जिन चिह्नों के प्रयोग के सम्बन्ध में संक्षिप्त विवेचना की है उनके अतिरिक्त और भी चिह्न होते हैं। स्थानाभाव से हम उन्हें यहाँ नहीं दे रहे हैं। इन चिह्नों के प्रयोग में लेखक को बहुत सतर्क रहना चाहिए। सतत अभ्यास से इनका प्रयोग समझ में आता है। अच्छे लेखकों की रचना पढ़ते समय इनके विशेष अध्ययन से प्रयोग के अवसर भी मालूम होते रहते हैं। पहले इन चिह्नों का प्रयोग नहीं के बराबर था। अंगरेजी साहित्य के प्रचार से अब इनका प्रयोग हिन्दी के सभी लेखक अपनी रचनाओं में कर रहे हैं।

उपसंहार